“HINDI AUR MARATHI KE PRATINIDHI DALIT UPNYAASON KA TULNAATMAK ADHYAYAN”

Thesis Submitted in Partial Fulfillment of the Requirement for the Degree of
‘DOCTOR OF PHILOSOPHY’

In Hindi

June 2017

By

MADHNURE SHYAMSUNDER

11HHPH13

SUPERVISIOR

Dr. M. SHYAM RAO

DEPARTMENT OF HINDI
SCHOOL OF HUMANITIES
UNIVERSITY OF HYDERABAD
HYDERABAD
500046.

“हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन”

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी.(हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध)

2017

प्रस्तुतकर्ता
माधनुरे श्यामसुंदर
एम.ए. एम.फिल.
(11HHPH13)

विभागाध्यक्ष
प्रो.आर.एस.सर्राजु
हिंदी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद - 500046

निर्देशक
डॉ.एम. श्याम राव
हिंदी विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद - 500046

हिंदी विभाग
मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद - 500046

CERTIFICATE

This is to to certify that the thesis entitled **"HINDI AUR MARATHI KE PRATINIDHI DALIT UPNYASON KA TULNATMAK ADHYAYAN"** "**हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन"** submitted by **MADHNURE SHYAMSUNDER DIGAMBAR** bearing Regd. No. 11HHPH13 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in HINDI is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance which is a plagiarism free thesis.

As far as we know the thesis has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature supervisor

Head of Department

Dean of the school of Humanities

DECLARATION

I, MADHNURE SHYAMSUNDER DIGAMBAR hereby declare that the thesis entitled **"HINDI AUR MARATHI KE PRATINIDHI DALIT UPNYASON KA TULNATMAK ADHYAYAN"** "हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन" submitted by me under the guidance and supervision of Dr. M. SHYAMRAO is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in shodhganga/INFLIBNET.

Signature of supervisor

Dr. M. SHYAM RAO

Signature of the student

MADHNURE SHYAMSUNDER DIGAMBAR

Regd. No. 11HHPH13

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"HINDI AUR MARATHI KE PRATINIDHI DALIT UPNYASON KA TULNATMAK ADHYAYAN"** "हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन" Submitted by **MADHNURE SHYAMSUNDER DIGAMBAR** bearing Regd. No. 11HHPH13 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in HINDI is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

This thesis is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for award of any degree or diploma.

Parts of this thesis have been:

A. Published in the following publications:

1. 'Aarthik durbalata ke karan samanti vyavstha ka shikar hoti dalit striyan' (ISSN 2454-6283) Chapter-3
2. 'Sanskritik asmita aur dalit bastiyaan' (ISSN : 2250-3080) Chapter-4

B. Presented in the following conferences:

1. 'Dalit Sahitya: Bhasha ka Saval Aur Uski Pramanikta' 2-3 May 2013 (HCU)
2. 'Om prakash valmiki samajik parivartan ke lekhak' 25-26 March 2014 (HCU)

Further the student has passed the following courses towards fulfillment of coursework requirement for Ph.D. / was exempted from doing coursework

(recommended by Doctoral committee) on the basis of the following courses passed during his M.Phil. program and the M.Phil. degree was awarded.

Course Code	Name	Credits	Pass/Fail
1. HH600	Research Methodology	4	PASS
2. HH601	Sociology of Literature	4	PASS
3. HH602	Philosophy of history of Literature	4	PASS
4. HH603	Modern Thought	4	PASS

Supervisor Head of Department Dean of School

भूमिका

आज साहित्य का स्तर व्यापक हो रहा है। ग्रामों, कस्बों, गलियों, झुग्गी-झोपड़ियों की कहानी साहित्य का आधार बनी है। आज का जीवन साहित्य का प्रेरणा स्त्रोत है। समाज में होने वाले परिवर्तन से साहित्य प्रभावित होता है। विविधता, परिपूर्णता, यथार्थता आदि इसकी विशेषताएँ हैं। सजग साहित्यकार वही है, जो समकालीन जीवन का, आकांक्षाओं का चित्रण करता है। उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण विधा है। उपन्यास को मानव जीवन का महाकाव्य माना जाता है तथा उसे दर्पण भी कहा गया है। सभी भाषाओं में उपन्यास विवेचन, विश्लेषण, अनुसन्धान की विधा है। स्वातंत्र्योत्तरकालीन समाज में जीवन के हर पहलू का सशक्त अंकन करनेवाली विधा उपन्यास है। समकालीन भारतीय साहित्य का एक रूप दलित साहित्य भी है और दलित साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा उपन्यास है।

उत्तर भारत हो या महाराष्ट्र भारत के सभी गाँवों में सीमा के बाहर बसे, झोपड़ी में रहने वाले मानव समूह को दलित कहा जाता है। अज्ञानी, अंधविश्वासी, पीड़ित, शोषित, लाचार भौतिक सुविधा से दूर, हीन व्यवसाय करनेवाले, कीड़े-मकोड़ों की जिंदगी जीने वाले को दलित कहा गया। आज भी शिक्षा से दूर, अधनंगा, जमींदारों से शोषित दलित है। आज के समय में भी ग्रामीण दलित जीवन में अधिक परिवर्तन दिखाई नहीं देता। जिसके मूल में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक कारण लक्षित होते हैं। दलित समाज में परिवर्तन तब होगा जब सवर्णों तथा अवर्णों की मानसिकता में परिवर्तन आएगा।

मराठी और हिंदी दलित साहित्य के प्रेरणास्त्रोत खासकर मराठी दलित साहित्य के महात्मा फुले, छत्रपति शाहू महाराज और डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर हैं। मराठी दलित साहित्य सिर्फ परिवर्तन की पृष्ठभूमि या झांकी नहीं है, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तन है। मराठी दलित साहित्य अपने आप में एक अनोखी

उपलब्धि है। मराठी हो या हिंदी दलित साहित्य दलित समाज को अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक आदि की पहचान करानेवाला साहित्य है। अपने ऊपर होनेवाले अन्याय को अभिव्यक्त करनेवाला साहित्य है। दलितों के प्रति दया सहानुभूति ही नहीं बल्कि न्याय की मांग करनेवाला साहित्य है। दलित साहित्य इंसानियत के लिए संघर्षरत मानव तथा जन भाषा का साहित्य है। यह शोषण, दुःख एवं वेदना से बना साहित्य है। इसका उदय सामाजिक चेतना से हुआ है। मनोरंजन, कला प्रदर्शन इसका उद्देश्य नहीं है।

आज के समय में दलित विमर्श संगोष्ठियों, पत्र-पत्रिकाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों का महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया है। यह विमर्श आज के समय में तो बिल्कुल हाशिए पर नहीं है। तथा इस समय गैर-दलितों के बीच भी केन्द्रीय विमर्श बन चुका है। ऐसे में अपने परिश्रम की सार्थकता महसूस करते हुए मुझे दलित साहित्य पर शोध करने का मन हुआ।

इससे पहले हिंदी साहित्य का तात्पर्य सिर्फ सूर, तुलसी, कबीर, जायसी, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी आदि की रचनाओं से ही था। जिन्हें हम स्कूल और कॉलेज के पाठ्यक्रम में पढ़ते आ रहे थे। लेकिन जब मैं हैदराबाद विश्विद्यालय में पढने आया तब उभरते दलित साहित्य से मेरा परिचय हुआ, तब से मुझे लगा कि इस साहित्य में चित्रित पात्र मेरे सामाजिक परिवेश के ही थे। इस साहित्य की रचनाएँ पढ़ते ही आँखों के सामने मेरे गाँव, परिवार और आसपास के वातावरण का बिम्ब उभरने लगा, मैं सोचने लगा कि सामाजिक, जातिगत, शैक्षणिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से पिछड़े हुए लोग आजाद देश में वर्ण व्यवस्था की मार क्यों झेल रहे हैं? साधन विहीन लोगों को इस व्यवस्था ने और भी मजबूर कर दिया है। इन्हीं सामाजिक स्थितियों की रचनात्मक अभिव्यक्ति मुझे अध्ययन के दौरान मिली, तब मैंने सोचा कि इस पर मुझे शोध कार्य करना है। जब मेरा दाखिला 2011 में इसी विश्वविद्यालय में हुआ तो मेरी प्रथम इच्छा यह थी कि मैं दलित साहित्य की किसी

एक विधा पर अपना शोध कार्य करूँ। अंततः मेरी इच्छा को परामर्श समिति ने स्वीकार किया फिर हिंदी और मराठी के दलित उपन्यासों पर तुलनात्मक अध्ययन करने की अनुमति प्रदान की। किसी कार्य की सफलता के लिए अनेक कठिनाइयों से गुजरना पड़ता है। कुछ अवरोध उत्पन्न करनेवाले होते हैं तो कुछ प्रेरणादायी भी होते हैं। प्रेरणादायी इसलिए कि हैदराबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के सभी अध्यापकों को भी इसका श्रेय जाता है, क्योंकि उन्होंने मेरे विषय के समर्थन में खुलकर टिप्पणियाँ की थी। मुझे कई बार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से परामर्श भी दिये थे। विषय को स्वीकार करना उनके अधिकार क्षेत्र में था। उन्होंने मेरे विषय को स्वीकृति दी उनका मैं तहे दिल से धन्यवाद करता हूँ।

जब मैंने पी.एच.डी. की रूपरेखा परामर्श समिति के सामने रखी तो विभाग के सभी अध्यापकों ने उचित मार्गदर्शन किया और स्वीकृति दी। प्रस्तुत शोध प्रबंध को अध्ययन की सुविधा के लिए मैंने इसे पांच अध्यायों में बांटा है।

प्रथम अध्याय में मैंने 'हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों का कथ्य परक विवेचन' किया है। जिसमें चुने हुए हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यास हैं। साथ ही इस अध्याय में दोनों भाषाओं के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों के कथ्य की तुलना भी की गई हैं।

द्वितीय अध्याय में 'हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में प्रतिरोध का स्वर' एक तुलना करने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय का प्रथम बिंदु सामाजिक प्रतिरोध का स्वर में- सामाजिक अस्मिता, प्रतिरोध के प्रेरणा स्रोत, शिक्षा का महत्त्व और प्रतिरोध का स्वर, कानूनी तौर पर जाति व्यवस्था समाप्त पर समाज में आज भी जीवित, सामाजिक गुलामी से बाहर निकलने के लिए बेचैन स्त्रियाँ, प्रेम विवाह और अंतर जातीय विवाह : सामाजिक मान्यता। इसी अध्याय का दूसरा बिंदु- सत्ता एवं राजनीति से प्रतिरोध का स्वर में- सत्ता से सामना और राजनीतिक सोच, दलित राजनीति को अपना नजरिया बदलना होगा, आज के

राजनीतिक दौर में सामाजिक प्रश्न और मीडिया में दलितों की भूमिका आदि बिन्दुओं को तुलनात्मक विश्लेषण के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में 'हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में आर्थिक संघर्ष' की तुलना की गई हैं जिसमें- भारतीय समाज में दलित जीवन का वास्तविक चित्रण: आर्थिक दुर्बलता, आर्थिक दुर्बलता के कारण सामन्ती व्यवस्था का शिकार होती दलित स्त्रियाँ, दलितों में बाल मजदूरी की समस्या, वेश्यावृत्ति भी एक आर्थिक समस्या, सुनहरे भविष्य के मुरझाते सपने और उगता विद्रोह आदि पर तुलनात्मक चर्चा की गई है।

चतुर्थ अध्याय में 'हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में सांस्कृतिक एवं धार्मिक अस्मिता की पहचान' का तुलनात्मक विवेचन हुआ है इसमें- सांस्कृतिक अस्मिता और दलित बस्तियाँ, सांस्कृतिक अस्मिता एवं सशक्ति के सामाजिक संघर्ष में नये पड़ाव, मंदिर निर्माण की सार्थकता यानी वंचितों की बर्बादी, धर्म पोषित गुलामी में उलझे लोग समाधान की तलाश में आदि बिन्दुओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा गया है।

पंचम अध्याय में **'**हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में अभिव्यक्ति के विविध स्वर' इस अध्याय में उपन्यासों की भाषा पर विचार किया गया है। इसको विस्तार से इस अध्याय में देखा जा सकता है। यथा- भाषिक सैद्धान्तिकी, दलित साहित्य : विचार और भाषा, दलित साहित्य की भाषिक सैद्धान्तिकी, शिल्पगत प्रयोग- आत्मकथात्मक शैली, वर्णनात्मक शैली, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, दलित साहित्य में बिम्ब, प्रतीक और मिथक को भी दलित साहित्य के उपन्यासों के परिप्रेक्ष्य में दिखाया गया है।

अतः अंत में इतना ही कहना चाहूँगा कि उपन्यासों के विवेचन विश्लेषण का यह मेरा पहला प्रयास है। प्रस्तुत शोध प्रबंध को आरंभ से लेकर प्रस्तुतीकरण तक मुझे

आदरणीय निर्देशक डॉ. श्याम राव का मार्गदर्शन मिलता रहा। मैं उनके प्रति तथा विभाग के सभी गुरु जनों के प्रति ह्रदय से आभार व्यक्त करता हूँ। इस कार्य को सफल बनाने के लिए सबसे जरूरी था माता-पिता का आशीर्वाद, उनके आशीर्वाद के बिना यह शोध कार्य करना संभव ही नहीं था। उनकी प्रेरणा और आशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहेगा। मैं उनके प्रति ऋणी हूँ। साथ ही मेरे परिवार के सदस्यों का योगदान कम नहीं विशेषकर मेरी पत्नी तक्षशीला, बेटी अवनी, बहन प्रत्यूषा, वर्षा, धम्मशीला, भाई अनिल, दिलीप, कार्तिक, अजय, सचिन की सहायता काम आयी। अपने चाचा-चाची का भी आभार व्यक्त करता हूँ। मित्रों में मेरे विश्वविद्यालय, महाविद्यालय और गाँव के मित्रों की सहायता मिली खासकर बाबुराव, विलास, राहुल, गंगाधर, साईनाथ, प्रकाश चिलवंत, योगेश उमाले, लक्ष्मण, बसवेश्वर, राजेश, साहेबराव, श्यामराव, राम, आशीष आदि का तहे दिल से आभार व्यक्त करता हूँ।

दिनांक :-

स्थान : हैदराबाद **माधनुरे श्यामसुंदर**

अनुक्रमणिका

“हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन”

अनुक्रम **पृ.सं.**

भूमिका

प्रथम अध्याय 01-106

1. हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यास : कथ्य परक विवेचन

1.1 हिंदी उपन्यास : कथ्य परक विवेचन

1.1.1 करुणा - जयप्रकाश कर्दम

1.1.2 छप्पर - जयप्रकाश कर्दम

1.1.3 मिट्टी की सौगंध - प्रेम कपाडिया

1.1.4 जस तस भय सवेर - सत्य प्रकाश

1.1.5 मुक्ति पर्व - मोहनदास नैमिशराय

1.1.6 आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय

1.1.7 मिस रमिया - कावेरी

1.1.8 थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव

1.1.9 उधर के लोग - अजय नावरिया

1.1.10 सुबह के लिए - कैलास चंद चौहान

1.2 मराठी उपन्यास : कथ्य परक विवेचन

1.2.1 फकीरा - अन्नाभाऊ साठे

1.2.2 हकीकत और जटायु - केशव मेश्राम

1.2.3 हाडकी हाडवला - नामदेव ढसाल

1.2.4 झिपय्या - अरुण साधू

1.2.5 नरवानर - शरणकुमार लिम्बाले

1.2.6 दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड

1.2.7 हिन्दू - शरणकुमार लिम्बाले

1.3 हिंदी और मराठी दलित उपन्यासों के कथ्य की तुलना

द्वितीय अध्याय 107-156

2. हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में प्रतिरोध का स्वर : एक तुलना

2.1 सामाजिक प्रतिरोध का स्वर

2.1.1 सामाजिक अस्मिता

2.1.2 प्रतिरोध के प्रेरणा स्रोत

2.1.3 शिक्षा का महत्त्व और प्रतिरोध का स्वर

2.1.4 कानूनी तौर पर जाति व्यवस्था समाप्त पर समाज में आज भी जीवित

2.1.5 सामाजिक गुलामी से बाहर निकलने के लिए बेचैन स्त्रियाँ

2.1.6 प्रेम विवाह और अंतर जातीय विवाह : सामाजिक मान्यता

2.2 सत्ता एवं राजनीति से प्रतिरोध का स्वर

2.2.1 सत्ता से सामना और राजनीतिक सोच

2.2.2 दलित राजनीति को अपना नजरिया बदलना होगा

2.2.3 आज के राजनीतिक दौर में सामाजिक प्रश्न और मीडिया में दलितों की भूमिका

तृतीय अध्याय 157-197

3. हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में आर्थिक संघर्ष की तुलना

3.1 भारतीय समाज में दलित जीवन का वास्तविक चित्रण : आर्थिक दुर्बलता

3.2 आर्थिक दुर्बलता के कारण सामन्ती व्यवस्था का शिकार होती दलित स्त्रियाँ

3.3 दलितों में बाल मजदूरी की समस्या

3.4 वेश्यावृत्ति : एक आर्थिक समस्या

3.5 सुनहरे भविष्य के मुरझाते सपने और उगता विद्रोह

चतुर्थ अध्याय 198-236

4. हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में सांस्कृतिक एवं धार्मिक अस्मिता की पहचान का तुलनात्मक विवेचन

4.1 सांस्कृतिक अस्मिता और दलित बस्तियाँ

4.2 सांस्कृतिक अस्मिता एवं सशक्ति के सामाजिक संघर्ष में नए पड़ाव

4.3 मंदिर निर्माण की सार्थकता यानी वंचितों की बर्बादी

4.4 धर्म-पोषित गुलामी में उलझे लोग और समाधान की तलाश

पंचम अध्याय 237-263

5. हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में अभिव्यक्ति के विविध स्वर

5.1 दलित साहित्य : विचार और भाषा

5.2 भाषिक सैद्धान्तिकी

5.3 दलित साहित्य की भाषिक सैद्धान्तिकी

5.4 शिल्पगत प्रयोग

5.4.1 आत्मकथात्मक शैली

5.4.2 वर्णनात्मक शैली

5.4.3 मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

5.4.4 दलित साहित्य में बिम्ब, प्रतीक और मिथक

उपसंहार 264-273

सन्दर्भ ग्रंथ सूची 275-279

आधार ग्रंथ

सहायक ग्रंथ

पत्र-पत्रिकाएँ

परिशिष्ट

- प्रकाशित शोध-आलेख - 1
- प्रकाशित शोध-आलेख - 2
- राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमाण पत्र - 1
- राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमाण पत्र - 2

प्रथम अध्याय

1.हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यास : कथ्य परक विवेचन

1.1 हिंदी उपन्यास : कथ्य परक विवेचन

1.1.1 करुणा - जयप्रकाश कर्दम

1.1.2 छप्पर - जयप्रकाश कर्दम

1.1.3 मिट्टी की सौगंध - प्रेम कपाडिया

1.1.4 जस तस भय सवेर - सत्य प्रकाश

1.1.5 मुक्ति पर्व - मोहनदास नैमिशराय

1.1.6 आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय

1.1.7 मिस रमिया - कावेरी

1.1.8 थमेंगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव

1.1.9 उधर के लोग - अजय नावरिया

1.1.10 सुबह के लिए - कैलास चंद चौहान

1.2 मराठी उपन्यास : कथ्य परक विवेचन

1.2.1 फकीरा - अन्नाभाऊ साठे

1.2.2 हकीकत और जटायु - केशव मेंश्राम

1.2.3 हाडकी हाडवला - नामदेव ढसाल

1.2.4 झिपप्या - अरुण साधू

1.2.5 नरवानर - शरणकुमार लिम्बाले

1.2.6 दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड

1.2.7 हिन्दू - शरणकुमार लिम्बाले

1.3 हिंदी और मराठी प्रतिनिधि दलित उपन्यासों के कथ्य की तुलना

1. हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यास : कथ्य परक विवेचन

1. 1 हिंदी उपन्यास : कथ्य परक विवेचन

दलित साहित्य में दलित उपन्यासों का अपना महत्त्व है जो कि उपन्यास जीवन के समग्र रूप को प्रस्तुत करता है। लेखक को समक्ष जीवन के सभी पहलुओं पर विचार करने की सुविधा होती है जिससे सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक और राजनैतिक संदर्भों से जुड़े जीवन का चित्रण करने में मदत मिलती है। दलित उपन्यास दलित आत्मकथाओं की तरह पूरे समाज पर केन्द्रित है। समाज की परिस्थितियों, परम्पराओं, नीतियों और अन्याय के विरुद्ध एक अलग अवधारणा के उद्देश्य से दलित उपन्यास लिखे गए। विषमतावादी समाजव्यवस्था के लिए संघर्षरत मनोभावना और मनोकामना को चित्रित करने का काम दलित उपन्यासकारों ने किया है।

शिक्षा से वंचित दलित समाज के युवक समानता का संवैधानिक अधिकार पाकर अब शिक्षा पाने लगे। गाँव से शहर जाकर अब अच्छे पदों पर नौकरियाँ करने लगे। वे समानता, स्वतंत्रता, सम्मान आदि आधिकारों को समझने लगे मगर हर जगह उन्हें संताप-ही-संताप मिला यही संताप दलित उपन्यासों का आधार है।

मैंने अपने शोध कार्य के लिए हिंदी के जिन प्रतिनिधि दलित उपन्यासों को चुना है जिसमें 'करुणा', 'छप्पर', 'मिट्टी की सौगंध', 'जस तस भय सवेर', 'मुक्ति पर्व', 'आज बाजार बंद है', 'मिस रमिया', 'थमेंगा नहीं विद्रोह', 'उधर के लोग', 'सुबह के लिए', का समावेश है। इन सभी उपन्यासों का कथ्य परक विवेचन निम्नता से किया गया है।

दलित उपन्यासों का विश्लेषण करते समय यह देखना आवश्यक होगा कि आलोच्य कृति कितनी समकालीन है, उसमें युग सापेक्षता की कितनी सार्थकता है। बदलते समय से जुड़ी जीवन की मांग और संभावना को उस कृति में कितना स्थान दिया है। किसी उपन्यास का सफल मूल्यांकन सम-सामायिक दृष्टि से बौद्धिक

विश्लेषण के साथ होगा तभी उसके महत्त्व और उपयोगिता को परखा जा सकेगा। इसी दृष्टि से विश्लेषण किया जाये तो दलित साहित्य कला की दृष्टि से नहीं बल्कि जीवन की दृष्टि से लिखा गया हैं। वह परम्परावादी नहीं बल्कि पुरानी अन्याय पूर्ण बात को तोड़ने की बात करता हैं।

अपने समय से जुड़ी दलित रचनाएँ अपने देश और काल की यथार्थ स्थिति को उजागर करती है। वे शांति के साथ-साथ क्रान्ति का भी सन्देश देती है, वे सौन्दर्यवादी नहीं बल्कि यथार्थवादी होती है। वे सौन्दर्य और प्रेम के कोमल भाव भंगिमाओं का चित्रण नहीं करती बल्कि दलितों के कठोर जीवन को उजागर करती है। इन उपन्यासों में दलितों के स्वतन्त्रता के भाव का चित्रण है जिसका आधार समता, सम्मान और भाईचारा है।

1.1.1 करुणा - जयप्रकाश कर्दम

करुणा अत्यंत लघु उपन्यास है जो बौद्ध धर्म की शिक्षा को केंद्र में रखकर लिखा गया है। यह उपन्यास सन् 1986 में प्रकाशित हुआ है। जयप्रकाश कर्दम ने उपन्यास की नायिका करुणा के मुख से बुद्ध के सिद्धांतों को रमेंश के लिए दिलाकर उपन्यास का लक्ष उद्घाटित किया है- “भगवान बुद्ध की शिक्षाओं में न्याय के प्रति आग्रह है। समता, मैत्री और भाईचारा ही उनकी शिक्षाओं का मूल है। इसी से ही समाज और राष्ट्र समून्नत और सुविकसित हो सकते हैं।”[1] करुणा और रमेंश दोनों एक दूसरे को प्यार करते हैं। जब करुणा को रमेंश के द्वारा बेरोजगारी दूर करने हेतु नसबंदी कराकर स्कूल टीचर होने की बात ज्ञात होती है तो वह दुखी हो जाती है। मगर यह सोचकर कि उसके बच्चे भले ही न होंगे किन्तु रमेंश के भाई-बहन को अपने बच्चों की तरह रखेगी। लेकिन रमेंश का कटी प्रदेश क्षतिग्रस्त हो जाता है तब वह उदास हो जाती है और वह बौद्ध भिक्षुणी बनकर अपना शोक संताप दूर करती है।

[1] करुणा - जयप्रकाश कर्दम पृ.सं. 10

उधर रमेंश को ठाकुर सुखदेव सिंह का बिगडैल अय्याश लड़का सूरज बदला लेने के लिए इंस्पेक्टर को रिश्वत देकर रमेंश की छोटी बहन रीता (जो माँ न बन पाने के कारण ससुरालवालों की प्रताड़ना से आत्महत्या कर लेती है) के फर्जी केस में रमेंश ने रीता की हत्या की यह आरोप लगवाकर जेल भिजवा देता है। इस घटना से रमेंश का सत्य और शाश्वतवाद से मोह भंग हो जाता है। पहले वह सत्य को शाश्वत मानता था। यही उसने पढ़ा भी था। किन्तु सत्य ही शाश्वतता का स्वीकार उसे मनोविकार सा प्रतीत होता है। वह विद्रोही हो जाना चाहता है। चाहता है कि सारी मान्यता और विश्वासों को चीख-चीख कर झूठा साबित कर दें। जिन पर शाश्वतता की मुहर लगी हुई है। सबको यह बता दे की शाश्वतता एक ढकोसला है। यह मनुष्य के शोषण का षड्यंत्र है। “दुनिया में कोई भी चीज शाश्वत नहीं है। अणु और परमानुओं की तरह सब कुछ परिवर्तनशील है। समय और परिस्थियों के साथ रूप बदल जाते हैं; संज्ञाएँ बदल जाती हैं। सब कुछ बदल जाता है। और वही सत्य समक्ष और समर्थ हो जाता है जिस पर समय की स्वीकृति की मुहर लग जाती है। यदि ऐसा नहीं होता तो आज वह जेल की इस कोठरी में कैद नहीं होता।”[1]

जेल में रहते हुए रमेंश तरह-तरह के अनुभओं और वैचारिक अंतर्द्वन्द्वों से गुजरता है। जेल में रहकर जेल प्रशासन के शोषण और अन्याय का विरोध करता है। वहाँ वह हर प्रकार की शारीरिक यातनाएँ सहता है। अपने जेल में पहुँचने की परिस्थियों के विषय में सोचता है तो ऐसे में उसे अत्याधिक निराशा होती है। बार-बार उसके मन में यह प्रश्न उठता है कि उसने कौन सी गलती की थी कि उसको यह सजा मिली। क्या अन्याय का विरोध करना अपराध है? अपने न्यायालय कैसे न्याय के मंदिर है? यहाँ एक सत्यनिष्ट इमानदार और संघर्षशील व्यक्ति को न्याय नहीं मिलता। चिंतन की अंतिम अवस्था में वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि पूरी व्यवस्था ही ऐसी बनाई गई है जिसमें इसी तरह के दुष्परिणामों से एक अच्छे आदमी

[1] करुणा - जयप्रकाश कर्दम पृ.सं.47

को गुजरना पड़ेगा। वस्तुतः यह पूरी व्यवस्था ही दूषित है इसलिए वह एक ऐसी नई व्यवस्था की कल्पना करता है जो 'बहूजन हिताय' और 'बहूजन सुखाय' हो। "ऐसा समाज जो न्याय, समता, भात्तृत्व की भावनाओं पर आधारित हो जहाँ शोषण न हो, जोर जबरदस्ती न हो, अन्याय न हो। ऐसा समाज हो जो मनुष्य का उच्च नैतिक चरित्र हो। जहाँ स्वार्थपरकता न हो, धोकेबाजी न हो, भ्रष्टाचार न हो। जहाँ नेता और सरकार का एक मात्र उद्देश्य 'बहूजन हिताय बहूजन सुखाय' हो।"[1]

रमेंश के जेल जाने से उसका परिवार पूरी तरह से तहस-नहस हो जाता है। भाई की पढ़ाई छुट जाती है, करुणा बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है। दुःख ही सब समस्याओं का मूल है, इस परिप्रेक्ष में करुणा और रमेंश अपनी शारीरिक समस्याओं से त्रस्त होकर बुद्ध धम्म ग्रहण करते हैं; क्योंकि यह धर्म ही तमाम दुखों से व्यक्ति को मुक्ति दिलाता है, सुख और शांति प्रदान करता है। इसी को प्राप्त करने के लिए रमेंश और करुणा पलायन करते हैं, वे सहज और स्वभाविक स्थिति में संघ की शरण में नहीं जाते। उपन्यास के कथ्य से तो यही प्रतीत होता है कि दोनों नायक और नायिका बुद्ध की शरण में जाकर अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को सार्थक बनाते हैं अर्थात् उपन्यासकार ने संत्रस्त रमेंश को बौद्ध विहार भेजकर और दोनों को बौद्ध धर्म में दीक्षा दिलाकर यह सन्देश दिया है कि बौद्ध धम्म तमाम दुखों से मनुष्य को मुक्ति दिलाता है, जो परम्परा से चले आ रहे सनातन धर्म की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाकर एक विकल्प प्रस्तुत करता है।

1.1.2 छप्पर - जयप्रकाश कर्दम

जयप्रकाश कर्दम का बहूचर्चित उपन्यास छप्पर 1994 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास ने दलित उपन्यासों की मजबूत नींव रखी। इस उपन्यास में दलितों के दीन-हीन जीवन के चित्रण के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक स्थितियों को दर्शाया है।

---

[1] करुणा - जय प्रकाश कर्दम - पृ.सं.69

साथ ही जातिभेद की कुरीति को भी दर्शाया है। हरिनारायण ठाकुर 'छप्पर' उपन्यास की समस्याओं पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं- "छप्पर वैसे तो पूरे दलित समाज की समस्या और उसके शोषन उत्पीड़न को व्यक्त करता है; किन्तु दलित स्त्रियों के यौन शोषन और बलात्कार भी इसकी मुख्य समस्या है।"[1] दलित चिंतन की सामाजिक परम्परा को यथार्थ रूप में व्यक्त करने वाला जयप्रकाश कर्दम का यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपन्यास सामाजिक क्रांति के लक्ष को लेकर लिखा गया है। जिसमें एक दलित युवक चन्दन को उच्च शिक्षा के लिए संघर्ष करते देखा जा सकता है। जिसके कारण उसके माँ-बाप को कितनी यातनाएँ सहनी पड़ती है और कितने अत्याचारों का सामना करना पड़ता है।

उपन्यास में दलित जीवन के जितने पहलू हैं; लगभग सभी अपनी भयावहता के साथ उपस्थित हैं। शिक्षा के जरिए नायक चन्दन दलित समाज में सामजिक परिवर्तन लाता है और रजनी जो कि उपन्यास की नायिका है जिसके द्वारा सामाजिक बदलाव के नए मूल्यों की स्थापना की जाती है। गाँव के सेठ दुर्गादास काने पंडित और ठाकुर हरनाम सिंह प्रतिगामी शक्तियों अर्थात् ब्राह्मणवादी सामन्तवादी बुराइयों के वाहक हैं जिनके शोषण के शिकार हरिया, कमला, सुक्खा और रमिया है। सुक्खा और रमिया सामाजिक परिवर्तन में लगे अपने बेटे चन्दन को पूर्ण सहयोग देते हैं। सुक्खा अपने बेटे चन्दन के भविष्य के बारे में आशान्वित है और पत्नी रमिया के शक को दूर करता है। "चुप कर पगली कोई पेट से बड़ा बनकर आता है। पढ़ लिखकर बड़े बनते है सब। क्या पता कल को हमारा चन्दन भी कलेक्टर या दरोगा बन जाये। अपनी चिंता छोड़ हमें थोड़े बहुत दुःख उठाने पड रहे हैं तो क्या? दुःख के बाद ही तो सुख आता है। हमारे दिन कभी न कभी तो बदलेंगे।"[2] सुक्खा और रमिया का यह सपना एक आम माता-पिता का ही सपना है जिसके सहारे यह दोनों पति पत्नी जिए जा रहे हैं। पर भविष्य के गर्भ में क्या पला है? कौन जानता है? और सुक्खा की चिन्ता- "क्या

---

[1] दलित साहित्य का समाजशास्त्र - हरिनारायण ठाकुर - प्र.सं.495

[2] छप्पर - जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं.12,13

मेंरे जीते जी एकलौते बेटे को अपनी पढ़ाई छोड़कर मेंरी तरह शोषण और बर्बरता की चक्की में पिसना पड़ेगा? क्या उसे भी गुजर-बसर के लिए लाला और साहूकारों के तलवे सहलाने पड़ेंगे? क्या उसे भी ठाकुर और जमींदारों के और दूध मुहे बच्चों तक की गालियाँ सहन करनी पड़ेगी? क्या उसे भी गुड की डलिय प्याज की गंठी के साथ रुखी-सुखी रोटी हलक से निचे उतारकर दिन गुजारने पड़ेंगे? क्या उसे भी मेंरी तरह पशुवत जीवन जीना पड़ेगा"।[1] हरिया चन्दन के सहयोग के लिए सर्वस्व नौछावर कर देता। भट्टे के मालिक के रेप से गर्भवती कमला तो चन्दन के लिए अपने प्राण तक दे देती है। रजनी जमींदार हरनाम सिंह की एक लौती बेटी जो स्वतंत्रता और समानता में अपने पिता से लोहा लेकर भी अपने चन्दन का साथ देती है। यहाँ तक कि जाति के बंधन को तोड़कर दलित युवक चन्दन से विवाह का मन बनाती है। किन्तु चन्दन अपना व्यक्तिगत हित त्यागकर समाज के लिए अपना जीवन कुर्बान कर देता है। इन स्थितियों को देखकर हरनाम सिंह का ह्रदय परिवर्तन होता है।

एक दिन हरनाम सिंह आत्मग्लानि के चरम क्षणों में आत्महत्या करने के विचार से जंगल की ओर चल पड़ते है। ठीक उसी समय सुक्खा भी किसी कार्यवश वहाँ गया हुआ होता है सुक्खा ठाकुर हरनाम सिंह को जल्दी-जल्दी कुएं की तरफ जाते हुए देखता है तो उनके इरादे भांप लेता है और तुरंत दौड़कर उनको कुएं में कूदने से बचा लेता है। ठाकुर हरनाम सिंह अपने-आप को सुक्खा की पकड़ से छुड़ाना चाहता है और बार-बार कुएं में कूदने के लिए छटपटाता है- "मैं इस धरती पर एक बोझ हूँ सुक्खा। मेंरा मर जाना ही अच्छा है। मेंरे कर्म मुझे धिक्कारते हैं। मैंने तुम लोगो के साथ जो जुल्म जादती की है उसके अपराध बोध से कैसे उभरू मैं, शायद यही सजा है मेंरी कि सड़कर कीड़े पडे मेंरी लाश में और चील कौए नौच-नौच कर खाएं मुझे।"[2] पर सुक्खा के समझाने पर शांत हो जाता है- "ऐसा नहीं करते ठाकुर साहब। गलती तो इन्सान का स्वभाविक धर्म है। दुनिया में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा

---

[1] छप्पर - जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं. 32

[2] छप्पर - जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं. 105

जिस से कभी कोई गलती नहीं हुई हो। अतीत की इन सब बातों को भूल चुके है हम लोग आपके प्रति कोई मैल नहीं है हमारे मन में। आप भी सब कुछ भूल जाएँ ठाकुर साहब और समानता का व्यवहार करते हुए मुहब्बत और भाईचारे के साथ रहिए सबके साथ।"[1] लेखक अहिंसक तरिके से सामाजिक शक्तियों द्वारा परम्परावादी ताकतों का ह्रदय परिवर्तन कर सामाजिक क्रांति लाने का सन्देश छप्पर के माध्यम से देता है।

दलित युवाओं को व्यक्तिगत हित को त्यागना होगा तभी समाज की भलाई होगी। अगर अपने समाज के साथ-साथ दूसरे समाज में भी महत्त्व प्राप्त करते हैं तो पूरे समाज को शक्तिशाली बनाना होगा। बिना अपने समाज को शक्तिशाली बनाए दूसरे समाज से महत्त्व प्राप्त नहीं किया जा सकता। सदियों से दासता की जंजीरों में जकड़ा रहा है हमारा समाज खाली पेट, नंगे और टूटे-फूटे झोपड़ों में बसर करने की विवशता, यही रहा है सैकडों वर्षों से हमारे समाज का यथार्थ। हम लोग पढ़-लिख गए हैं, लेकिन हमारा समाज, हमारे नाते रिश्तेदार सबके सब उसी स्थिति में हैं। उन सबकी निगाहें हमारी ओर हैं। यदि उनके प्रगति की ओर ध्यान हम नहीं देंगे तो और कौन देगा। क्या तुम चाहोगे कि हमारे रिश्तेदार सदा जिल्लद की ही जिन्दगी जीती रहे। इस उपन्यास में सामाजिक हैसियत को बहुत ही महत्त्व दिया है जिसे शिक्षा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। चंदन का रामहेत से यह कहना- "मैंने यह नहीं कहा, मैं तो यह कहता हूँ कि हमें प्रत्येक क्षेत्र में आना चाहिए। केवल सामाजिक परिस्थिति से हमारी परिस्थिति भिन्न नहीं है, बल्कि आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक प्रत्येक क्षेत्र में हम पिछ्ड़े हैं। हमें प्रत्येक क्षेत्र में ऊपर आने की जरूरत है, लेकिन सबसे पहले जरूरत है सामाजिक सम्मान की। यदि तुमारे पास सामाजिक हैसियत है तो तुमारे लिए हर कोई गूंजाइश हो सकती है। यदि तुम्हारी कोई सामाजिक हैसियत नहीं है तो चाहे तुम कोई काम कर लो, कितना भी कमा लो इन सबका कोई महत्त्व नहीं है।

---

[1] छप्पर - जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं. 106

पैसा भी जीवन का एक फैक्टर है, मैं इसे इन्कार नहीं करता, लेकिन इससे पहले जरूरी है, समाज में तुम्हारी हैसियत का होना।"[1]

शिक्षा द्वारा अंधविश्वासों यज्ञादि कर्मकांडों का सफाया किया जा सकता है। नायक इश्वर में भी विश्वास नहीं करता। चन्दन का इश्वर पर विश्वाश करने वाले लोगों से यह कथन है- "यदि आप की ही बात सच मान ली जाये कि इश्वर है तो आप ही देखिये की कितना अन्यायी और निर्दयी है, तुम लोग जिस इश्वर को मानते हो, उसकी पूजा अर्चना करते हो, उसको प्रसन्न करने के लिए भेट चढाते हो, तब भी तुम पर दया नहीं आती है और वह तुमको पशुवत और नारकीय जीवन जीने को बाध्य करता है तब तुम ही सोचो ऐसे इश्वर को क्यों माना जाए, जो इश्वर भला नहीं करता उसको मानने का कोई औचित्य नहीं"।[2] छप्पर के माध्यम से लेखक सोये हुए दलित समाज को वैचारिक आधार पर संगठित करके सामन्ती- ब्राह्मणी शोषण उत्पीड़न और जातिगत भेदभाव से मुक्ति के लिए संघर्ष की प्रेरणा देता है। शिक्षा के महत्त्व को समझाते हुए लेखक सांस्कृतिक क्रांति पर जोर देता है, क्योंकि सांस्कृतिक क्रांति सामाजिक क्रांति की पूरक है और इनके बिना दलित समाज का उत्त्थान संभव नहीं है। सांस्कृतिक क्रांति एक सतत प्रक्रिया है जो सामाजिक क्रांति को एक निच्छित दिशा और लक्ष की ओर ले जाती है।

छप्पर उपन्यास की अनेक उपलब्धियाँ हैं, इस को एक अच्छा दलित उपन्यास होने का श्रेय प्राप्त हुआ लेकिन इस की कमियाँ भी हैं, उपन्यास के शिल्प और कौशल्य में कमी होने का वही कारण है जो अन्य दलित लेखकों के साथ हुआ जैसे- दलित लेखकों को शिक्षा और लेखन के अवसर बहूर बाद में मिल सके। रोजी-रोटी की जद्दोजहद और विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए ही वक्त बितता गया। जब अपनी बात कहने के अवसर मिले तब अपनी कथा और संघर्ष की बात कही। इसलिए

---

[1] छप्पर - जयप्रकासं कर्दम - पृ.सं.41

[2] छप्पर - जयप्रकासं कर्दम - पृ.सं.23

दलित साहित्य की आलोचना के लिए अलग सौन्दर्यशास्त्र की मांग की गयी। इस दृष्टि से छप्पर की उपलब्धियाँ अनुकरणीय है। सर्व प्रथम छप्पर की यह विशेषता है कि इसे उपन्यास के शिल्प विधान के अनुरूप बांधा गया है। उपन्यास में दलित नायक के चरित्र को केन्द्रित करके उसे दलित उत्त्थान के लिए शिक्षा और जागृति के प्रचार-प्रसार में दिखाया है यह समाज के लिए प्रेरणा का सन्देश है। उपन्यास में दलित स्त्रियों की स्थिति माँ, पत्नी और प्रेमिका को कर्तव्यनिष्ठ, जिम्मेदार, कर्मठ और आदर्शरूप में बताया गया है। उपन्यास में सामाजिक और नैतिक मूल्यों को महत्त्व दिया गया हैं।

उपन्यास की भाषा मुहावरेदार है, वार्तालाप पात्रों के अनुकूल है, उपन्यास क्लिष्ठता और दुरुहता से मुक्त और मानवीय संवेदना से परिपूर्ण है। कथा का प्रस्तुतिकरण पाठकों को प्रभावित करता है। उपन्यास का उद्देश दलितों की पीड़ा को बताते हुए उनमें जागृति लाना है। उपन्यासकार ने इस दृष्टि से अपना कर्तव्य और जिम्मेदारी निभाई है। उपन्यास का छप्पर शीर्षक सार्थक है, वह दलितों की दीन-हीन स्थिति का प्रतिक है। उपन्यासकार जय प्रकाश कर्दम एक विचारक के साथ-साथ साहित्य सृजक भी हैं। उनके लेखन के कारण ही समाज और साहित्य में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण हैं।

1.1.3 मिट्टी की सौगन्ध

प्रेम कपाडिया का पहला उपन्यास 'मिट्टी की सौगन्ध' 1995 में प्रकाशित हुआ। इसमें दलितों पर होने वाले अत्याचार तथा उनके जीवन की समस्याओं को चित्रित किया गया है। जैसा कि प्लेप पर ही घोषणा कर दी गयी है कि 'दलित समाज की गाँवों में क्या स्थिति है उसी को उभारने की कोशिश की गयी'। इसी कारण पढ़ने की इच्छा जागृत हुई है। किन्तु उपन्यास की पहली ही पंक्ति से यह सब चीजे छुट जाती है और पाठक को सजग हो जाना पड़ता है। पहला वाक्य इस तरह

का है- “उसकी आँखों में आंसू भरे थे लेकिन पेट में एक आग़ सी जल रही थी... एक ऐसी आग़, जो हवा के झोंके के समान झुलसा जाती थी।”[1] इस पंक्ति की आलोचना से पहले थोडा सा उपन्यास के कथ्य पर दृष्टिपात करें तो कुछ अर्थ निकलकर सामने आ जाएंगे।

उपन्यास की कथा इस तरह की है, ठाकुर घराने का एक युवक जो कि दलितों को न्याय दिलाने के लिए अपने घर-परिवार से ही टकरा जाता है। ठाकुर मदन सिंह जो टिपिकल हिंदी फिल्मों का अय्याश ठाकुर है और उसका बड़ा लड़का शमेंद्र सिंह उसका भी बाप है। उनका छोटा लड़का महज 19-20 साल का है आश्चर्यजनक रूप से दलितों का हितेषी, मानवतावादी तथा दलितों को प्यार करनेवाला है। उसकी मुलाक़ात ऐसे दलित लड़की से होती है जो उसके बाप मदन सिंह से बलात्कार का शिकार हो चुकी है। विजेंद्र उस लड़की को न्याय दिलाने के लिए दलितों की ‘न्याय सेना’ बनाता है और उसे न्याय दिलाते हुए अपने बाप को दस साल की कैद करवा देता है उस दलित लड़की से विवाह कर नई जिंदगी बसर करता है।

अगर तथ्यात्मक रूप से देखें तो ऐसे उदाहरण कम ही मिलते हैं कि एक सामन्ती परिवार में ऐसा भी व्यक्ति होगा जो सामन्ती रूढियों व दकियानुसी विचारों से दूर एक आदर्श व प्रगतिशील दृष्टिकोण का मालिक होगा। यदि ऐसा हो भी तो ऐसी क्या परिस्थितियाँ, शिक्षा-दीक्षा, संस्कृति व साहित्य रहा होगा जिसके चलते एक 20 साल के युवक का मन इतना परिपक्व हो जाए लेखक स्पष्ट नहीं कर पाया है। क्या लेखक काल्पनिक पात्रों की रचना कर रहा है? अथवा दलित विमर्श के इस दौर में कुछ ऐसा नया पेश करना चाहता है जिस से दलित विमर्श में एक नया आयाम जुड़ जाए। खैर इस उपन्यास में विजेंद्र ठाकुर नायक है। पिता दलितों पर अत्याचार करता है तो बेटा दलितों की मदत करता है। उपन्यास में दलितों को दीन-हीन बताया गया है, दलित समाज के लोग विजेन्द्र ठाकुर की मदत से ठाकुर मदन सिंह से बदला लेते

[1] मिट्टी की सौगंध - प्रेम कपाड़िया - पृ.सं. 6

हैं। यह उपन्यास दलित समस्या पर केन्द्रित है लेकिन इस में अम्बेडकरवादी दलित चेतना नहीं है। सवर्ण द्वारा दलितों की मदत करना दया और सहानुभूति का परिचायक है। दलित साहित्य के मानदंडो के अनुसार दलितों में वह चेतना होनी चाहिए कि अपने समता-सम्मान के अधिकार वे स्वयं ले सके और दुराचारी अत्याचारी को स्वयं दंड दे सके।

इस कारण यह उपन्यास दलित साहित्य में चर्चित नहीं हो सका। दलित उपन्यास का नायक या नायिका दलित ही होना चाहिए ताकि वे स्वयं अपनी पीड़ा और समस्या को बताते हुए उसका समाधान खोज सके। इस उपन्यास में काल्पनिकता का तत्व भी अधिक है जिससे सामाजिक यथार्थ को समझना मुश्किल हो जाता है। दलित उपन्यास लेखन के आरंभिक दिनों में लिखा गया कपाडिया का यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण है लेकिन दलित साहित्य की दृष्टि से दलित उपन्यास के रूप में मिट्टी की सौगंध उपन्यास महत्त्व नहीं पा सका। दलित उपन्यास में अम्बेडकरवादी विचारधारा दलित चेतना और दलित अस्मिता की पहचान होना आवश्यक है। लेखक और कृति की भी कुछ खामियाँ-कमियाँ हो सकती है पर पूर्णतः से किसी भी कृति को ख़ारिज नहीं किया जा सकता। इसलिए इस उपन्यास के महत्त्व पर विचार करते समय प्रोफ़ेसर सी. बालकृष्ण प्रस्तावना में कहते हैं- “इस पूरे समाज के कई पहलू इस उपन्यास ने उठाये हैं। आज की इस भागम-भाग भरी जिंदगी में इंसानों में कोई बिरला ही साधन संपन्न युवक अपनी जमींदार खानदानी वसीहत से टकराने का साहस करता है। इस सारे कार्य में एक सच का सहारा युवक लेकर चलता है। सामाजिक परिधियों की अवहेलना करता है। अपने सगे बाप से लोहा लेता है, जब वह देखता है कि शोषण अपनी ‘लक्ष्मण रेखा’ पार कर चूका है, तब वह विद्रोह पर उतारू हो जाता है। अंत में जीत इसी युवक की होती है जब वह एक दलित लड़की को पहले सामाजिक दरिंदों से बचाता है तथा अपने अकेले कोशिशों से उसे अपना

कर घर बसाने का साहस करता है।"[1] शुरू में मैंने कुछ पंक्तियों का जिक्र किया था इस उपन्यास से गुजरते हुए उनका अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि भूक, दरिद्रता दलितों के जीवन की सच्चाई है। इसी कारण दलितों की बेटी, बहन बलात्कार का शिकार होती है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास का दलित उपन्यासों में अपना एक विशिष्ट महत्त्व है जिसे समय के साथ समझने की जरूरत है।

1.1.4 जस-तस भय सवेर

'जस-तस भय सवेर' सत्यप्रकाश का उपन्यास 1998 प्रकाशित हुआ है। इस उपन्यास में लेखक ने भारतीय समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के उस चेहरे से हमारा परिचय करवाया जिस के बारे हम बहुत कम जानते हैं या तो आम व्यवहार कहकर उसके प्रति कोई सवाल नहीं उठाते 'यह तो होता ही रहता है' कहकर आगे बढ़ जाते हैं। लेखक हमें इन बिन्दुओं पर संवेदनशील बनने के लिए तथा शिक्षित वर्ग के हित में आवाज उठाने के लिए प्रेरित करता है कौन किस परिवार, जाति और माहौल में जन्म लेगा इस पर किसी का अधिकार नहीं यह सब निर्धारित करना किसी के बूते नहीं है। जन्म मरण स्वभाविक क्रियाएं हैं और भौतिक जगत में इस पर किसी का नियंत्रण नहीं है अगर कही सीमित नियंत्रण है तो बहुत हद तक व्यक्ति का ही।

हमारे देश में वर्ण, धर्म, जाति का परिपालन करते-करते एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया है जो अपने को जन्म जात श्रेष्ठ मानकर दूसरे लोगों को जन्मजात आधार पर हीन समझकर उसके प्रति दंडात्मक व्यवहार करता आया है। विभिन्न वर्ग के मूलभूत अधिकारों, मानवतावादी समता और सम्मान का यथेष्ठ आदर करने की अपेक्षा अवसरानुसार वंचित वर्ग द्वारा प्रस्तुत दावेदारी, बराबरी का मजाक उड़ाने का अभ्यस्त हो चूका है। सत्ता संपत्ति और साधनों से पूर्ण यह सामन्तवादी विचारधारा

[1] मिट्टी की सौगंध - प्रेम कपाड़िया - पृ.सं.1

बड़े स्तर पर कामकाजी विचारधारा का दमन करती है। अक्सर देखने में आता है ग्रामीण भूमिहीन जनता अपनी रोजी-रोटी के लिए बड़े स्तर पर खेती पर निर्भर है मगर उसके पास खेती लायक जमीन नहीं है। ऐसी स्थिति में सुबह उठते ही नित्य कार्य के लिए उन्हें दूसरों के खेतों में जाना पड़ता है और वही से प्रारंभ होता है शोषण का प्रथम अध्याय। सर्व प्रथम उपन्यास के शीर्षक पर ध्यान देना जरूरी है। लेखक समाज में आर्थिक रूप से निर्धन, सामाजिक रूप से निम्न घोषित, शिक्षा से वंचित, सदियों से प्रताड़ित एवं अभावग्रस्थ, मगर तथाकथित ईश्वर व देवता के नाम पर जारी कर्मकाण्डों, आर्थिक अंधविश्वासों, भाग्यवादिता, आडम्बरों जात बारात के चक्कर में पड़कर अपना पारिवारिक सामाजिक जीवन नारकीय बना रहे लोगों को आह्वान करता है कि जरा अपने दिमाग पर जोर देकर सोचों तो सही कि तुम जो काम कर रहे हो उसमें सत्य कहाँ तक है तुम्हारा हित कहा तक है? महामानव बुद्ध ने कहाँ था कि किसी की बात पर तब तक विश्वास मत करो जब तक आपको यह विश्वास न हो जाएँ कि यह तर्क की कसौटी पर खरी है लेखक अंधकार के जंजाल में फंसे इंसानों व समाज के जीवन में नया सवेरा लाने हेतु संघर्षशील है। रचना सामाजिक धार्मिक अन्धकार के कुछ हिस्से को कम करने में सफल रही। चाहे उसका प्रतिशत कम ही रहा हो लेकिन है तो नया दर्शन, नया विचार, नया साहित्यिक आन्दोलन। यही आन्दोलन सामाजिक, धार्मिक पूर्वाग्रहों-दुराग्रहों को समाप्त करने में सहयोगी बनकर जनमानस को सामाजिक लोकतंत्र की तरफ अग्रसर करेगा। जिस सवेरे के इंतजार में रचना का समाज संघर्ष कर रहा है एक दिन उसका सपना जरूर साकार होगा। बस समय की बात है कि वहाँ तक पहुँचने में वह कितनी संतानों, कितनी धुसियाओं, मुन्नाओं की बलि लेगा। लेकिन एक बात तय है कि वंचित एवं शापित संतानों का बलिदान एवं लहू 'देविपालों-हरसंनाओं' को कहीं भी जीने नहीं देगा और इनके अंत के लिए 'शिवदासो, मनसुखों, मंगलों' को आगे आना ही पड़ेगा। वे क्यों सहे अपने स्वाभिमान, इन्सानी वजूद के खिलाफ ऐसा उत्पीड़न। यदि प्रशासनिक तंत्र सामाजिक अन्याय करनेवालों का समर्थन करना बंद कर दे और

केवल अपना निश्चित कार्य करें तो अंधेरी रात का अंत जल्दी ही हो जाए और एक ऐसा सवेरा आएगा जिसमें समाज के त्रस्त अधिकार विहीन लोग स्वाभिमान का जीवन जी सकेंगे और निर्भय होकर अपने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक अधिकारों का प्रयोग करते हुए अपनी रोजी-रोटी कमा सकेंगे।

उपन्यासकार ने जस-तस भई सवेर द्वारा समाज को जागृति का सन्देश दिया है। लेखक उपन्यास की भूमिका में बताते हैं- "मैंने ऐसी घटनाओं को बहुत ही निकट से देखा भी है और कई घटनाओं को किसी न किसी रूप में भोगा भी है। सुविधा भोगी तो कुकृत्य करते है परन्तु टोकने पर कहते हैं- "शर्म करो"। अन्याय का विरोध करने पर कहते हैं- "जातिवाद फैला रहे हो"। कानून की शरण लेने पर कहते हैं- "एक्ट का दुरूपयोग कर रहे हो"। अर्थात उनके हितों के आड़े आने वाले कानून को ही बदल देना चाहिए? इस दोहरी दूषित दुराग्रही मानसीकता का पर्दाफाश करके साहित्य के माध्यम से समाज के आईने में उन्हें उनका वास्तविक चेहरा दिखाने और मेंहनतकशों को अन्याय शोषण और सामन्तवादी भोगपरक व्यवस्था के विरुद्ध एक जुट होकर अस्मिता के लिए रक्षा के लिए संघर्ष हेतु उत्पेरित करने के उदेश्य ने मुझे इस रचना को मूर्त रूप देने के लिए उद्वेलित किया।"[1] उपन्यास का आरंम्भ, भगत हरसन्ना और सूदखोर देविपाल के कुचक्रों में फसकर हंसा भादों की बरसात के बीच अपने परिवार के साथ जाहवीर देवता की जात लगाने के लिए राजस्थान के बागड़ शहर जाता है। पूजा और यात्रा के खर्च के लिए वह देविपाल से पांच हजार रुपये कर्ज लेता है। रुपये तो खर्च हो जाते हैं और कर्ज ब्याज के साथ-साथ चलता है। इससे हंसा की आर्थिक स्थिति बिगडती है, हंसा का बड़ा भाई सरवन इस फिजूल खर्च और धार्मिक अन्धविश्वास से मना करता है। हंसा इसे सरवन का ईर्ष्या भाव समझकर झगड़ा कर लेता है, मार-पिट भी होती है और दोनों के परिवारों में बोलचाल बंद हो जाती है। हंसा की भैंस का मरना सुनहरी का फिसलकर गिरने से टांग टूटना- सब बातों का

[1] जस-तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - भूमिका - एक क्षण मेरे साथ

दोष सरवन पर लगा दिया जाता है। हंसा की पत्नी सुनहरी के भड़काने से हंसा और सरवन में दूरी बढती है।

लेखक ने दोनों भाईयों के बीच अंधविश्वास के कारण दुश्मनी होने की बात कही है। यह दलित जातियों के परिवारों के लिए लेखक का सन्देश है कि आपस में लड़ना ही हमारी कमजोरी है। एकता के अभाव में हमारी कमजोरी का लाभ हमारे दुश्मन उठाते हैं। इसके साथ यह भी स्पष्ट किया है कि धार्मिक कर्मकांडों और आडम्बरों के जाल में फंसकर दलित वर्ग के लोगों की आर्थिक स्थिति ख़राब होती जा रही है फिर भी ये इन्हीं कामों में रुपया और समय बर्बाद कर रहे हैं। अतः उपन्यासकार यह भी सन्देश देता है कि दलित वर्ग के लोग हिन्दू धर्म के पूजा आदि आडम्बर को छोड़कर, शिक्षा पाने की ओर ध्यान दें। आपस में झगड़ों को भूलकर एकता और संगठन के साथ अत्याचारी वर्ग को करारा जवाब दें। सरवन शिक्षित और समजदार है उसका परिवार सुख-संपन्नता के साथ रहता है। वह अंधविश्वास और पूजा जैसे आडम्बर पर फिजूल खर्चा नहीं करता, उसे सुखी देख हंसा और सुनहरी उससे ईर्ष्या करते हैं और अपनी बर्बादी का कारण हरसन्ना भगत से पुछते हैं। हरसन्ना उसे फिर से देवता की जात लगाने को कहता है और देवता के कोप से भयभीत करता है। हंसा अज्ञानी और अन्धविश्वासी है, उसका पिता मंगल पहलवान भी हंसा को ऐसे कार्यों के लिए प्रोत्साहित करता है। सरवन के विरोध करने पर पिता और भाई उसे मारते है।

हंसा के बच्चे पढ़-लिख नहीं पाते बल्कि सरवन का बेटा शिवदास उच्चशिक्षा प्राप्त करके बैंक में क्लर्क की नौकरी करता है। हंसा और सरवन की कथा के बीच दलित स्त्रियों के शोषण की कथा भी साथ-साथ चलती है। रामरती घुसिया और सन्नों को आपने खेत में घांस काटते हुए देखकर चौधरी देविपाल कामुक दृष्टि से देखता है। वर्षा से भीगने से बचने के लिए तीनों पास की झोपड़ी में जाती है। चौधरी झोपड़ी में आकर रामरती और सन्नों को बाहर भेजकर घुसिया पर बलात्कार करता है। घुसिया

द्वारा भंडाफोड़ जाने के भय से देविपाल घुसिया की हत्या कर कुएं में डाल देता है और अन्य दो दलित स्त्रियों को भय दिखाकर चुप रहने को कहता है।

यह समाज का कड़वा सत्य है कि कितनी ही दलित स्त्रियाँ इस तरह दुष्टों की हवस का शिकार हो कर आपनी जान से हाथ धो बैठती है । कानून इसके लिए बहरा और अंधा है। घुसिया की हत्या के बाद चौधरी देविपाल रामरती के साथ अनैतिक संबंध बनाता है। रामरती का सात वर्षीय बेटा मुन्ना उन्हें आपत्ति जनक स्थिति में देख लेता है। भय से चौधरी मुन्ना की हत्या करके उसे कुएं में डाल देता है। पुलिस देविपाल से रिश्वत लेकर मामला दबा देती है। गाँव में सवर्णों द्वारा दलित स्त्रियों को प्रताड़ित करना, अपमानित करना, बलात्कार और हत्या जैसे जगण्य कार्य चलते रहते हैं। कभी अपने स्वार्थ के कारण कभी सवर्णों के भय से दलित भी दलित का साथ नहीं दे पातें।

हंसा और भगत की कथा के साथ-साथ शिवदास की कथा भी चलती है। शिवदास के माध्यम से लेखक ने मण्डल आयोग के कालखण्ड की चर्चा की ही । साथ ही पूर्वदीप्ति शैली में शिवदास के चरित्र को दर्शाते हुए सुमेंधा का उसके प्रति प्रेम और आकर्षण को बताया है। समग्र उपन्यास पर टिप्पणी करते हुए मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं- “सत्यप्रकाश का उपन्यास ‘जस तस भय सवेर’ दलित समाज में फैले धार्मिक अन्धविश्वास और मिथ्या आडम्बरों का पर्दाफाश करता है। पुरोहित साहूकार के इस दोहरे शोषण में इस उपन्यास का नायक हंसा और उसका परिवार इस तरह से फस गया है कि वह अंत तक निकल नहीं पाता। निश्चित ही उपन्यासकार ने दलित समाज में प्रचलित जाहरपीर गोगा की जात लगाने की समस्या को दूर करने के लिए उस उपन्यास का ताना-बाना बुना है। और उसमें वह सफल भी हुआ है। दलित समाज के जटिल अन्तर्विरोध को बड़ी ही सरलता से लेखक ने प्रस्तुत कर दिया है। सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय की लढ़ाई में दलितों को नई दिशा और

ऊर्जा मिली। यही उपन्यास की सबसे बड़ी उपलब्धि है।"[1] उपन्यास के शिल्प पक्ष पर बात की जाए तो भाषा सरल और सुबोध है। लेखक ने आवश्यकता नुसार तत्सम, तदभव, देशज, विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है। कथा योजना, पात्र योजना से उपन्यासकार ने अपना लक्ष उदघाटित किया है। पाठक रचनाकार की सामाजिक सांस्कृतिक संघर्ष संबंधी विषयों में रूचि एवं ज्ञान से रूबरू होता है। लेखक के दैहिक शोषणों के प्रकरणों की भाषा में अतिरेक के बावजूद साहित्यिक मर्यादा का उल्लघन नहीं किया है। तथा प्रेम प्रसंग में श्रृंगारिक, अलंकारिक भाषा का प्रयोग करके पाठक की मानसिकता का भी ध्यान रखा है। अतः इस ऐतिहासिक कृति के माध्यम से लेखक भारतीय सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त अन्धकार को मिटाकर आम जन-मानस के लिए एक सुखद सवेरा लाने में सफल रहा है।

1.1.5 मुक्ति पर्व

'मुक्ति पर्व' मोहनदास नैमिशराय का उपन्यास 2002 में प्रकाशित हुआ है। देश के स्वतंत्रता प्राप्ति को लेखक ने देश की गुलामी का मुक्ति पर्व कहने के साथ इसे दलितों का मुक्ति पर्व बताया है। देश को आजादी मिलने के बाद दलित वर्ग में यह विश्वास जगता है कि वे भी अब विषमतावादी सामाजिक और आर्थिक शोषण से मुक्त हो जाएंगे। कोई उनसे बेगार नहीं कराएगा। कोई उन्हें बन्धुआ मजदूर बनाकर नहीं रखेगा, कोई उनपर दलन, अत्याचार नहीं करेगा, लेकिन क्या दलितों का यह सपना पूरा हो सका? इस सवाल पर मोहनदास नैमिशराय 'हिंदी दलित साहित्य' पुस्तक में टिप्पणी करते हुए कहते हैं- "भारत में कम्यूनिस्टों की दृष्टि में यह 'झूठी आजादी' थी तो दलितों की दृष्टि में अधूरी, पर सामान्य अर्थ में यह राजनीतिक आजादी जरूर थी। देश अंग्रेजी शासन की अधिनता से मुक्त हुआ, पर आर्थिक शोषण से पूर्णतया मुक्ति नहीं मिली। डॉ. अंबेडकर चाहते थे कि दलितों को राजनीतिक आजादी से पहले आर्थिक, सामाजिक शोषण से मुक्ति मिलनी चाहिए उनकी शंका सही थी कि अंग्रेजों

---

[1] हिंदी दलित साहित्य - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 169

के चले जाने के बाद देश पर स्वदेशी शासक के रूप में हिन्दुओं का राज होगा, उनमें दलितों के हितों की अनदेखी की जाएगी तथा उनका आर्थिक सामाजिक शोषण बदस्तूर जारी रहेगा।"[1] देश की आजादी अंग्रेजों के शासन से देश की मुक्ति थी, दलित वर्ग की मुक्ति नहीं। देश की आजादी के बाद भी वे सवर्णों की सत्ता के अधिन रहकर अभावग्रस्त शोषित पीड़ित जीवन जीने के लिए मजबूर है।

देश की आजादी की लड़ाई के अंतिम चरण के कालखंड में राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं के विवरण के साथ लेखक ने उत्तर भारत के कस्बाई शहर के दलितों के शोषित पीड़ित जीवन की कथा बताई है। "देश का बटवारा कुछ बरस पहले ही हुआ था। बटवारे की पीड़ा धीरे-धीरे कम हो रही थी पर हर एक में जैसे टीस अभी शेष थी।"[2] और वह आगे कहते हैं- "आजादी की लढाई का यह अंतिम चरण था। पूरे देश में मार-काट, खून-खराबे का सबब था। हर शहर जैसे छावनी बन गया था।"[3]

इस उपन्यास में दलित जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है इसका विवरण देते हुए उपन्यासकार कहते हैं- "बस्ती में अधिकांश घरों में जूते चप्पलों का व्यवसाय होता था, शेष मजदूरी करते थे।"[4] ऐसे सामाजिक वातावरण में दलित बस्ती का हंसा नवाब अली वर्दी खां की हवेली में काम करता है। बंसी की माँ छमिया और पत्नी सुंदरी है। कुछ दिन से सुंदरी को प्रसव पीड़ा हो रही थी। आजादी की सुबह का सूरज निकलते ही सुंदरी को बेटा पैदा होता है। बंसी ने नवाब अली खां की हवेली में लोगों से सुना था कि आजादी मिलने वाली है। आजादी मिलने से पहले आजादी का संघर्ष जारी था मगर नवाब और जमींदार अपना फायदा ही देख रहे थे। उन्हें देश की आजादी से कोई मतलब नहीं था। गरीब दलितों से वे क्रूरता से व्यवहार करते थे,

---

[1] हिंदी दलित साहित्य - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.163

[2] मुक्ति पर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.7

[3] मुक्ति पर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.1

[4] मुक्ति पर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.8

डाट-फटकार और मार-पिट भी करते थे। नवाब घुस्से से कहता है- “अभी तो आजादी आयी भी नहीं है। आजादी आने पर यह साले क्या करेंगे।”[1] ये तो शान से जी रहे थे। नवाब लोग अपनी शानों शौकत छोड़ना नहीं चाहते थे।

आजादी के दिन सब तरफ खुशियाँ थी मगर नवाब के घर जो लोग आ जा रहे थे उन्हें आजादी की ख़ुशी नहीं थी। बंसी पर नाराज होकर नवाब उसके सर पर चिलम फेक कर मारता है और कहता है- “कमबक्त दूर हो जा मेंरी आँखों के सामने से।”[2] बंसी नवाब की हवेली से गुलामी की नौकरी छोड़कर जाता है तब वह कहता है- “मैं तो थुकुंगा भी नहीं हियाँ पर।”[3] आजादी के दिन बेटे का जन्म होने पर इसे भी मुक्ति पर्व कहा गया। क्योंकि वह बच्चा गुलाम देश में पैदा नहीं हुआ था आजादी का दिन उसके लिए मुक्ति पर्व था। इसके साथ ही बंसी पुराणी परम्पराओं को तोड़ने का नया कदम उठाता है। हजारों वर्ष से चली आई पण्डिताई की परम्पराओं को तोड़कर बंसी आपने बच्चे का नाम पण्डित से पूछकर नहीं रखता बल्कि पण्डित के बिना स्वयं उसका नाम ‘सुनीत’ रखता है। वह पण्डित को खाली हाथ वापस भेज देता है। यह उस गाँव और बस्ती के लिए अनहोनी बात थी। सवर्ण पण्डितों ने बच्चों के नाम हमेंशा घृणास्पद रखें है यथा- कालू, चेतू, बुद्धू, रगडू, झगडू, दगडू आदि।

मुक्तिपर्व सामाजिक उपन्यास है, दलित जीवन की विसंगतियां और समस्याएँ इसमें हैं। दलित जीवन के उत्पीड़न की कथा-व्यथा है। देश की सामाजिक स्थिति के साथ-साथ राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक और नैतिक सभी को विश्लेषण के साथ प्रस्तुत किया है। बंसी के दीन-हीन जीवन के माध्यम से दलित वर्ग के शोषण को बताया गया है। यहाँ उपन्यासकार ने देश के आजादी के सवाल को दलितों की आजादी से जोड़कर उठाया है। देश आजाद हुआ क्या? दलितों को भी आजादी मिल सकी? यह कठिन प्रश्न है क्योंकि देश की आजादी सवर्णों की आजादी थी गरीब

[1] मुक्ति पर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.22

[2] मुक्ति पर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 28

[3] मुक्ति पर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 28

दलितों की नहीं। नवाब ने कहाँ था- “तुम गुलाम थे, गुलाम हो, और गुलाम ही रहोगें।”[1] इसका जवाब बंसी ने विद्रोही तेवर में दिया- “नवाबे अली हम न गुलाम थे, न गुलाम है, न गुलाम रहेंगे।”[2] बंसी नवाब को ऐसा जवाब देता है और नवाब की गुलामी को छोड़कर मुक्ति का अनुभव करता है। मगर क्या सचमुच वह गुलामी से मुक्त हो सका? हवेली की नौकरी छोड़ते ही रुपए का अभाव सामने रहता है बच्चे के कान के बाले बेचकर वह जरूरत का सामान लाता है। वह अब खेतों पर मजदूरी कर वह अपनी दिनचर्या चलाता है। देश की आजादी के साथ दलितों में हिम्मत आयी थी वे भी अब बोलने लगे थे, अपनी स्थिति और सवर्णों के अन्याय के विषय में सोचने लगे थे। स्थिति कुछ इस तरह बदलने लगी थी- “धर्म की बिसात उलट गयी थी। इसलिए आज एक पण्डित बाजी हार गया था और दलित जीत गया था।”[3] आर्य समाजी रामलाल दलित बस्ती में शिक्षा और जागृति का कार्य करता है। आर्य समाजी रामलाल से ही सबसे पहले उन्हें दलितों के नेता डॉ. आंबेडकर का नाम और उनके कार्यों की जानकारी मिली थी। रामलाल सुनीत को पढ़ने-लिखने का आशीर्वाद देते हैं उनके ही प्रयत्नों से दलित बस्ती में दलित बच्चों के लिए स्कूल खुलता है। सुनीत बहुत ही होनहार बच्चा है, वह बस्ती के स्कूल में पढ़ता है। बचपन से ही उसमें बहुत समझदारी और जागृति है। दलितों के प्रति जातिभेद और अन्याय देखकर वह विद्रोह की भावना से उन्हें सबक सिखाता है। उपन्यास का दलित नायक सबका प्रेरणास्रोत बनता है।

जुनियर हाईस्कूल की छटी कक्षा में पहले ही दिन सुनीत को जातिवाचक अपमान सहना पड़ता है। इस अपमान के साथ-साथ एक ख़ुशी भी मिलती है, ख़ुशी यह है कि सुमित्रा ने उसके पास आकर सहानुभूति के साथ बाते की और उसकी मित्र बन गयी। कक्षा के सभी लड़के सुनीत से दोस्ती नहीं करते थे क्योंकि वह जाती से

---

[1] मुक्ति पर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 28

[2] मुक्ति पर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 28

[3] मुक्ति पर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.31

चमार था। पर सुमित्रा आर्य समाजी शर्माजी की बेटी जात-पात को न मानते हुए सुनीत से मित्रता करती है। हिंदूवादी मानसिकता के वर्णभेद जातिभेद का पूरा प्रभाव अन्य छात्रों पर था मगर आर्य समाजी छात्र दलित वर्ग के प्रति सदभावना रखते थे। वर्ग और जाति को न मानकर भाईचारे का सन्देश देते थे। यदि आर्य समाज के तत्वों पर गौर किया जाए तो स्पष्ट होगा कि आर्य समाज वेदों को मानता है। वेदों को माननेवाली विचारधारा हिन्दू धर्म के विरोध नहीं हो सकती। आर्य समाजी विचारधारा हिन्दू धर्म की कलंकित परम्परा का विरोध दर्शाकर असल में हिदू धर्म की रक्षा करना चाहते हैं। वे भेदभाव का विरोध करते हैं मगर वर्णव्यवस्था को मानते हैं तब ब्राहमण और शूद्र के बीच भेदभाव न मानकर भी उंच-नीच का अंतर रहेगा। उत्तर भारत में आर्य समाजियों ने दलित पिछड़ों को जोड़े रखने के लिए आर्य समाजी सद्भावना का प्रचार-प्रसार बहुत किया था। फिर भी बंसी को रामलाल पर पूरा विश्वास है वह उसे अपना शुभचिंतक मानकर आपने मन की छटपटाहट उसे बताता है। रामलाल बंसी को समझाता है- “बंसी भय्या आजादी का सूरज उग चूका है। अब अधिक दिनों तक नहीं चलेगा यह सब। ...मैं तो कहता हूँ अब तुम्हें ही खुद आगे आना होगा अपनी बात स्वयं अपने मुंह से कहनी होगी। आखिर भला कब तक हम कहते रहेंगे और तुम सुनते रहोगे।”[1]

उपन्यासकार इन्हीं बिन्दुओं पर आपने आप को केन्द्रित करता है और विषमता मूलक समाज की एक-एक परत को खोलते चलता है। इस प्रक्रिया में दलितों से गहरी संवेदना और सहानुभूति रखने वाले चरित्रों की अनदेखी नहीं करते मोहनदास नैमिशराय। ऐसे ही अंतर्विरोधी चरित्रों में से प्रगतिशील चरित्र पाठकों के सामने लाते हैं, इस तरह लेखक समाज का एकांकी चित्रण करने से बच जाते हैं। इस दृष्टि से उपन्यास में दलितों के अलावा गैर दलितों में आर्य समाजी रामलाल है तो दूसरी ओर सुनीत की सहपाठी सुमित्रा। रामलाल ने ही पहले दलितों के शिक्षा के लिए स्कूल

[1] मुक्ति पर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.68

खुलवाएँ। गाँधी और अंबेडकर के विवाद के रहस्य से पर्दा उठाया था कि गाँधी कभी नहीं चाहते थे कि अंबेडकर यह सिद्ध कर पाए कि वे ही दलितों के नेता थे। इसके साथ-साथ सवर्ण नहीं चाहते थे कि उनका नेतृत्व कोई दलित करें। रामलाल ने हिन्दू धर्म को खौफनाक बताते हुए कहाँ है कि मैं जब आर्य समाजी बना, मुझे तथा मेरे परिवार को कैसी-कैसी यातनाएँ दी गयी थी इसलिए 'हिन्दू धर्म बाहर से जितना शांतिप्रिय दिखाई देता है भीतर से उतना ही खौफनाक है। बेहतर होगा सजग रहकर कुछ सिखो, पर मानवीयता मत छोड़ों'। रामलाल का दृढ़ विश्वास था कि जो लोग समय के साथ नहीं चलते, वे ख़त्म हो जाते हैं, उनके मूल्य, परम्पराएँ और संस्कृति भी। इसलिए उसने दलितों को समाज को बनाने वाली धारा के साथ जुड़ने का आव्हान किया था।

जिस तरह उपन्यासकार ने रामलाल के चरित्र का निर्माण करके बंसी के माध्यम से दलितों में नए संकल्प शक्ति का संचार किया, ठीक उसी प्रकार सुमित्रा के माध्यम से सुमित को ऊर्जा दी है। सुमित्रा अपनी सहपाठी सुनीत के दुःख-दर्द में साथ थी। इस आधार पर दोनों में परस्पर घनिष्ठता बढ़ती गयी। उनके बीच विचार कम, भावनाएँ अधिक थी। उद्वेलित भावनाओं ने उन्हें एक दूसरे के समीप ला दिया, दोनों ने एक साथ ट्रेनिंग की और एक साथ अध्यापक बने। जिस दिन सुनीत को शिक्षक बनने का प्रमाणपत्र मिला उपन्यासकार उसे ऐतिहासिक दिन मानता है, क्योंकि आजादी के बाद दलितों की नई पीढ़ी का कोई व्यक्ति शिक्षक बना था।

सुनीत शिक्षक बनकर अपना वर्तमान बदलना चाहता है और इतिहास भी। वह अपने अनुभव से जान गया था कि बिना इतिहास की समज से वर्तमान नहीं बदलेगा और जब तक वर्तमान नहीं बदलेगा तो भविष्य में परिवर्तन ही नहीं होगा। इसी उद्देश्य और मिशन को लेकर जब वह अपनी बस्ती के स्कूल में अध्यापक बनकर जाता है तो बस्ती के लोंगों को भी बल मिला और उनके भीतर चेतना के अंकुर और अधिक तेजी के साथ उभरे थे। पहली बार गुलामी से मिली आजादी को दलितों ने

मुक्ति पर्व के रूप में मनाया। इसी तरह देश की आजादी दलितों के लिए मुक्ति पर्व बन गयी।

उपन्यास में काली आंधी की जानकारी लेखक ने विवरण के रूप में दी है। इस लंबे विवरण का उपन्यास की मुख्य कथा से कोई संबंध नहीं है। नटवा के घर की छत का टूटना, नटवा का दूसरा विवाह करके मंगतू के लिए नई माँ लाना- इस प्रकरण का भी मूल कथा से कोई संबंध नहीं है। छनिया की बहू सुंदरी का चक्कर, भिन्नी के साथ शौछ के लिए जाना। वैचारिक दृष्टि से उपन्यास अच्छा है, मगर छोटे बाल सुनीत में प्रौढ़ परिपक्व नायक के गुण दिखाना अविश्वसनीय और अतिशोक्ति पूर्ण लगता है। यह कार्य उनके शिक्षक बनने के बाद भी दिखाए जा सकते थे।

उपन्यास में अधिकांशतः लेखक ने विवरणात्मक शैली को अपनाया है। उपन्यास की कथा उपन्यास द्वारा दिए गए विवरण के अनुसार चलती है। पात्रों के बीच वार्तालाप सहज और स्वाभाविक है। कही-कही वार्तालाप अनावश्यक रूप से नियोजित और विस्तृत है। उपन्यास का उद्देश्य देश की आजादी के साथ दलितों के मुक्ति पर्व को सार्थक रूप में दिखाना है। आजादी के बाद पहली बार किसी दलित का शिक्षक बनना भी दलितों का मुक्ति पर्व है। उपन्यास की कथा दलित दासता से मुक्ति के उद्देश्य को लेकर चलती है। दलित मुक्ति ही उपन्यास का उद्देश्य है। इस उपन्यास के माध्यम से दलित वर्ग की आशा और आकांक्षाओं को मूर्त रूप दिया गया है।

1.1.6 आज बाजार बंद है

मोहनदास नैमिशराय का उपन्यास 'आज बाजार बंद है' 2004 में प्रकाशित हुआ। समाज का सबसे उत्पीड़ित वर्ग यदि कोई है तो वे हैं वेश्याएं। विडंबना यह है कि सभ्य समाज इन उत्पीड़ित वेश्याओं को अपराधी तथा उन्हें समाज में अनैतिकता और व्यभिचार फैलाने के लिए जिम्मेदार मानता है जब कि सच्चाई यह है कि वे खुद अन्याय और अत्याचारों की शिकार है। इसी वेश्यावृति की समस्या को उपन्यास में

उठाया है। उनका महत्त्व इस बात में नहीं है कि उन्होंने इस समस्या को उठाया बल्कि इस बात में है कि उन्होंने समाज के मन में बैठी इस अवधारणा का कि वे महिलाएँ नहीं वेश्याएँ हैं, जबरदस्त प्रतिकार किया और इसके बरक्स नई अवधारणा प्रस्तुत की कि वे भी एक मनुष्य ही है। इस उपन्यास में वेश्या समस्या के साथ-साथ नारी आंदोलन का समाधान भी अंबेडकरवादी समाज परिवर्तन के आन्दोलन का एक भाग रहा है। नारी जागृति के लिए अनेक संस्थाएँ काम कर रही है फिर भी वेश्या समस्या का निदान और पुनर्वसन पूरी तरह नहीं हो सका। अनेक प्राचीन साहित्यकारों ने पुरातन साहित्य के आधार पर 'गणिका' और 'नगर वधू' के रूप में पुरुषों के सुख और संतुष्ठी के लिए उनका होना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक बताया है। 'अंबेडकरवादी दर्शन बताता है कि स्त्रियों के साथ अत्याचारों का गहरा संबंध जातिवाद से है और जातिवाद का गहरा संबंध हिंदूवादी विचारधारा से, अतः हिंदूवादी विचारधारा को चुनौती दिए बिना देश में सामन्तवादी विचारधारा के आधार पर समाजवादी व्यवस्था बनाना संभव नहीं है, इसके लिए जरूरी सभी उत्पीड़ित अति उत्पीड़ितों के लिए संघर्ष करें।"[1]

लेखक पूर्णतः अंबेडकरवादी विचारधारा को आत्मसात कर इस उपन्यास की रचना करते हैं। उपन्यास मूलतः वेश्या समस्या पर होने के साथ-साथ स्त्रियों के प्रति अन्याय और अत्याचार का पर्दाफाश ही नहीं करता बल्कि वेश्यावृत्ति को ख़त्म करने का रास्ता भी दिखाता है। वे उपन्यास की भूमिका में बताते हैं, डॉ.अंबेडकर के धर्म परिवर्तन आन्दोलन के समर्थन में 16 जून, 1936 को देवदास ठाकुर हाल में बम्बई की वेश्याओं ने एक सभा की थी। इस सभा में देवदासी पत्राजे, भूते, अराधी और जोगति पन्त से संबंधित स्त्री-पुरूषों ने बड़ी संख्या में भाग लिया था। इस सभा में डॉ. अंबेडकर ने कहाँ था- "आप हमारे साथ धर्म परिवर्तन करे अथवा न करे, यह मेरे लिए अधिक महत्त्व का विषय नहीं है, परन्तु मैं आग्रह करत हूँ यदि आप हमारे साथ

---

[1] अपेक्षा - वर्ष 9 - अंक 30-31 - जनवरी 2010 पृ.सं.56

आन्दोलन में रहना चाहती हैं तो आपको अपना यह अपमानित जीवन त्यागना चाहिएं।"[1] आधुनिक युग में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक स्थितियों में बहुत परिवर्तन हुआ है फिर भी वेश्याओं की समस्या और उनके जीवन की बीभत्सता की स्थिति ऐसी ही है। लेखक ने यह उपन्यास राष्ट्र की उन बेटीओं को समर्पित करते हुए उन्हें जागृत करने का सन्देश दिया है। जिनके भीतर मुक्ति की चाह है लेखक ने उनके जीवन की स्थिति पर नए सिरे से लिखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उपन्यास की वेश्याएं गरीबी और आभाव का जीवन जीने वाली शोषित पीड़ित है। परिस्थितियों ने किसी को बदचलन बना दिया तो किसी को बेशरम। फिर भी उपन्यास में शबनमबाई जैसी वेश्या भी है जो वेश्या जीवन का संताप भोगते हुए जीवन के अंतिम चरण पर साहस पूर्ण कदम उठाती है। धोका देकर लाई गई लड़की को वेश्या न बनाकर वह उसे आजाद कर देती है। इसी तरह पार्वती को नवयुवक साथी मिलने पर उन्हें विवाह कर लेने को प्रोत्साहित करती है।

अब पूर्णतः उपन्यास के कथ्य पर आते हैं उपन्यास का आरंभ 'थाने पर पथराव किया रंडियों ने' इस घटना के साथ हुआ है। अखबारों में मुख्य पृष्ठ पर यह खबर पढ़कर पूरे शहर में यह हलचल मच गई है। लेखक ने इस घटना की क्रिया-प्रतिक्रिया का वर्णन स्वयं ही किया मगर उन्होंने शहर का नाम स्पष्ट रूप से नहीं बताया है- "शहर के सभी थानों में यह खबर चर्चा का विषय थी। पुलिस कर्मचारियों से लेकर अधिकारियों के बीच रंडियों के कोठों से सटे 'इबादतपुर' थाने में तैनात कर्मचारियों के बीच लेन-देन पर अच्छी खासी चर्चा थी। कौन कितनी रिश्वत लेकर ऐसे कमाऊ थानों में अपनी पोस्टिंग करता है। इस बात पर विशेष तुल दिया जा रहा था।"[2] लेखक ने वेश्याओं द्वारा अन्याय के विरुद्ध प्रदर्शन तथा थाने पर पथराव करने को लेकर उनकी जागृति और क्रान्ति का संकेत बताया है। कुछ लोग सही जानकारी पाने

[1] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - भूमिका

[2] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.11

के लिए पुलिस थाने और चकलाघरों की ओर जा रहे थे। "इबादतपुर का थाना और वेश्यालय दोनों पुराने शहर में ही थे। जितना पुराना वेश्यालय था उतना ही पुराना थाना, रंडियों का बाजार और पुलिस स्टेशन दोनों ही नये पुराने शहर के बीच में थे"।[1] वेश्याओं का आक्रोश थानेदार और सिपाईयों पर था। इनके जुल्म और अन्याय से ही वेश्याओं ने थाने को घेरकर पथराव किया। यह कल की बात थी, आज सही जानकारी पाने के लिए पत्रकारों ने थानेदार और सिपाईयों को घेर कर सामूहिक रूप से पूछा- "हम पुछते हैं कि कल रात थाने का वेश्याओं ने घेराव क्यों किया?"[2] इन प्रश्नों का सही उत्तर पत्रकारों को नहीं मिल सका क्योंकि थाने के सभी कर्मचारी गोलमाल जवाब देते रहें। पत्रकारों के प्रश्न और बात करने का ढंग कुछ कमजोर ही रहा वे पुलिस से कुछ उगलवा नहीं सके अंत में निराश होकर पत्रकारों ने वेश्याओं के कोठे पर जाकर जानकारी हासिल की। 'प्रजातन्त्र' की प्रेस रिपोर्टर रश्मि भी पत्रकार समूह के साथ वेश्याओं के कोठे पर जाती है। सभी को उम्मीद थी कि वहां जाने पर अधिक जानकारी मिलेगी जिसे वह स्टोरी के रूप में फोटो सहित छाप सकेंगे। उपन्यास में वेश्याओं के कोठों के प्रति भावना इस तरह व्यक्त हुई है- "इस बाज़ार में नीचे पानी बिकता था ऊपर आग़। आग़ घौसलो में सुरक्षित थी। घौसले जलते न थे। वहां कुछ और ही जलता पिघलता था और पिघलते हुए आस-पास बहता था।"[3] एक वेश्या रश्मि से कहती है- "इन मर्दों ने ही तो हमारे जिस्मों को भट्टी बना दिया है। हम भीतर-बाहर से खूब जलती है। कहते-कहते वह भाहुक सी होने लगती थी।"[4] वेश्याएं अश्लीलता के साथ रश्मि और अन्य पत्रकारों से बातें करती हैं। यह पूछने पर कि- "कैसा लगता है नया शहर?" वे कहती है- "नई ससुराल की तरह। हर रात में मरद आते हैं, तपाते हैं, सताते हैं और तड़पते हुए हमें छोड़ जाते हैं स्साले। हर रात

---

[1] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.12
[2] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.12
[3] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.19
[4] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.26

हमारे लिए नई होती है।"[1] शबनम बाई के कोठे पर जाने के बाद पत्रकारों को जानकारी मिलती है, शबनम मुसलमान नहीं हिन्दू थी, इतिहास विषय में एम.ए. थी एक नवाबजादे ने प्रेम करके बेवफाई की और उसे वेश्या बना दिया था। पार्वती नामक वेश्या को उसके प्रेम ने देवदासी बनाया फिर उसे चकले में भेज दिया। पार्वती दलित जाति की दक्षिण भारतीय लड़की है। दलितों की बेटी को देवदासी बनाने की परम्परा के कारण पार्वती को भी इस तरह वेश्या का जीवन जीना पड़ा। हसीना अनाथालय में ही पली बड़ी थी। वह अनाथालय से भाग कर वेश्या के कोठे पर आ गयी थी क्योंकि अनाथालय में सरकारी अधिकारी उसका यौन शोषण करते थे। वेश्यालय में अपनी इच्छा से और रुपया लेकर देह व्यपार किया जाता है। शबनम अनाथालय की तुलना में वेश्या के कोठे को अच्छा मानती है। वेश्या के कोठे से भागने पर मुमताज पुलिस द्वारा पकड़ी जाने से पुलिसवालों ने ही उसका यौन शोषण किया था। मुमताज के साथ वहा दो रात देह उत्पीड़न चला। फूल नाम की वेश्या एक बेटे की माँ है। रोटी की भूख के लिए वह भी देह व्यापार करती है। पुलिसवाले वेश्याओं के कोठे से अपना हस्ता वसूल करते हैं।

सुबह कमरा साफ़ करते समय पलंग के नीचे से पार्वती को दस हजार रुपये मिलते है जिसे शबनम और पार्वती ग्राहक की अमानत मानकर लौटा देते हैं। लेखक ने यह उनके बीच इंसानियत होने का चित्रण बताया है। वेश्याएं दुखी है, अभाव ग्रस्त है, रोटी के लिए देह व्यापार करती है, मगर वे बेईमानी नहीं करती है। दल्ले द्वारा लाई गई लड़की को शबनम कैद में रखकर वेश्या नहीं बनाती बल्कि उसे वहाँ से निकल जाने का अवसर प्रदान करती है। राष्ट्रीय पर्व पर राष्ट्रीय अवकाश की बात वेश्याओं द्वारा कहना भी विशेष बात है। उपन्यास में कही उन्हें राष्ट्र की वधू कहाँ गया है कहीं उन्हें राष्ट्र की बेटियाँ। इस रूप में राष्ट्र का कर्तव्य है कि उन वेश्याओं की समस्या का समाधान राष्ट्रीय स्तर पर किया जाए, इस सन्देश के साथ लेखक ने वेश्या

---

[1] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.28

मुक्ति का भी सन्देश दिया है। शहर से आया एक पत्रकार सुमीत अचानक हिन्दू-मुस्लिम दंगे फूट पड़ने से अपनी जान बचाता हुआ अनजाने में ही एक कोठे में चला जाता है। कोठे पर जाकर जब वह वेश्याओं को देखता है तो उसे वे सामान्य गृस्त औरतें दिखाई देती हैं। लेखक कहते हैं- "परिस्थितिवश आज वह वेश्याओं के बीच था। पर लगता नहीं था कि उन राष्ट्र की बेटियों में वेश्या भाव थे। भारतीय समाज में जैसा आम परिवारों में होता है वैसा ही पुरुष हीन इस परिवार में भी उसने महसूस किया था। महिलाओं के भीतर शर्म और हया शेष थी। उनकी भाषा हाव-भाव सभी कुछ वैसा ही था जैसे आम गृहिणीयों में होता है।"[1] यहाँ वेश्याओं में लेखक आम गृहिणी को देखना प्रगतिशील दृष्टि का परिचायक है। उस सुमीत को वहाँ अच्छा व्यवहार मिलता है वह शबनम बाई के कोठे पर ही रहता है। इस बीच पार्वती और सुमीत के बीच प्रेम पलने लगता है। सुमीत को शबनम अपना बेटा मान लेती है और उसे पार्वती का ख्याल रखने के लिए कहती है। शहर में दंगों के कारण कर्फ्यू लगा है, बाहर जाना मना था। शबन बाई के कोठे पर स्टोव में तेल न होने के कारण खाना नहीं बन पाता है। सभी भूखे है। सभी की वेदना को देखकर सुमीत मिट्टी का तेल लेने जाता है तो पुलिस इंस्पेक्टर उसे दंगाई मानकर थाने में बंद कर देता है, उधर सुमीत के न लौटने से सभी वेश्याएं परेशान होती है। शबनम बाई और पार्वती सुमीत से मिलने थाने जाती है। वहां पुलिस का अन्याय देखकर राष्ट्रपति को टेलीग्राम भेजती है- सभी वेश्याएं संघर्ष के लिए तैयार हो जाती है। 'प्रजातंत्र' अखबार की टीम भी अधिकारियों के साथ आती है। क्षेत्र के विधायक और विपक्ष के नेता भी आते हैं। थाने को घेर कर प्रदर्शन किया जा रहा था। प्रजातंत्र अखबार थाने के घेराव और प्रदर्शन की बात की स्टोरी बनाकर, छापकर लोगो में बांट देता है। राष्ट्रपति स्वयं एबादतपुर के थाने में आते हैं। इसके पहले थाने पर पथराव किये गए प्रदर्शकारी वेश्याओं पर पुलिस लाठी चार्ज करती है उसमें शबनम बाई भी घायल होती है तभी राष्ट्रपति थाने में पहुँच कर सुमीत और पार्वती को स्वयं रिहा कर देते हैं। शबनम बाई वेश्याओं को

[1] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 77

वेश्यामुक्ति का सन्देश देती है। वह कहती है इस पेशे से सबको बाहर जाने की जरूरत है। मोहनदास नैमिशराय ने वेश्याओं को राष्ट्र की बेटी कहकर सम्मान दिया है। पर कही-कही उपन्यास की कथा अतिशोक्ति पूर्ण लगती है जैसे राष्ट्रपति का खुद थाने में आ कर सुमीत और पार्वती को रिहा करना तथा भाषिक विश्लेषण करते समय इस उपन्यास की भाषा पात्रानुकूल नहीं है। इस पर वेद प्रकाश भी टिप्पणी करते हैं- "उपन्यास का शिल्प रिपोर्ताज या शोध पत्र के शिल्प से अलग होता है। जहाँ शोध पत्र में लेखक के विचार प्रमुख होते हैं। अन्य बाते गौण है वही उपन्यास में पात्र और उसका घात संघात, घटनाओं की प्रगति प्रमुख होती है। विचार पात्रों और घटनाओं के चयन के जरिये व्यक्त किये जाते है। उम्र, स्थान, शिक्षा, सामाजिक स्थिति आदि के कारण पात्रों का व्यवहार भाष-बोली आदि अलग-अलग होती है। इस कुशलता को हासिल करने के लिए रचनात्मक धैर्य की जरूरत होती हैं। और वे आगे कहते हैं यदि इस उपन्यास को औपन्यासिक प्रामाणिकता की कसौटी पर देखे तो यह उपन्यास खरा नहीं उतरता। सभी पात्र एक सी भाषा बोलते हैं। सुमीत कस्बाई पृष्ठ भूमि से आया एक पत्रकार है, शबनम बाई पुराने विचारों की वेश्या है लेकिन दोनों की एक जैसी भाषा है। लेखक अपनी बात कहने को इतना व्यग्र है कि वह पात्रों को पूरा विकसित होने नहीं देते। शिग्र नतीजे निकालना चाहता है। किस तरह समय, स्थान, उम्र, कारोबार आदि के कारण भाषा आदि बदलती है इसे आमृतलाल नागर और मनोहरश्याम जोशी के कथा साहित्य से बहुत कुछ सिखा जा सकता है।"[1] हर एक रचना की कुछ खामियाँ होती हैं। इन खामियों के बावजूत यह उपन्यास एक ज्वलंतसमस्या को लेकर लिखा गया इसी में इसकी सार्थकता है, अभाव लाचारी और गरीबी के चित्रण के साथ-साथ वेश्याओं की क्या स्थिति रहती है इसका आँखों देखा चित्रण मिलता है।

---

[1] अपेक्षा –वर्ष – 9 अंक -30,31 जनवरी - जून 2010 - पृ.सं. 59

1.1.7 मिस रमिया

कावेरी का पहला उपन्यास 'मिस रमिया' 2007 में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास कई मायने में महत्त्वपूर्ण है। एक तो अब तक के दलित साहित्य में महिला द्वारा उपन्यास नहीं लिखा गया था, कावेरी ने उपन्यास लेखन की शुरुआत कर एक नया मोड़ दिया। अब तक के दलित उपन्यासों की तुलना में यह स्त्री प्रधान उपन्यास है। इस उपन्यास के माध्यम से कावेरी दलित पिछड़े समाज को एकजूट होकर संघर्ष करने की बात करती है।

इस उपन्यास की शुरुआत दो बालिकाओं के संवाद से शुरू होती है जिसमें गहरी दोस्ती है जो उपन्यास के अंत तक बरकरार रहती है। श्यामली पिछड़े समाज की प्रतिभाशाली बालिका है और रमिया प्रतिभाशाली दलित बालिका। दोनों की दोस्ती स्कूल तक सीमित न रहकर आपसी पारिवारिक संबंध तथा प्रेम, विश्वास पर आधारित है। दोनों की दोस्ती सामान्य बालिकाओं की तरह स्कूल में होती है। दोनों एक ही कक्षा में एक दूसरे के आस-पास बैठती है। रमिया और श्यामली एक ही गाँव की है पर उनकी बिरादरी अलग-अलग है। श्यामली कायस्थ टोली से और रमिया दलित बस्ती की लड़की है। रमिया एक दलित लड़की होने से श्यामली से हमेंशा संकुचित और सहमी सी रहती थी पर यहाँ लेखिका यह बताती है कि रमिया दलित हुई तो क्या हुआ, थी तो एक इन्सान ही 'रमिया जितनी सहमी रहती थी श्यामली उतनी ही आत्मीयता से उससे बातें करती थी।"[1] रमिया और श्यामली के बीच जब जाति आड़े आ जाती है तो श्यामली रमिया का साथ नहीं छोड़ती बल्कि और वह गहरी दोस्ती निभाती है। स्कूल में प्यास लगले पर स्कूल के अन्दर बने कुएं पर पानी पीने के लिए जैसे ही रमिया बाल्टी उठाकर लाई- "उठाते ही उसे एक गर्जन भरी डांट सुनाई पड़ी। अरे तू कौन है? बाल्टी छू दी" बगुलीवाला गर्दन को डंडे में फसाकर

[1] मिस रमिया - कावेरी पृ.सं. 7

टीकाधारी मास्टर ने उसे अपनी ओर खींचा और तड़ातड दो झापड़ दिए"।[1] इस घटना ने रमिया का बाल मन रो उठा और रमिया बीमार पड़ गई, रमिया के स्कूल न आने पर श्यामली, रमिया के घर जा पहुंची, रमिया की बुरी हालत देख श्यामली ने रमिया की माँ को बताया 'चाची एगो टीका लगवले मास्टर हाथिन न वह रमिया को बालटिया छुयेसे मार लात्थिन। हल हमनी के लगत हल पानियों न पीली हल श्यामली रमिया का एक साथ स्कूल जाने, एक साथ तालाब में नहाना, एक साथ मंदिर में जल चढ़ाना, जंगल से बेर तोड़कर खाना आदि साथ-साथ करते हुए दोनों मिडिल स्कूल पास करती हैं। यह दोस्ती सतही दोस्ती नहीं है। यह दोस्ती दो जातियों एवं दो वर्गों की है, दलित और पिछड़े वर्ग की है।

श्यामली और रमिया के दोनों परिवारों में एक खास बात यह है कि दोनों ही परिवारवाले इन दोनों को पढ़ाना चाहते हैं। विद्यालय गाँव की पहुँच से दूर है, गाँव वाले तरह-तरह की बातें बनाकर लड़कियों को पढ़ने से रोकने के लिए बाधा डालते हैं, पर वे रुकती नहीं है दोनों आगे बढ़ती जाती हैं। रमिया और श्यामली का तीसरा सहपाठी दलित समाज का लड़का और उनका दोस्त बैजू भी है। पढ़ाई में होशियार और सीधा-साधा लड़का जो स्वभाव से शांत है। इन तीनों में गहरी मित्रता है। श्यामली बैजू से प्रेम करती है पर ये दोनों ही समाज के बनाए रिवाजों को तोड़ नहीं सकते। श्यामली की शादी कहीं और हो जाती है बैजू शादी नहीं करता। दोनों ही समाज की जातीय दुश्मनी को जानते समझते थे क्योंकि दोनों ने ही बचपन से इस तरह की दुश्मनी का अनुभव किया था। एक बार जब श्यामली, रमिया और बैजू जंगल में बेर तोड़ने जाते हैं तब गाँव के आवारा लडके तरन, अनुज और शंकर जो कि उच्च जाति से संबंध रखते हैं, तीनों बैजू को घेरकर बहुत मारते हैं। मार खाकर बैजू बीमार पड़ जाता है तब रमिया और श्यामली दोनों उसे देखने आते हैं। बैजू शमी को घर आया देखकर डर जाता है, उसे भय है कि कही किसी को पता चला शमी बैजू

[1] मिस रमिया - कावेरी - पृ.सं. 7

को देखने उसके घर गयी तो गाँव में बवाल हो जायेगा। लेकिन श्यामली बहादुरी से कहती है- "मुझे किसी की परवा नहीं। वे आवारों की तरह घुमते हैं। काला अच्छर भैस बराबर है। ऊपर से पण्डित कहलाने के अधिकारी है, क्योंकि बाप दादा पंडित कहलाते आये हैं। बिना गुण के। लेकिन मेंरी नजर में तो तुम ही पण्डित हो। मैं मूर्खों की लिखी बातों पर विश्वास नहीं रखती। इन लोगों ने कौनसा नियम बना रखा है कि पण्डित पीढ़ी-दर-पीढ़ी पण्डित ही कहलाएं जब कि एक अक्षर का ज्ञान नहीं है और दूसरे वर्ग के लोग वास्तव में पण्डित रहते हुए भी अपने पूर्वजों के रंग में ही रंगे रहे। पण्डित जो लिख गया उसे लिखते समय कुछ शर्म हया थी या नहीं। मानवों के प्रति यह घनघोर अन्याय। जो मानव के साथ मानव होकर यह अन्याय किया है क्या यह नीच नहीं? क्या मानव होकर मानव का रक्त पीता रहा यह नीच नहीं? कुछ को अपने स्वार्थवश स्पर्शीय बताया और कुछ को कीड़ें-मकोडों, कुत्तें-बिल्ली से भी बढ़कर समझा। कुत्तें-बिल्ली इनके घर में आसानी से घुसकर दही-दूध पी जाये, वही लार लग जाए तो दरवाजा धुलवाएँ। क्या यही मानवता का धर्म है? आखिर किस बात पर यह जाति का वरन् कर रहे थे? मैं पंडितों के बच्चों से पूछना चाहती हूँ। गाय-बैल, सूअर, घोड़ा खानेवाला पण्डित भूल गया अपनी बात, वैदिक युग का वर्णन देखों, इन लोगों ने क्या नहीं खाया? अपने को सब दिन चतुर समझा। यही सब खान-पान का वर्णन वेदों में लिखा है, जिसको (लोग) दूसरे वर्ग को सुनने नहीं देते थे कि हमारा ढोल-पोल न खुल जाये। अरे पाखंडियों एक दिन मानव में मानवता का जागरण होगा और गले में घंटियाँ बाँधना, कान में रांगा पिघलाकर भर देना, जीभ काट देना, बदला एक-एक कर चुकाया जाएगा। नहीं तुम्हारे जैसे निसाचर वे लोग नहीं होंगे। मानवता का ज्ञान इनके पास है जैसा मैं बैजू में अनुभव करती हूँ।"[1] श्यामली का उदघोष 'एक-एक कर बदला चुकाया जायेगा' मात्र उदघोष ही नहीं है, वह आने वाली नई पीढ़ी का चुनौती भरा स्वर है जो समाज में व्याप्त होगा पंडितों के रीतिरिवाजों, आडंबर पूर्ण विवेकहीन जातीय चेतना के खिलाफ बिगुल बजा चुकी है।

---

[1] मिस रमिया - कावेरी - पृ.सं.14

दलित समाज अब और अत्याचार सहने के लिए तैयार नहीं है। इसी अंश से उपन्यास लेखिका कावेरी दलित चेतना के बीज बोती हुई वह फसल तैयार करती है। जहाँ रमिया अपने पर हुए अत्याचार का बदला मास्टर ए.के. सिंह को क्षमादान करके चुकाती है। दलित आन्दोलन के नई क्रांति की फसल मिस रमिया है जो पूर्ण रूप से अम्बेडकरवादी विचारों से परिपक्व है। रमिया को हर जगह जातीय द्वेष झेलना पड़ा। जब रमिया पहली कक्षा में थी तब से लेकर अध्यापिका बनने तक न जाने कितनी बार उसका दलित होना ही अपराध बना। बारहवी कक्षा पास होने के बाद श्यामली की शादी हो गई और रमिया ने विद्यालय में गरीब बच्चों के लिए स्कूल खोला। पर किसी दलित लड़की के लिए स्कूल खोलना आसान है क्या? जब विद्यालय में सौ बच्चें हो गए विद्यालय अच्छी तरह से चलने लगा तो गाँव के माधों चाचा उसे हड़पने के लिए तैयार हो गए। अपनी बहू मधु को हेडमास्टर बनाकर ले आये। स्कूल नियमित कराने के लिए हर संभव प्रयास करने लगे। माधों चाचा और उसकी बहू रमिया से इस तरह चिड़ने लगे कि उसकी हत्या करने के लिए शंकर, अवध और रतन को पैसे दिए गए, शराब पिलाई गई। परन्तु योजना की भनक श्यामली को लग जाने से श्यामली और बैजू दोनों ने इन तीनों का बहादूरी से सामना किया। 'अचानक स्वर की आवाज हुई। बैजू ने अपना डंडा संभाल लिया। श्यामली ने भी हाथ में झाड़ू पकड़ ली शराब के नसे में धुत्त रतन, शंकर और अवध रमिया का दरवाजा जोर-जोर से पीटने लगे। बैजू ने तानकर ऐसा डंडा चलाया शंकर और रतन एक साथ गिरे। अवध को शमी ने झाड़ू से ही होश ठिकाने लगा दिया। तीनों जाने बचाकर भागे'।[1] लेखिका ने गाँव में होने वाले अत्याचारों का बखूबी चित्रण किया है । गाँव में पढ़ी-लिखी दलित बालिकाओं का दमन तथा उनकी बेइज्जती कर हत्या कर दी जाती है पर किसी के कान में जूं तक नहीं रेंगती। रमिया गाँव में होने वाले अत्याचारों से बचने का रास्ता निकालती है 'ऊँची शिक्षा लिए बिना कोई आगे नहीं बढ़ सकता' यह रास्ता अम्बेडकरवाद का है। डॉ. अंबेडकर ने नारा दिया था कि शिक्षित बनों, संघठित रहो,

[1] मिस रमिया - कावेरी - पृ.सं.87

संघर्ष करों। आगे बढ़ने का तथा समाज में स्थान बनाने का रास्ता शिक्षा ही है। रमिया और शमी ऊँची शिक्षा ग्रहण करने के लिए रांची के शिक्षण-प्रशिक्षण कालेज में दाखिला लेती हैं। शमी क्योंकि कायस्थ है उसको होस्टल में कोई परेशानी नहीं होती पर रमिया का कोटे से जानकर होस्टल की छात्राओं और वार्डन का दुर्व्यवहार शुरू हो जाता है। होस्टल की सीनियर श्यामली को धमकाते हुए कहती है-"तुम अपने साथ एक एस.सी. लड़की को सुलाती हो।" श्यामली जवाब देती है- "क्यों क्या हुआ हम दोनों बचपन की साथी है। एक गाँव की एक साथ पढ़ी-लिखी है और आपस में अच्छा संबंध है" सीनियर ने मुह बिचकाते हुए कहा "तुम भी कायस्थ हो या उसी जाति की?" श्यामली उनको डाटते हुए कहती है "आपको इससे क्या मतलब यहाँ शिक्षक का प्रशिक्षण लेने आये है या जात-पात देखने। आप एक शिक्षिका बनकर क्या करेंगी।"[1]

भारतीय समाज में देश के भविष्य निर्माण करने वाले ही सबसे ज्यादा जाति के पोषक हैं। द्रोणाचार्य द्वारा एकलव्य का अंगूठा ले लेना इस बात का प्रतिक है कि हमेंशा से सवर्ण वर्ग के मठाधिस दलितों वंचितों से उनकी प्रतिभा छिनते आये हैं, अपनी प्रतिभा के कारण ही कई बार इन दलितों वंचितों को अपने प्राण तक देने पड़े। पर रमिया को यह सारी घटनाएं मजबूती प्रदान करती है, और अधिक संघर्ष करने के लिए प्रेरित करती है। आखिर संघर्ष जो उसे रमिया से 'मिस रमिया' के सम्मान की सीडी तक पहुँचाता है। वह अध्यपिका बनने के बाद जातीय विद्वेष के खिलाफ तनकर खडी हो जाती है। रमिया विद्यालय के सांस्कृतिक कार्यक्रम की अध्यक्ष है और उसने जिला स्तर पर होने वाले 26 जनवरी के कार्यक्रम में भाग लेने के लिए छात्राओं से बड़े मनोयोग से कार्यक्रम तैयार करवाया। कार्यक्रम में अन्य स्कूलों के छात्रों के कार्यक्रम हुए पर मिस रमिया के स्कूल का कार्यक्रम ही नहीं हुआ। रमिया यह पूछने के लिए प्रोग्राम इंचार्ज मी. प्रसाद के पास गयी। कार्यक्रम की भीड़ घटने के बाद मी. ए.

[1] मिस रमिया - कावेरी - पृ.सं.89

के. सिंह से पूछा- “प्रसाद साहब कहा गए हमारे बच्चों का कार्यक्रम क्यों रोक दिया” इतना पूछते ही भीड़ में से ए. के. सिंह चिल्ला उठा- “चुप एकदम चुप, जाकर अपने प्रधान अध्यापक से पूछों” मिस रमिया ने कहाँ- “ज़रा मूह संभलकर बात करिए” इस पर उन्होंने टीस दिखाकर कहाँ- “हराम जादी अपने-आप को क्या समजती है”?[1] वे मिस रमिया पर ऐसे झपट रहे थे मानो जान से मार देंगे। रमिया ए.के. सिंह के व्यवहार से दंग रह गयी, कार्यक्रम प्रस्तुत न होने के कारण से अभी तक अनजान थी शायद उस कार्यक्रम को रद्द करने का कारण एक दलित अध्यापिका द्वारा तैयार करवाना ही होगा।

रमिया संघर्ष की मशाल उठाती है वह ठान लेती है कि अब किसी से नहीं डरेगी। जब वह ए.के. सिंह की शिकायत करती है तो रमिया पर दबाव डाला जाता है कि वह उसकी शिकायत वापस ले, चारों तरफ से दबाव बन रहा था। रमिया उस दबाव के आगे ना झुककर अपने समुदाय के लोगों और दलित सामाजिक संगठनों की मदत से अपना अधिकार मांगती है। रमिया अब कमजोर नहीं रहीं, वह अब न्याय के लिए डट कर लड़ रही थी। रमिया की हिम्मत और अडिगता ने ए.के. सिंह के पैर उखाड़ दिए। वह रमिया के पैरों में गिर कर माफ़ी मांगना चाहता है क्योंकि उसकी नौकरी अब खतरे में है। पर रमिया का मानना है जब बेइज्जती सबके सामने की है तो माफ़ी भी सबके सामने मांगनी पड़ेगी। अंत में रमिया अपने चरित्र की ऊँचाइयों तक पहुँचते हुए ए. के. सिंह को अभय दान देती है। इस संघर्ष से उसके चरित्र के कईं पहलू निकलकर आते हैं। वह अविवाहित रहकर समाज सेवा करने का संकल्प लेती है। रमिया के गाँव का स्कूल चल रहा है और रमिया को स्कूल में 14 अप्रेल पर आने का निमंत्रण ही श्यामली ही देती है।

रमिया गाँव आकर बाबासाहब की कहानी सुनाती है, रमिया का ‘अंबेडकर की कहानी सुनाना’ एक प्रतिकात्मक घटना भी है। अंबेडकर का पहुँचना यानी

[1] मिस रमिया - कावेरी पृ.सं. 96

अंबेडकरवादी विचारधारा का गाँव तक पहुंचना है। अंबेडकरी विचारधारा का अर्थ है शिक्षा, संघठन और अन्याय, अत्याचार के खिलाफ संघर्ष है। श्यामली और बैजू के संवाद भी अंत में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अनायास बैजू के मुख से निकलता है- "राजाराम मोहनराय, राम कृष्ण परमहंस, रविन्द्रनाथ जैसे समाज सुधारक थे, वैसे बनो तुम मिस रमिया"। परन्तु श्यामली ने बताया "मिस रमिया तो बाबासाहब का मिशन चलाती है। उनका मानना है कि वह बाबासाहब की तरह लोगो में दीप जलाएगी। मानव को मानव समान समझे और अपना कर्तव्य पूरा करे उनमें इस भावना का संचार करेगी"।[1]

लेखिका द्वारा उपन्यास का समापन भी अंबेडकरवादी विचारधारा के स्थापना के साथ समाप्त होता है। आज दलित आन्दोलन व्यक्तिगत प्रयासों से ही आगे बढ़ रहा है। आज भी दूर दराज के गावों में, जंगलों-पहाड़ों में, अंबेडकरवादी विचारधारा की परचम फहराते हुए दलित नेतृत्व जनमानस में शिक्षा, संघठन और संघर्ष के लिए काम कर रहा है। मिस रमिया भी उनमें से एक है। उपन्यास जितने साधारण कथानक समेंटे हुए मंतर गति से आगे बढ़ता है, प्रभाव भी उतना ही गहरा छोड़ता है। दलित महिला लेखन की दृष्टि से कावेरी का 'मिस रमिया' दलित साहित्य में अपना विशिष्ठ योगदान देता है।

1.1.8 थमेंगा नहीं विद्रोह

आज से पचास वर्ष पूर्व के कालखंड को केंद्र में रखकर उमराव सिंह जाटव ने 'थमेंगा नहीं विद्रोह' उपन्यास की रचना की है। प्रस्तुत कृति में दिल्ली से सटे उत्तर प्रदेश के बुलंद शहर, नोयडा व दादरी नामक क्षेत्रों के आस-पास बसे और विशेष रूप से दरियापुर गाँव के सामन्ती जीवन का गहराई से चित्रण हुआ है। लेखक ने आपनी बात में स्पष्ट किया है कि "आज का दलित सिर झुकाकर अब और इन अत्याचारों को

[1] मिस रमिया - कावेरी पृ.सं.112

सहन नहीं कर सकता है। अत्याचारों से दो-दो हाथ करने की कला और क्षमता अब उनके पास भी है... बाबासाहब के दिए मूल मन्त्र में से बाकी दो को तो अपना लिया है इन्होंने 'संगठित हो' को भूल गए है"।[1]

समाज के विभिन्न स्तरों पर विभेदिकरण होना कोई नई बात नहीं है। यह उतनी ही पुराणी है जितना मानवीय समाज। लेकिन इसके बावजूद भारतीय समाज के विकृत चेहरे को बहुत ही कम रचनाएँ ही सही तरह से दिखा पाई हैं। लेकिन इसके विपरीत ऐसी एक रचना है 'थमेंगा नहीं विद्रोह' जिसने समाज की मानसिकता को समझने और समझाने का सार्थक प्रयास किया है। यह आजादी के बाद लोगों के दिलों दिमांग में उपजे सपनों की पूर्ति न होने की परिणति का सफलता से चित्रण करती है। रचना हमें यह अहसास करवाती है कि आजादी के बीस-पच्चीस वर्ष बाद की युवा मानसिकता आजादी से क्या अर्थ ग्रहण कर रही है। उस के आस-पास के वातावरण में जो गर्द जिंदगी फैली हुई है, वो कम होने की बजाय निरंतर बढ़ी है। समाज का सम्पन्न वर्ग निरंतर सम्पन्नता की ओर अग्रसर हुआ तो निर्धन अभाव ग्रस्त सामाजिक रूप से निम्नता की पहचान से चिन्हित वर्ग को संविधान प्रदत्त अधिकारों और राजकीय सुविधाओं से जो लाभ प्राप्त होने चाहिए थे, वो भी ठीक उसी तरह लागू नहीं हो पाए जैसे निर्देशित थे। आजादी के बाद बनने वाली सरकारों को एक तरफ सामाजिक क्षेत्र में क्रांतिकारी कदम उठाने की मानसिकता का निर्माण करना था तो दूसरी तरफ सामाजिक अन्धविश्वासों, जातीय परम्पराओं और धर्म की जटिल परम्पराओं का सामना करते हुए लोकतान्त्रिक-समाजवादी ढाँचे का निर्माण करना था क्योंकि संविधान ने इन्हें यही आदेश दिया था इसी में सामाजिक रूपांतरण की संभावना झलकती थी। एक तरफ नयापन था, नए पत्तों का आगमन हो रहा था तो साथ ही सामाजिक धार्मिक जड़ताएं इसके मार्ग में बाधा बनी हुई थी जो इन पत्तों को मुरझा देने के लिए तत्पर थी। इन्हीं विरोधाभासी परिस्थितियों के बीच एक ऐसी

---

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - अपनी बात

मानसिकता से समाज, देश का परिचय हो रहा था जो सरकारों द्वारा संविधान को समुचित रूप से लागू न करने पर सवाल उठा रही थी। संविधान को सही रूप से लागू करवाने के लिए नए संघर्ष की रूपरेखा तैयार हो रही थी। इसी संघर्ष को नई समझ में पिरोकर पेश करता है 'थमेंगा नहीं विद्रोह'। यह एक प्रतिक्रिया है उन सवालों के प्रति जो उठाये गए थे आजादी के समय मगर इन्हें हल करने में सरकारों ने वैसी रूचि नहीं दिखाई जैसी उनसे अपेक्षा थी।

दरियापुर प्रतीक है पूरे देश की उस सत्ता का जिसने वंचित लोगो को न्याय देने में रूचि नहीं ली और इनके राजनैतिक अधिकारों का प्रयोग बेरोकटोक खुद ही करते रहे। इन्होंने अपनी सत्ता को बरकरार रखने के लिए वंचित समाज को सपने दिखा-दिखाकर निरंतर जाल में उलझाये रखा। कभी आरक्षण के नाम पर, कभी नौकरियों के नाम पर, कभी मुफ्त खर्चा और वजिफे के नाम पर लेकिन इनके बदले इनसे क्या ले रहे थे वंचित, सत्ताहीन, उत्पीड़ित व त्रस्त समाज ने इस पर कोई मंथन नहीं किया। लेखक समाज में उग रहे कारणों का विश्लेषण करते हुए हमें उन स्थिति में ले जाना चाहते हैं जहाँ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ इन सवालों पर गहन विमर्श है। क्यों समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा किसी जाति विशेष, धर्म विशेष, लिंग विशेष, क्षेत्र विशेष में पैदा होने मात्र से अपमानित हो? और उच्च प्रतिभावान होते हुए भी मात्र आरक्षण तक ही क्यों सीमित कर दिया जाए? साथ ही समाज का एक हिस्सा किसी जाति विशेष, धर्म विशेष, लिंग विशेष, क्षेत्र विशेष में पैदा होने से सम्मानित हो? विशेष प्रतिभावान न होते हुए भी वह कैसे बड़े-बड़े पदों तक पहुँच जाता है। सामाजिक सच्चाई लिखने के साथ-साथ उपन्यासकार समाज में प्रवेश करता है और देखता है कि समाज के बड़े स्तर पर असमानता व भेदभाव व्याप्त है। चाहे अमीर-गरीब के बीच हो, पूंजीपति और कामगार के बीच या चाहे धार्मिक रूप से एक ही समझे जानेवाले हिन्दू समूह के बीच जातीय उच्चता के आधार पर हो। यहाँ देखने में आया है कि जो गरीब है वह

सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से सभी जगह प्रताड़ित है और यही वर्ग समाज में सबसे ज्यादा है। इसके हितार्थ बहुत सी योजनाएँ बनी है लेकिन इसका समुचित लाभ इस वर्ग, जातीय समूह को नहीं मिल पाया। एक तो वह बड़े स्तर पर भूमिहीन है, साधनहींन है, रोजगारहीन है। साथ ही यह बड़े स्तर पर सामाजिक अपमान का शिकार भी है। निसंदेह यह कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म अपनी जाति व्यवस्था द्वारा भारत में दलितों की समस्या को आरंभ करने और उसे और अधिक गहराई तक पहुचाने के लिए उत्तरदाई है।

उपन्यास का नायक लेखक ने दरियापुर गाँव को ही रखा है। इसके अलावा दरियापुर में दरियाव नामक पात्र भी है जो उपन्यास की कुछ कथाओं में नजर आता है लेकिन उसे उपन्यास का नायक या सहनायक नहीं कह सकते। दरियाव दरियापुर की जाटव बस्ती का एक बच्चा है जो किशोरावस्था में अधभरिया रूप में कही भागमली को झूला देता है, कही भागमली की ससुराल सिंधारा लेकर जाता है। थोडा बड़ा होने पर वह रात के अँधेरे में चावली के पास दरियापुर की दबी ढँकी कहानियां सुनने जाता है। अंत में दरियापुर की उसकी बचपन की यादों को बताया गया है। इसके साथ दरियाव दरियापुर से हताश-निराश होकर वहा से पलायन की बात सोचता है। दरियाव ने उपन्यास में कही-कहीं सूत्रधार की भूमिका भी निभाई है। लेखक ने स्पष्ट रूप से दरियापुर गाँव को ही उपन्यास का नायक और खलनायक घोषित किया है। साथ ही दरियापुर को धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक परिचय देने के लिए दरियापुर के अलग-अलग पात्रों की स्वतंत्र कथा बताई है।

उपन्यास के एक प्रसंग में जाटवों के कुएं के लिए किया गया विद्रोह महत्त्वपूर्ण है। कथा प्रसंग 'जाटवों का कुआं, पृ.62 से पृ.94 तक फैली कथा में दलितों पर होने वाले अन्याय अत्यचारों का चित्रण करते हुए उनमें जागी विद्रोह की भावना अंकित होती है। यह जाटवों की बड़ी जीत थी कि उन्होंने सवर्णों से लड़कर और कानून की

ताकत से कुएं पर अपना अधिकार सिद्ध करके सफलता पाई। उपन्यास में दलितों के विद्रोह की शुरुआत थी इस विद्रोह को आगे बढते जाना था। दलित आन्दोलन के साधन और साध्य के रूप में इस विद्रोह को उपन्यास के केन्द्रीय भाव के साथ अंतिम प्रसंग तक प्रतिस्थापित होना था।

उपन्यास का अंतिम प्रसंग- 'लौटना दरियापुर तक और फिर से पलायन' में दरियाव लगभग पन्द्रह वर्ष बाद जब शहर से अपने गाँव दरियापुर लौटता है तब उसे निराशा मिलती है। न तो वह पहले का दरियापुर देख पाता है न ही लोग उसे पहचान पाते हैं। अपने घर परिवार में पहूँचकर वह स्वयं को बेगाना महसूस करता है। दलित बस्ती के कुछ लोग उसके साथ थोड़ा समय बिताकर और थोड़ी बातें करके अपने काम में लग जाते हैं। दरियाव जाटवों के उस कुएं को भी खोज नहीं पाता है जिसके लिए जाटवों ने विद्रोह किया था। जिस संघर्ष और विद्रोह के आधार पर उपन्यास को शीर्षक दिया गया- वह प्रमुख मुद्दा था वह विषय ही गुम हो जाता है। यहाँ दरियाव निराश है और दरियापुर गाँव असमर्थ। यहाँ ह्रदय थम सा जाता है। दरियाव के कुटुंब और परिवार की एक अलग स्वतंत्र कथा सामने आती है। उदास दरियाव सोचता है- "इस दरियापुर से और मिलने की इच्छा समाप्त हो गयी।"[1]

दरियाव कही 'मैं' के रूप में अन्य कथाओं और पात्रों की जानकारी देता है कही उपन्यासकार के रूप में। कही दरियाव के नाम से कभी लगता है उपन्यासकार ही दरियाव है। यह एक उलझी पहेली लगती है। उपन्यास की अपनी मूल कथा भी नजर नहीं आती। 'थमेंगा नहीं विद्रोह' में चावली की कथा सबसे लंबी कथा लगभग 70 प्रष्ठों में है मगर इस कथा में न तो संघर्ष है न ही विद्रोह। उपन्यास की सभी कथाओं का आपसी कोई संबंध नहीं। सभी कथाओं के पात्र भी अलग-अलग हैं।

कालखंड की दृष्टि से उपन्यास की कथा 1947 के पहले की है। जब अंग्रेजों का राज्य था तब से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के 10-15 वर्षों के बीच का काल है। मुंडा के

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव पृ.सं.319

कथा प्रसंग में देविवरण को फांसी देने का विवरण और चावली प्रसंग के समय का अनुमान इसके प्रसंग है।

उपन्यास की भाषा प्रशंसनीय है। उपन्यास का कथा क्षेत्र दरियापुर से दादरी और दिल्ली तक है। उपन्यास में इसी क्षेत्र की बोली और विशेष शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है। कथा प्रसंगों में पात्रानुकूल भाषा है। प्रसंगानुकूल शब्दों का प्रयोग है। दरियापुर की खाला और हमीद की बोली भाषा, शब्द प्रयोग साथ ही चावली की बोली भाषा और शब्द प्रयोग अलग नजर आते हैं। कथा में लोकगीतों को स्थान दे कर भाषा की दृष्टि से उपन्यास को और महत्त्वपूर्ण बनाया गया है। उपन्यास की सभी कथाएँ स्वतंत्र हैं। वे सभी स्वतंत्र और अपने-आप में पूर्ण हैं। इस दृष्टि से 'थमेंगा नहीं विद्रोह' उपन्यास की अपेक्षा स्वतंत्र कथाओं का संग्रह प्रतीत होता है। ये सभी कथाएँ दरियापुर के दलितों के दीन-हीन और शोषित पीड़ित अभावग्रस्त जीवन को अभिव्यक्त करती है।

दरियापुर भी जाटव दलित जाति के पात्रों की कथाओं के साथ भंगी जाति की चावली की कथा लेखक ने विस्तार के साथ बताई है। दरियापुर के खाला और हमीद आदि कुछ मुसलमान पात्रों की कुछ कथा भी बताई गई है। गुजरों द्वारा दलितों पर किये गए अन्याय की कथा 'जाटवो का कुआँ' प्रसंग में जाटव कुएं के लिए संघर्ष करते हैं और उस पर अपना अधिकार पा लेते हैं। यद्यपि उपन्यासकार कुएं का इतिहास अलग ही बताया है कि यह जाटवों का नहीं बंजारा जाति के लोगों का कुआ था। वहां जाटवों की बस्ती बसने पर उसे जाटवों का कुआं मान लिया था। उच्च शिक्षा और केन्द्रीय ने उच्च अधिकारी की नौकरी के बाद जब दरियाव दरियापुर जाता है तब उसे दरियापुर में वह कुआ दिखाई नहीं देता। जाटवों की एकता के प्रतीक बंजारे के उस कुएं को सबने उसे भुला दिया था। "उसने महसूस किया, अकेले कुए का ही दारुण अंत नहीं हुआ था। दरियापुर के उस समय के जीवों की जिजीविषा का भी अंत हो रहा था

अहिस्ता-अहिस्ता।"[1] उपन्यास का अंतिम कथा प्रसंग- 'लौटना दरियापुर तक और फिर से पलायन' में दरियाव में मानसिक स्थिति लेखक के मन की निराशा प्रतीत होती है। जिस से उपन्यास में व्यक्त विद्रोह का भाव थम गया जैसा लगता है। पूरे उपन्यास में अन्य सभी कथाएं दलित शोषण और नारी उत्पीड़न की कथाएं सार्थक और सफल रूप में चित्रित हुई है। मगर उनमें अंबेडकरवादी विचारधारा और प्रगति परिवर्तन के विद्रोह का भाव व्यक्त नहीं हो पाया है।

उपन्यास में दरियापुर गाँव के गुजरों के विषय में बताते हुए लेखक ने संकलित कथाएं जाटवों के मोहल्लों पर केन्द्रित की है। जाटव मोहल्ला या जटवाड़ा चार मोहल्लों में है जिसे गुजर चमनवाडा कहते हैं। उपन्यास में गाँव के बीच की सड़क, चिवाडे मुकन्ना तालाब और जंगल का उल्लेख बार-बार किया है। लेकिन इनके सिर्फ नामों का उल्लेख है। इन्होने गाँव में क्या-क्या होते देखा- यह नहीं बताया गया। इसलिए दरियापुर गाँव सजीव प्रतीत नहीं होता। गाँव का नाम दरियापुर क्यों पड़ा, यह भी उपन्यासकार को मालूम नहीं है। इसलिए वे इसके इतिहास की जानकारी नहीं दे सके। दरियापुर गाँव निष्क्रिय और निश्चल रहा है। लेखक ने उपन्यास को अंचल विशेष की कथाओं को सफल रूप दिया है। सारी कथाएं रोचक मार्मिक हैं, दलित उपन्यासों में थमेंगा नहीं विद्रोह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें शोषित, पीड़ित, दलित जीवन की कथा और नारी शोषण की कथाओं को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है । 319 पृष्ठों के इस दीर्घ उपन्यास से दलित समाज को अनेक सन्देश दिए गए हैं। यह दलित आन्दोलन से जुड़े दलित साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृति है।

[1]थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव पृ.सं.318

1.1.9 उधर के लोग

अजय नावरिया का उपन्यास 'उधर के लोग' 2008 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की शैली आत्मकथात्मक है अतः कभी नायक द्वारा सुनाई गई तथा कभी सोची गई लगती है। अधिकांश घटनाएँ तो इस उपन्यास की फ़्लैश बैक शैली में ही मिलती हैं। इसकी घटनाएँ इन शब्दों में व्यक्त की जा सकती है- "वाकई सभी अप्रत्याशित घटनाओं को सिर्फ भोगते नहीं है? हम सभी भिन्न मर्जी के इन घटनाओं को अपने सामने खड़ा पाते हैं, यह सुख की होती है घटनाएं दुःख की भी होती है; उल्लास... तांडव ... और हम नियति के सामने मजबूर, झुकी पलकों और खुली आँखों से इसे हम स्वीकार करते हैं।"[1]

उपन्यास की शुरुआत नायक आयशा के साथ बैठे आलीशान रेस्तरां से शुरू होती है। उपन्यास की पूरी की पूरी कहानी अभी अपरिचय के आगोश में ही है कि एक मक्खी न जाने कहाँ से बिना किसी पूर्व सूचना के वहाँ आ धमकती है। नायक बराबर उस मक्खी को भगाने और उस से ध्यान हटाने की कोशिश करता है पर वह जाने का नाम ही नहीं लेती और बराबर वही मंडराती हुई अंततः आयशा (कालगर्ल) द्वारा नायक से पूछे गए इस प्रश्न के साथ चाय के कप में गिर जाती है। "तुम कौन जात हो मास्टरजी"? यह अब तक का अपरिचित परन्तु ठेठ देशी स्वर था। कप के किनारे बैठी मक्खी एकाएक कप में गिर जाती है। इसके पश्चात यह मक्खियाँ उपन्यास में जब तक बिना किसी पूर्व सूचना के यूँ ही आती जाती रहती हैं। और उपन्यास के बहुत बड़े कलेवर पर कब्जा कर लेती है। यहाँ उपन्यासकार मक्खी को चाय में गिरना प्रतिकात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। आगे चलकर उसका अर्थ यह निकलता है "साहब कभी नहीं जाती उसे जाति कहते हैं।" "अर्थात चाहे न चाहे जात भारतीय समाज का सच है"। ऐसा नहीं है कि उपन्यास का पहला सूत्र वाक्य पहले ही

[1] अपेक्षा - जनवरी - जून 2010 पृ.सं.64

दृश्य में दम तोड़ देता है बल्कि यह सूत्र वाक्य पूरी सिद्दत के साथ उपस्थित रहता है। क्योंकि भारत में जाति के प्रश्न को इसी संदर्भ में अल्पसंख्यांक और बहूसंख्यांक के प्रश्नों को लेकर लेखक ने जमीनी सच्चाइयों के साथ प्रस्तुत किया है। यह सूत्र वाक्य इस तरह का है- "जिंदगी को तुम एक छोटे बच्चें की आँख से सिर्फ अचंभे की तरह देखों"।

जब दलित चिन्तकों और आलोचकों द्वारा दलित साहित्य और समस्या के सन्दर्भ में सहानुभूति और स्वअनुभूति का सवाल उठाया गया तब वास्तव में तर्क यही था कि एक लेखक के चाहते और न चाहते हुए भी उसके लेखन में वह समाज और परिवेश आएगा ही जिसका वह स्वयं हिस्सा है तथा जिसके बीच वह आपना जीवन जी रहा है। वह अपने लिखने के लिए कच्चा माल अपने आस-पास से ही लेगा इसलिए नहीं कि वह उस पर ही लिखना चाहता है बल्कि वह निकटता के आधार पर उसके अनुभवों से वह सबको ज्यादा जुड़ा हुआ है उस पर वह पूरे आत्मविश्वास के साथ बातचीत कर सकता है। तथा दूसरे आस-पास के ज्वलंत मुद्दों से जुड़े बिना, उनकी अनदेखी कर वह अपेक्षा कृत दूर के विषयों के साथ न्याय नहीं कर पायेगा। कहने को यहाँ ये भी कहा जा सकता है कि कोई लेखक किसी भी विषय पर तब तक इमानदारी से नहीं लिख सकता जब तक उसका अपना हित या अहित उस से जुड़ा रहेगा। स्वयं उसे तटस्थ हुए बिना उसके मत पर पक्षपात की तलवार लटकती रहेगी। अब उस लेखक की खूबी है कि कैसे इस तलवार की धार पर चलकर उस तरफ साफ़ निकल जाए। पहला उपन्यास होने के बावजूद अजय नावरिया ने स्वयं को इस स्थिति के लिए काफी साध लिया है।

उपन्यास की कथा आज के पढ़े-लिखे नौकरी पेशा दलित वर्ग से संबंधित है जो आरक्षण का लाभ उठाकर आई.ए.एस., आई.पी.एस. और कॉलेज प्रोफ़ेसर बन कर अपने समाज में एक नये मध्यम वर्ग की नीव रख चूका है। उपन्यास में नायक के दोस्तों और जाननेवालों का पूरा कुनबा है। कॉलेज के समय तक उनके बीच ये जातीय

मतभेद इतने दिखाई नहीं देते जितने उनके नौकरियों में जाने के बाद उभरकर सामने आते हैं। “पहले यह सब नहीं था, पर तब हम छात्र थे जब से हम नौकरियों में आये हम लोगों में यह चेतना भी साथ-साथ जाने कैसे विकसित होती चली गयी थी”।[1] दलित वर्ग के इन प्रमुख और बड़े जन समुदाय के बीच संघर्ष का कारण तो यह है कि चमार और जाटव अपने-आप को वाल्मीकियों से ऊँचा मानते हैं। जैसा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है- ‘भारतीय जातीय समाज में हर एक जाति अपने से निम्न एक दूसरी जाति ढूंढ लेती है’। समाज में व्यक्ति और जाति के स्तर पर श्रेष्ठता की दरकार बहुत हावी है। दूसरा कारण यह भी बताया जा सकता है कि एक समय भारत की स्वतंत्रता के साथ आरक्षण की व्यवस्था ने पूरे भारत में बिखरी विभिन्न निम्न दलित जातियों को आपस में जोड़ा था उन्हें एक साथ सूत्र बद्ध करने का अवसर प्रदान किया था वरना इन जातियों के बिच भी अनेक दूरिया थी इस आरक्षण व्यवस्था पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि इसका फायदा कुछ ही जातियों को हुआ है जैसे एस.सी. में जाटव तो एस.टी. में मीणा जाति को अग्रणी समजते हैं।

भारतीय समाज में वर्ग से बड़ा सत्य जाति है। दलित विचारधारा एवं जातियों में विभक्त समाज को दलित और द्विज दो खेमों में बाटकर देखती है। सवर्ण और अवर्ण जातियों को बांधने के लिए दलित और द्विज नाम यह दोनों बंधन सूत्र उनके बिच की यह प्रतिद्वंद्विता बहुत दूर तक ढापने में समर्थ नहीं है। लेखक विचार करता है कि न केवल दलित जातियों के बिच आपस में संघर्ष है बल्कि द्विज जातियों के बिच भी यह संघर्ष ऐतिहासिक रूप से उपस्थित रहा है। “मुझे लगता है कि कोई भी वह जाति दूसरे की मदत नहीं करती जिस के पास खुद की जाति के उम्मेदवार बहूसंख्य में उपलब्ध होते हैं। ब्रह्मण जाटव ही नहीं उत्तर भारत की यह सभी अगड़ी-पिछड़ी जातियाँ इसी तरह बर्ताव करेगी।”[2] जाति और समुदाय के आधार पर अपनी अलग-अलग पहचान का चक्र जब तक चलता है जो प्रायः तभी थमता था जब व्यक्ति

[1] उधर के लोग - अजय नावरिया - पृ.सं.55
[2] उधर के लोग - अजय नावरिया - पृ.सं.57

अकेला रह जाता है। "पर पन्ना, ये अपने वाले खटिक तो नहीं हैं। इनसे हमारे रीति-रीवाज, गोत, बोल-चाल, रहन-सहन खुछ भी तो नहीं मिलता?"[1] कथानायक के भाई के रिश्ते की बात चलने पर उनकी दादी खटीकों की भी अलग-अलग फांग दिखाती है। अलग-अलग स्थानों पर रहने वाली एक ही जाति में लोग रीति-रिवाजों को लेकर जो वर्जनाएँ है उनका क्या किया जाए? वास्तव में पहले यातायात और संचार के साधनों के अभाव में लोग प्रायः अपने आस-पास के क्षेत्रों में ही शादी ब्याह करते थे जिन्हें बाद में नियमों के रूप में देखा गया किन्तु आज ऐसी कोई समस्या नहीं है इसलिए आज इस प्रकार की दूरियों को पाटना पड़ेगा- "अम्मा तू कुछ नहीं जानती। बहुत पहले ये भी राजस्थान से ही निकले थे। जगह के साथ-साथ और जरूरत के हिसाब से धीरे-धीरे इनके रीति-रिवाज बदलते चले गए। पहनावा बदल गया, बोली बदल गई।"[2]

नायक के पिता जिन पर नायक का मोह तर्कातीत है अपने तीनों बेटों की शादी दलित वर्ग की अलग-अलग जातियों में करते हैं और तो और लेखक ने इस संदर्भ में मुस्लिम समाज और दलित इसाई समाज को भी साथ जोड़ने की बात कही है। नायक अपने एक दोस्त फिरोज की शादी अपनी किसी रिश्तेदार वैशाली से करता है। इस पूरी कार्यवाही के पीछे यह भी कहा जा सकता है कि दलित किसी भी धर्म में चला जाए रहता वह दलित ही। इसलिए धर्म बदलकर कुछ नहीं होगा सबसे पहले दलित जातियों को आपस में आपसी मतभेद को दूर करना पड़ेगा। इसलिए अंबेडकर ने अंतर जातीय विवाह का समर्थन किया था। भारत में जाति व्यवस्था के निपटारे की दिशा में यह एक कारगर कदम हो सकता है ऐसा वे मानते थे। शायद इसलिए उहोंने ब्राहमण कन्या से विवाह किया था। हंस में छपी इसी उपन्यास की समीक्षा में दलित चिन्तक कँवल भारती ने इस उपन्यास की आलोचना भी की है। कथा नायक का ब्राहमण कन्या से प्रेम और विवाह सफल नहीं होता। लेखक ने इसे सांस्कृतिक

---

[1] उधर के लोग - अजय नावरिया - पृ.सं.68
[2] उधर के लोग - अजय नावरिया - पृ.सं.68

टकराव के रूप में देखा है जब कि दलित जातियों के भीतर अंतर जातीय विवाह को उचित ठहराया है। उपन्यास में नायक भी एक ओर अपने विश्वासघात से आहत अपनी पत्नी को वापस घर लाना चाहता है, पत्नी और भावी संतान के लिए अपना समस्त प्रेम और जिम्मेदारी निभाना चाहता है। वही दूसरी ओर आयशा के संपर्क में बना रहना चाहता है। हम देखते हैं कि नायक एक ही समय में दो स्त्रियों से संबंध रखना चाहत है वह भी पूरी इमानदारी और भावना के साथ। यह संबंध केवल स्त्री देह के भोग के खातिर नहीं पड़ता बल्कि दोनों से ह्रदय की गहराइयों से जुडा है। क्या लेखक पुरुष के लिए एक से अधिक स्त्री की मांग रखकर भारतीय गृस्त जीवन और स्त्री-पुरुष संबंधों में कोई नई राह तो नहीं निकाल रहा। स्वयं वंदना (नायक की पत्नी) के मुख से लेखक ने कई बार कहलवाया है कि “तुम्हारी जरूरत ज्यादा है तुम एक और रख लो” नायक बराबर दोनों स्त्रियों को अपने जीवन में लाने और बनाए रखना चाहता है उसे इसके लिए कोई अपराध बोध महसूस नहीं होता। वह आयशा के कभी भी बुलाने पर यह जानते हुए एक कॉल गर्ल से संबंधों का क्या परिणाम हो सकता है, फिर भी उसके पास दौड़ा चला जाता है। पाठक भी उत्सुकता में पृष्ठ दर पृष्ठ आगे-आगे बढ़ता रहता है कि यह प्रयोग सफल होता है या नहीं? लेखक संगीता और आयशा के बीच इर्ष्या के भाव के स्थान पर बहनापा जैसा कुछ विकसित कर यह संकेत भी देता है कि वह प्रयोग सफल भी हो सकता है। संगीता एक ओर आयशा दूसरी ओर संगीता नायक से कहती है “आयशा से शादी कर लो वह... अच्छी लड़की है।”

उपन्यास के उत्तरार्ध में जाकर नायक और आयशा के शारीरिक संबंध बन जाने से यह प्रश्न फिर खड़ा हो जाता है कि बच्चे को जन्म देने का निर्णय यहाँ नायक की जिंदगी में संगीता को फिर ला खड़ा करता है तो आयशा से नायक का संबंध उन्हें और निकट ले आता है। फिर आता है क्लाइमेंक्स जहाँ पत्नी संगीता अंततः नायक की जिंदगी में लौट आती है और आयशा समाज कल्याण की राह में अपने प्यार को

सार्थकता प्रदान करने चली जाती है। इसके साथ ही नायक के साथ लेखक का यह नया प्रयोग ठहर जाता है। भारतीय समाज में इस प्रकार के प्रयोगों को भली निगाहों से नहीं देखा जाता इसलिए लेखक के अंतर मन में एक दबाव लगातार बना रहता है जो इसे अनायास ही दोनों स्त्रियों में से पत्नी संगीता की ओर झुकने को बाध्य करता है।

इस उपन्यास में महानगरों के पश्चात कस्बों और गांवों को अपने चपेट में लेनेवाली उपभोक्तावादी संस्कृति के छल- छदम को बखूभी से उकेरा गया है। इस संस्कृति की कार्यप्रणाली पर लेखक की बड़ी पैनी नजर है। यह संस्कृति उपभोक्ता को भूलाने या यूँ कहे फ़साने के लिए नित-नए अडंबर रचती है। आधुनिक युग में अपनी विभिन्न कसौटियों पर फलने-फूलने वाला दलित साहित्य अपनी लंबी यात्रा तय कर चूका है। विभिन्न साहित्यकारों और समाजशास्त्रियों ने दलित समाज और दलित साहित्य के सन्दर्भ में अपनी-अपनी राय कायम की है और उस पर अपने तरीके से काम भी कर रहे हैं। लेखक मानता है कि यदि मानव सुलभ छोटी-छोटी ईर्ष्याओं, स्पर्धाओं और मान-मनोबल को छोड़ दिया जाय तो अंततः सभी बाबासाहब को अपना अराध्य मानते हैं। उपन्यास में लेखक ने अंबेडकर जयंती के अवसर पर नायक द्वारा स्वप्न के माध्यम से देश भर के दलित आन्दोलन की झांकी प्रस्तुत की है। स्वप्न शैली होने के कारण ही इतनी विस्तृत जानकारी यहाँ समेंटी जा सकी हैं। जिससे लगभग पिछले दो शताब्दियों के विभिन्न वैचारिक मतभेद और द्वंद्व यहाँ जगह पा सके है। उपन्यास का कलेवर इन बौद्धिक बहसों से उबाऊ होने से भी बच गया है। इस प्रकार समाज और जीवन के, व्यक्ति और उसके अंतर्मन के अनेक पक्ष समेंटे अजय नावरिया का यह उपन्यास दलित समाज की वह तस्वीर प्रस्तुत करता है जो महानगरीय जीवन में हमारे आस-पास मौजूद है जहाँ रचनाकार और रचना का भेद मिट जाता है।

1.1.10 सुबह के लिए

लोकतान्त्रिक आकांक्षा को रखकर लिखा गया कैलाश चंद चौहान का उपन्यास 'सुबह के लिए' 2011 में प्रकाशित हुआ। लेकिन लोकतंत्र के सामने आज अनेक कठिनाइयाँ है। इस लोकतंत्र में जाति एक बड़ी कठिनाई है। इस जाति को सामाजिक ढाँचे से निकालने के लिए तमाम तरह के सामाजिक कार्यकर्ताओं ने संघर्ष किया जाति को शासक वर्ग ने बेशकीमती शोषित मानव श्रम को कौड़ी के मोल हड़पने के लिए ईजात किया था। श्रमिक जातियों में इस कदर हीन भावना भर दी गई जिस से उनमें मनुष्य होने का एहसास तक नहीं था। इसे स्थाई रूप देने के लिए उन्होंने विभिन्न धर्मग्रथों में अन्याय पूर्ण योजना की गई है। दलित आन्दोलन के पुरोधा डॉ. अंबेडकर ने मनुस्मृति नामक अन्याय मूलक कृति को जलाकर इसके विरुद्ध आन्दोलन की शुरुआत की। इस तरह के जातिव्यवस्था के विरुद्ध जनांदोलन शुरू से मिलता है। जैसे चार्वाक, लोकायत, बौद्ध मतों में आदि। स्वयं कबीर जैसे अनेक विद्वानों ने जाति एवं वर्ण व्यवस्था को जबरदस्त चुनौति दी थी। विभिन्न जनांदोलन के बावजूद भी इसने अपने मौलिक स्वरूप में विशेष परिवर्तन नहीं किया। लिहाजा आज भी जाति व्यवस्था प्रमुख चुनौती बनकर खड़ी है। आधुनिक युग में जाती के विरुद्ध वैज्ञानिक चेतना का विकास हुआ है। इसका मूल कारण दलित साहित्य का अविर्भाव। बुद्ध, कबीर, फुले जैसे सामाजिक आन्दोलनकारों के विचारों को आत्मसात करते हुए दलित मुक्ति की दिशा में अनेक कदम उठाये गए। विभिन्न प्रकार से दलित हितों की चिंता करते हुए एक समता मूलक समाज की स्थापना उनके विचारों का मुख्य बिंदु था। इस तरह जाति व्यवस्था के खिलाफ इन आंदोलनों का ऐतिहासिक महत्त्व था।

इस दलित आंदोलन की गूंज विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य में मिलती है। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज व्यवस्था की जातिवादी बुनावट पर प्रहार हुआ। साहित्य के माध्यम से समाज को स्वतन्त्रता, समानता एवं

बंधुता पर आधारित मानव मूल्यों को हासिल करने एवं उसे गरिमा पूर्ण जीवन प्रदान करने का उद्देश रहा है। इसी कड़ी में कैलाश चंद चौहान का उपन्यास 'सुबह के लिए' दलित जीवन के दुःख, कसकते अनुभवों को शब्दबद्ध करने का प्रयास रहा है।

उपन्यास की कथा गाँव से शुरू होकर शहर तक जाती है। परन्तु जाति का जहर हर जगह फैला हुआ है। उपन्यास का नायक विक्रम अपनी मुक्ति के लिए शिक्षा को एक हथियार के रूप में ग्रहण कर आगे बढ़ने का संकल्प लेता है। इससे वह कदम-कदम पर चुनौती को पाता है। यहाँ तक कि विद्यालय के शिक्षक तक जाति की जड़ता से मुक्त नहीं है। यथा- "हेमंत गाल मलता हुआ मास्टर जी की तरफ देखता ही रहा। मास्टर जी जाति से जाट थे। दलितों से बहुत नफरत करते। सरकारी नौकरी थी। इसलिए दलितों के बच्चों को पढाना उनकी मज़बूरी थी। विक्रम पढाई में तेज है, इस तथ्य को वह झूठला नहीं सकते थे। इसलिए विक्रम को हतौत्साहित करने का कोई मौका नहीं छोड़ते थे। साथ ही वह चाहते थे कि हेमंत पढाई में आगे निकले।"[1] शिक्षा के बल पर विक्रम अपने परिवार एवं समाज को अपनी इच्छा शक्ति के द्वारा मुक्ति की राह दिखाने के लिए प्रतिबद्ध था। इस सफर में ऐसे अनेक पात्र है जो उसके कारवाँ में मदतगार होते हैं। अंबेडकर जीवन दर्शन यहाँ जाति के राक्षस के साथ लड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता हैं। उच्च शिक्षा के प्रति ललक उसे अपनी बुआ के यहाँ शहर में ले आती है। यहाँ उसका सामना महानगरों की इन परिधि में रिक्त बस्तियों में आबाद दलित जीवन की अनेक तस्वीरों से होता है। यहाँ की चुनोतियाँ गाँव की चुनौतियों से कमतर नहीं है। विक्रम के दिलों-दिमाग में हमेंशा यही कसकते रहता है कि गाँव और शहर के दलितों की स्थिति कैसी सुधारी जाए। इनकी स्थिति को सुधारने के लिए प्रगतिशील युवाओं के संपर्क में आता है और उसके इरादों को मजबूती प्राप्त होती है। विक्रम का व्यक्तित्व इस मायने में विशिष्ठ है कि विश्वविद्यालय के सभागारों एवं विचार गोष्ठियों तक अपने को सीमित नहीं रख

---

[1] सुबह के लिए - कैलासं चंद चौहान - पृ.सं.65

सकता। वह स्वयं अपनी बुआ के बच्चों को शिक्षा के प्रति प्रेरित करने के लिए उपदेश की बजाय व्यवहारिक तरीके अपनाता है। इतना ही नहीं बल्कि अपने आस-पास के वातावरण एवं समाज को बदलने के लिए इमानदारी का परिचय देता है। इसलिए बस्ती के सभी लोगों के दिलों-दिमाग में अपनी जगह बनाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसकी बात सभी मानने लगते हैं इस कारण वह अपने समाज के लोगों को जागृति की राह दिखाता है। सबको प्रगतिशील रास्ते पर आन्दोलन करने के लिए प्रेरित करता है। जैसे-जैसे विक्रम आगे बढ़ता है कथा की विभिन्न तस्वीरे कथा विन्यास में अन्तगुन्फित होकर सामने आती है। इस तरह के तस्वीरों में अनेक पहलू है। उसका एक पहलू विक्रम को यह लगता है कि पारम्पारिक पेशों में धकेले दिए गए दलित चाहकर भी इस से बाहर नहीं निकल पाते। इसके लिए शासन प्रशासन ने पूरा माहौल तैयार कर रखा है। श्रमिक बस्तियों में उनके मोहल्ले का बटवारा जाति के आधार पर होना, किसी महानगर का नहीं किसी जड़ सामन्ती गाँव की याद दिलाता है। विक्रम की बुआ किसी झुग्गी बस्ती में रहती थी। झुग्गी के बदले सरकार ने उन्हें प्लाट दिए लेकिन प्लाट देते समय उनकी जाति का ध्यान रखा। तो वहाँ भी सभी वाल्मीकि रहते थे?

"वहाँ सब मिले जुले रहते थे। लेकिन सरकार जो अफसर वहाँ आये हमारी जात पूछते और नंबर लिखते जाते। यह तो बाद में पता चला कि झुग्गियों में रहने वाले सभी वाल्मीकि लोगों को एक जगह प्लाट दे दिए। मुसलमानों को अलग बसा दिया गया, खटीकों को अलग"।

"यानी सरकार ने जान बूझकर एक ही बिरादरी के लोगों को एक जगह बसा दिया? सरकार भी जातिवाद, भेदभाव को बढावा देती? क्यों ना दें, उसमें भी तो ब्राह्मणवाद के पोषक बैठे हैं। ठीक ही कहा जाता है कि जाति टूट गयी तो हिन्दू धर्म

बचेगा नहीं!"[1] विक्रम इन सभी मुद्दों पर बहुत देर तक विचार करता रहा। उसको लगा की जातिवाद सिर्फ गाँव में ही नहीं बल्कि शहर में भी है।

शहर में छोटी-छोटी जरूरतों के लिए आधुनिक महाजनों की एक जमात उनके शोषण के लिए खड़ी है। वह बहुत ही सलीके से ठगा करती है और दलित सफाई कर्मी को अपने जाल में फसाते हैं। इसकी ओर इशारा करते हुए लेखक कहते हैं, अपनी जीविका के लिए शिविरों को साफ़ करने के क्रम में सफाई कर्मी अत्याधुनिक औवजारों के अभाव में कारुणिक मौत का शिकार होते हैं। इस प्रक्रिया में उच्च पदों पर आसीन आधिकारियों का उच्च जातिवादी अमानवीय रूप खुलकर सामने आता है- "जाम सीवर को खोलने के लिए सीवर में दो सफाई कर्मियों की दम घुटने से मौत हो गई। मौत का कारण सीवर की जहरिली गैस थी। पुलिस ने नगर निगम के खिलाफ अभी तक कोई मामला दर्ज नहीं किया है। बड़ी दुखद बात है कि समाज के जिम्मेदार लोगों ने कभी महसूस ही नहीं किया कि बगैर तकनीकि ज्ञान व उपकरणों के निरीह सफाई कर्मियों द्वारा सफाई के लिए सीवर में उतरना खतरनाक तो है अमानवीय भी है। इस बात को भुला दिया जाता है कि 40-45 डिग्री सेल्सियस तापमान में सीवर की गहराई सफाई कर्मियों के लिए मौत का घर है।"[2] शिक्षा के अभाव में ही नहीं आधुनिक चिकित्सकीय सेवाओं के अभाव में फसता, तड़पता जाता है सफाई कर्मी। अंत में असमय मौत के आगोश में जाता दलित समुदाय आधुनिक मेंडिकल कॉलेज एवं शासकों की स्वास्थ्य संबंधी नीतियों के मुंह पर कालिख पोतने का काम बखूबी निभाता है।

सरकार की योजनाओं को अमल करने बैठा उच्च जातीय अधिकारी वर्ग स्त्रियों के दैहिक शोषण के लिए जिस कुटिलता धोकेबाजी एवं अमानवीयता का परिचय देता है वह सामन्ती भेडियों की तस्वीर पेश करता है। सत्ता उच्च जातिवादी

---

[1] सुबह के लिए - कैलासं चंद चौहान - पृ.सं.92
[2] सुबह के लिए - कैलासं चंद चौहान - पृ.सं.143

आधिकारियों के हाथों में वह आधिकार देती है जो स्त्री अस्मिता को तार-तार करते हैं। इससे सत्ता के आधार में बैठे सामन्ती तत्वों को रचनाकार अत्यंत सहज देखता है।

जब विक्रम अपनी इंजीनियरिंग शिक्षा पूर्ण करने के बाद गाँव लौटता है और सरकारी विभाग में इंजीनियर हो जाता है तब भी उच्च जातीय भू स्वामी वर्ग का रवैय्या नहीं बदलता। अब उसके प्रति जातीय भेदभाव और अधिक आक्रामकता के साथ पेश आता है। यहाँ जाति स्थिर स्वरूप खालिस वर्ग की बात करने वालों के समक्ष एक तस्दीक पेश करता है। यहाँ जाति का गैरतान्त्रिक स्वरूप और उसका अमानवीय पहलु खुलकर सामने आता है। इंजीनियरिंग का पद पाने के पश्चात विक्रम एवं उसके परिवार की समस्याएँ और बढ़ जाती हैं यहाँ अंबेडकर का दलितों को गाँव छोड़ने का आव्हान तार्किक लगने लगता है। लेकिन अंबेडकर ने सोचा होगा कि सामन्ती मानसिकता यहाँ के जड़ हिन्दू समाज की नस-नस में है। शहर में भी वह अपने बदले किन्तु अन्याय पूर्ण रूप में मौजूद है। इसी उपन्यास के एक प्रसंग में सोनी एवं काले की जैनेटिक संतान हेमंत में जातीय घृणा अपनी पूरी पराकाष्टा में प्रकट होती है। इस से जाति के आधार में परिवेश के महत्त्व का स्वभाविक रूप प्रस्तुत हुआ है, सोनी ने उसके दोनों गालों पर 'तडाडडक..... तडाडडक..... तीन-चार चांटे जड़ दिए। आज पहला मौका था, जब उसने हेमंत पर हाथ उठाया। वह अन्दर कमरे में बिछी चारपाई पर निडाल सी पड़ गई। उसकी सोच दूर तक जा रही थी, "खून चूड़े का, मिजाज, हरकते इसमें जमींदारों की...। वह यह समझ नहीं पा रही थी कि क्यों इंसानों में खून का असर नहीं संस्कारों का असर होता है। जन्म लेते समय सब एक जैसे होते हैं, बिल्कुल निश्चल, कोमल, निष्कपट, कोई दुर्भावना नहीं, कोई जाति नहीं, कोई धर्म नहीं, बच्चे जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं, परिवार समाज के लोग यह सब सिखा देते हैं। उनके दिमाग में घोलते हैं। बच्चे उन्हें ग्रहण करते हुए बड़े होते हैं।

इस उपन्यास में दलितों को सवर्णों के प्रति विरोध करने की जो ताकत मिलती है वह आज के जनतांत्रिक चेतना की सूचक है। ऐसे अनेक पात्र इस उपन्यास में

मिलते है जो दलित मुक्ति के प्रति अपनी चिंताओं को संजोता और दलित मुक्ति की दिशा में नई राह दिखाता हैं। इस उपन्यास का मूल उद्देश मनुष्य को समतामूलक समाज तथा उनके अधिकार दिलाने का रहा है। इस उपन्यास की भाषा मूलतः खडीबोली है किसी भी स्थानीय बोली के पुट इस उपन्यास में नहीं मिलते।

1.2 मराठी उपन्यास : कथ्य परक विवेचन

खासकर भारतीय समाज व्यवस्था में सदियों से व्यक्ति का अस्तित्व वर्ण व्यवस्था और जाति-भेद के दोहरे अनुशासन के दायरे में बंधा रहा। जिस में ब्राह्मणवादी और सवर्ण सामंतवादियों के द्वारा शस्त्र और शास्त्रों के बल पर दलितों का दमन और शोषण हुआ। महाराष्ट्र के प्रत्येक गाँव का नाम भले ही अलग-अलग हो लेकिन दलितों पर जुल्म का स्वरूप समान रहा है- सामाजिक बहिष्कार, पनघट, अलग श्मशान, अलग बस्ती, किराया पर घर न मिलना, जाति छुपाने की विवशता, सार्वजनिक स्थान में प्रवेश के लिए मनाही, दलित स्त्रियों पर होने वाले अन्याय, मृत जानवरों को खीचना, फाड़ना, नाई द्वारा बाल न काटना आदि। वास्तव में सदियों से दलित देहात से लेकर नगरों-महानगरों के परिवेश में सवर्णों द्वारा उत्पीड़न का शिकार बना हुआ था जो चिंता और चिंतन का विषय था, जिसे महात्मा जोतिबा फुले और डॉ अम्बेडकर ने सुलझाने के लिए अजीवन संघर्ष किया।

महाराष्ट्र में मराठी दलित साहित्य के आंदोलन का प्रतिनिधित्व या प्रेरणा जोतिबा फुले (1801-1890), डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (1991-1956) का जीवन संघर्ष और उनकी विचाराधारा रही है। फुले और आंबेडकर के केंद्र में, 'दलित मुक्ति का प्रश्न' रहा है। उन्होंने समाज में लोकतंत्र स्थापित करने के लिए स्वातंत्र्य, समता, बंधुता, न्याय आदि मानवीय मूल्यों की गरिमा और प्रज्ञा, शील, करुणा इन नीतिमूल्यों की महत्ता को उजागर किया है। दलित उत्थान के लिए दलितों को शिक्षा, संगठन और संघर्ष की प्रेरणा दी है। परिणाम स्वरूप दलितों की प्रथम पीढ़ी ने प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करके शिक्षा प्राप्त की है और दलितोत्थान की दिशा में बौद्धिक विचार-विमर्श के धरातल पर साहित्य सृजन की शुरुआत की। वास्तव में मराठी के दलित आन्दोलन-कर्मियों ने साहित्य को कला न मानते हुए अपने मानवीय अधिकारों को हासिल करने का शस्त्र घोषित किया है। मराठी दलित साहित्य की

संकल्पना को सर्वप्रथम सन् 1948 में 'महाराष्ट्र दलित संघ' के नाम से अभिहित किया और सन् 1958 में पहली बार मराठी दलित साहित्य का सम्मेलन मुंबई में साहित्य रत्न अन्ना भाऊ साठे की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। 1970-72 के आस-पास 'दलित पैंथर' के नाम से संगठन स्थापित हुआ जिसके प्रमुख कार्यकर्ताओ में नामदेव ढसाल, ज.वि. पवार, राजा ढाले, रामदास सोरटे, अविनास महातेकर, प्रल्हाद, चेंदवनकर, अर्जुन डांगले, भाई संगारे, अनिल कांबले, अरुण कांबले, रामदास आठवले, गंगाधर गाड़े, प्रीतम कुमार शेगावकर, टी. एम. कांबले आदि का नाम उल्लेखनीय है। अर्थात उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि सन साठ के आस-पास मराठी साहित्य में दलित साहित्य का आन्दोलन स्वतंत्र पहचान के रूप में उभरा है, इसके पहले किसी भी भारतीय भाषा में दलित साहित्य का स्वतंत्र प्रवाह प्रवाहित नहीं हुआ था। मराठी के दलित आंदोलन कर्मियों ने अनुभूति और संवेदना के आधार पर दलित जनजीवन की पीड़ाओं को वाणी देकर उनकी स्थिति-नियति पर स्वतंत्र रूप में जिन साहित्यिक विधाओं में लेखन शुरू किया था उसमें उपन्यास भी एक विधा है।

1.2.1 फकीरा

अन्नाभाऊ साठे का 'फकीरा' मराठी दलित उपन्यासों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। लेखक अन्ना भाऊ साठे मराठी दलित साहित्य के ऐसे हस्ताक्षर है जिनका मराठी दलित साहित्य को नई दिशा देने में बहुत ही बड़ा योगदान रहा है। इसलिए उनका यह उपन्यास मराठी दलित उपन्यासों में मील का पत्थर माना जाता है। इसका प्रकाशन वर्ष सन् 1959 है। जिस संस्करण पर मैं शोध कार्य कर रहा हूँ उसका तीसवाँ संस्करण है जो सुरेश एजेंसी पुणे से प्रकाशित है। इस महत्त्वपूर्ण उपन्यास को लेखक ने डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर के क्रांतिकारी लेखनी को समर्पित किया। इस उपन्यास लेखन के संदर्भ में लेखक कहते हैं- "यह उपन्यास केवल मेंरी प्रतिभा से नहीं लिखा गया है इस प्रतिभा के साथ जीवन दर्शन जुडा हुआ है। प्रतिभा के साथ जीवन दर्शन नहीं है तो 'प्रतिभा' जैसे शब्द यहाँ निरर्थक लगने लगते

हैं ऐसा मेंरा अनुभव है। क्योंकि सत्य के पीछे जीवन का आधार नहीं तो प्रतिभा अँधेरे में रखे हुए उस आईने की तरह निरुपयोगी है जिसमें कितना भी प्रयास किया जाए कोई प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता और कल्पना निर्बल बन जाती है। जैसे पंख विहीन पंछी उड़ नहीं पाता वैसे मैं तो ऐसी उड़ान बिल्कुल नहीं मारता। प्रतिभा को जैसे वास्तविक स्थिति की जरूरत रहती है वैसे ही कल्पना को जीवन के पंख रहना जरूरी है, तथा अनुभूति को सहानुभूति की जरूरत नहीं है तो हम क्यों लिखते हैं इसका पता ही नहीं लगेगा। इसलिए मैं हमेंशा लिखते समय स्वानुभूति से लिखने का प्रयास करता हूँ क्योंकि जिनके लिए मैं लिखता हूँ वह मेंरे लोग होते हैं उनको मन में रखकर ही लिखना जरूरी हो जाता है। यहाँ फकीरा भी मेंरा था जो ढूंढने पर नहीं मिलेगा, पर है वह हर जगह आस पड़ोस में जो मैंने देखा, अनुभव किया, सुना, वही मैंने लिखा है। उसमें से यह फकीरा सामने आया है। पहाड़ों के तले बिखरा हुआ फकीरा का यह कार्य एकत्रित कर अपना महल खड़ा किया है। बस इतना ही"।[1] उनके इस लंबे उद्धरण से यह पता चलता है कि वह अपने लोगों के प्रति कितने प्रतिबद्ध होकर लिखते हैं। उनका लेखन कार्य बिलकुल स्वान्त सुखाय नहीं है बल्कि सामाजिक समस्याओं को उठाना है। इसकी ओर इशारा करते हुए वि.स. खांडेकर कहते हैं- "इस लेखन कार्य के पीछे उनकी प्रतिभा का महत्त्व है। उनकी इस लेखनी में जीवन की आग है। उनके मन में इस व्यवस्था के प्रति आक्रोश है। वह अन्याय के विरुद्ध खड़े रहनेवाले तथा उनके खिलाफ लड़नेवाले लेखक है। यह सब इस उपन्यास को पढ़ते समय सहज अनुभव होगा।"[2] आगे वि.स. खांडेकर ने इस उपन्यास की लेखन शैली तथा कथावस्तु पर भी अपनी राय व्यक्त की है। वे कहते हैं- "इसके अलावा अन्ना भाऊ साठे की अन्य बातों पर भी हमें ध्यान देना होगा ऐसा मुझे लगता है। उसमें से यह कि उनका यह उपन्यास बीच-बीच में वर्णन लगने लगता है। प्रसंग, स्वभाव, वातावरण, विषय, शैली इन सबकी समरसता से जो निर्माण हुआ है वह कलात्मकता की दृष्टि से श्रेष्ठ

---

[1] फकीरा - अन्नाभाऊ साठे - कैफियत पृ.सं.-6
[2] फकीरा - अन्नाभाऊ साठे - कैफियत पृ.सं.-6

हुआ। ...जिनको कलात्मकता के साथ सामाजिक समस्या महत्त्वपूर्ण लगती है ऐसे लेखको में अन्ना भाऊ साठे है। ऐसे लेखकों को अन्याय के विरुद्ध तथा न्याय के साथ लड़ने की शक्ति को व्यक्त करते समय सिर्फ भूतकाल के साथ चिपककर रहना ही उपयोगी नहीं होगा। अभी अपने सभी सामाजिक संघर्ष का स्वरूप बदला है। ऐसे समय भाऊ के गाँव, निचले स्तर के लोग, वहाँ का जीवन और उनकी समस्याएँ, इन सबका चित्रण किया तो और भी उपयोगी और संभव होगा।"[1]

किसी भी लेखक की अपनी सीमा होती है। उस सीमा में रहकर ही अपनी लेखनी चलाता है। अन्ना भाऊ साठे ने भी कुछ समस्याओं को लेकर अपनी कलम चलाई है, उसमें से कुछ रह भी गई हैं तो भी उनकी उपयोगिता कम नहीं होती। भालचंद्र फडके इसकी महत्ता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- "अन्ना भाऊ साठे का फकीरा मराठी साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है। मराठी उपन्यासों में अन्ना भाऊ की पहचान ही फकीरा उपन्यास है। अन्ना भाऊ जो कुछ भी लिखते हैं वह उनका भोगा हुआ यथार्थ है जिनके लिए वह लिखते हैं सब उनके लोग हैं। फकीरा, राधा, विष्णुपंत यह सब पात्र अन्ना भाऊ के परिवार के हैं। समाज के सबसे निचले स्तर के लोग जो उपेक्षित हैं और उनके जो दुःख हैं अन्ना भाऊ लिखते समय उनमें घुल-मिल जाते हैं। अन्ना की कहानियों उपन्यासों में जीवन जीने की नई शक्ति पाठक को मिलती है। ये लोग अन्याय के विरुद्ध लड़ते हैं और समय आने पर अपनी जान भी देते हैं। इसलिए उनके पात्र मानव मूल्य निष्ठ हैं। अंग्रेजी सत्ता के खिलाफ अपनी आवाज उठाने वाले अन्ना इसी में उनकी सार्थकता है कलात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ तथा अंबेडकर की लेखनी को 'फकीरा' उपन्यास समर्पित करना इसी में उसकी सार्थकता तथा औचित्य है"।[2]

इस उपन्यास की कथा का आरंभ वारणा नदी या उसके आस पास का है। एक छोटे से गाँव में दलित समाज के बाप बेटे की यथार्थ स्थिति का चित्रण हुआ है।

---

[1] फकीरा - अन्नाभाऊ साठे - दो शब्द पृ.सं. 6

[2] फकीरा - अन्नाभाऊ साठे - कव्हर पेज

वारणा प्रदेश का चित्रण इस उपन्यास में स्वाभाविक है क्योंकि कि वह लेखक की जन्म भूमि है। इसमें बचपन से आज तक जो कुछ भी देखा उसी का लेखा-जोखा सामने आया है। वाटेगांव कम-से-कम हजार-बारासों घरों का बसा हुआ कस्बाई गाँव है। इस गाँव के शंकरराव पटेल और रानोजी घनिष्ट मित्र थे। अपने गाँव में मेंला न भरने के कारण दोनों दुखी हैं। इसके अलावा सिगांव के बाजिबा खोत अपने युवा समय में कालगांव की जोगनी पूरे गाँव के साथ हल्ला कर के जबरदस्ती लाया था। उस दिन से कालगाँव का जोगनी मेंला बंद होकर सिगांव में शुरू हुआ था। इसी बाजिबा खोत ने कालगांव के जोगनी के हाथ का घड़ा छीन कर अपने गाँव ले जाकर मेंला शुरू किया था।

दलितों की बस्ती में अज्ञानता, दरिद्रता थी, फिर भी दलित युवा शूर पराक्रमी थे। पचास साल का दौलती उसका बेटा राणोजी घर एवं घर का बड़ा सदस्य होने के कारण वही काम देखता है। दौलती की पत्नी-राही, उसकी बहू-राधा, साथ ही राणोजी के बेटे फकीरा तथा सहदेव ऐसा परिवार था। इसी राणोजी के मन में 'जोगनी भगाने की इच्छा शक्ति जाग्रत होती है'। इस कार्य पर उसको आत्मविश्वास भी था। इस उपन्यास में जोगनी मेंले का परम्परा से चले आ रहे सिगांव के इलाके का वर्णन हमें मिलता है। इसी मेंले में राणोजी सभी तैयारियों के साथ जाता है और सबको चकमा दे के जोगनी लेकर वाटेगांव के रास्ते से तूफानी घोड़-दौड़ पर निकलता है। उसकी वीरता का वर्णन अन्ना भाऊ साठे ने बहुत ही समर्पन के साथ किया है। 'राणोजी बड़ी होशियारी के साथ अपनी सीमा में दाखिल हो जाता है। जोगनी भगाने में उसको सफलता हासिल हो गई थी लेकिन बाजी खोत ने उसी की सीमा में आकर उसको ख़त्म कर देता है। सीमा पार करके किसी को मारा नहीं जाता इस तरह का नियम था'। नियमों का उल्लंघन किया गया यह उचित नहीं था ऐसा निर्णय लोगों ने सुनाया और खोत को सजा हो गई। इतना सच था कि एक दलित

समाज के व्यक्ति (राणोजी) ने गाँव के लिए, गाँव के मेंले के लिए अपनी जान देकर वाटेगांव को जीत दिलाई थी।

इस दिन से हर साल वाटेगांव में मेंला भरनेवाला था। अकेले राणोजी की वजह से एक पुरानी प्रथा को नया रूप मिला। सब तरफ राणोजी की चर्चा थी। राणोजी के परिवार को गाँव का सहारा मिला ईज्जत मिली। गाँव में सबसे जादा सहारा देने वालों में विष्णुपंत कुलकर्णी और शंकरराव पटेल सर्वोपरी थे। अगर कोई मर्द है तो राणोजी उसने अकेले पूरे सिगांव के साथ लड़कर जोगनी भगाया उसके हिम्मत की दाद देनी चाहिए।

इधर राणोजी का बेटा फकीरा बचपन से ही बहुत ही शरारती, जिद्दी और पिता के नक्षे क़दमों पर चलनेवाला था। उसने एक समय अंग्रेजों की छावनी देखी थी, समय बीतता गया फकीरा बडा होते रहा। नियम के अनुसार जोगनी मेंला वाटेगांव में होने वाला था। ये दिन इस गाँव के इतिहास में पहली बार आया था। इसी दिन सभी गांववालों ने राणोजी को बहुत ही कृत्यज्ञता के साथ याद किया। राणोजी के घर के सामने जोगनी खड़ी हो गई और उसका दर्शन सभी घरवालों को दिया गया। इसके अलावा बहुत ही सुरक्षितता के साथ जोगनी को पूरे गाँव में घुमाया गया। इस तरह से दिन बीतते गए। एक समय ऐसा आया ज्यादा बारिश की वजह से दलित समाज को रोजगार नहीं मिल रहा था और भूख की समस्या बढती जा रही थी और यह सब देखकर रहा न जाने पर सावला (दलित समाज का व्यक्ति) ने चोरी करनी शुरू की। अंग्रेजों के सामने बापू खोत ने शिकायत की और अंग्रेजों ने सावला को गाँव में अशांति फैलाने के आरोप में गिरफ्तार कर लिया।

इधर फकीरा और साधू अब अपने घर परिवार को संभालने लगे। फकीरा का चित्रण इसी जगह देखने को मिलता है। तीखी नजरे, खूबसूरत चेहरा, धीरे से बात करना आदि इस तरह का व्यक्तिमत्त्व था। इस साल वाटेगांव की जोगनी भगाने का मकसद सिगांव के बापू बाजिबा का था, इस साल जोगनी के साथ कुछ न कुछ

हलचल होने वाली है ऐसी खबर पूरे गाँव के साथ फकीरा को भी मिल गई थी। गाँव के वातावरण में कुछ हलचल हो रही थी मौका देखकर बाजिबा जोगनी का कटोरा लेकर भागने में कामयाब हो गया। जैसे ही बाजिबा खोत जोगनी का कटोरा लेकर भाग रहा था उसी समय फकीरा ने बाजिबा पर जोरदार प्रहार किया और बाजिबा को घायल करते ही जोगनी का कटोरा अपने हाथ में ले लिया। फकीरा के हाथ में जोगनी का कटोरा आते ही सभी ओर ख़ुशी का माहौल छा गया और हमेंशा की तरह मेंला वाटेगांव में ही भरने वाला है यह विश्वास लोगों में फ़ैल गया। फकीरा की वीरता सब तरफ फ़ैल गई अब उसको गाँववाले अपना नायक समझने लगे।

इधर यह सभी बातें सुनकर सावला फकीरा के कार्य से बहुत ही खुश हुआ। अब गाँव के सभी लोग दलितों को दिलों जान से चाहने लगे उनमें विष्णुपंत सर्वोपरि थे। अब तक गलत न्याय की वजह से दलितों को अन्याय सहन करना पड़ रहा था यह सब गाँव के विष्णुपंत को समज में आ गया। उन्होंने दलितों की ओर से सरकार को बताया कि हमारे गाँव के दलित चोर नहीं है। उन पर जबरदस्ती अन्याय हो रहा है। यह सुनकर अंग्रेजी सेनाधिकारी ने सावला की सजा माफ़ कर दी। यह ख़बर सुनकर फकीरा को बहुत ख़ुशी हुई। फकीरा अब गाँव का सर्वेसर्वा बन गया था। दूसरी तरफ राधा इस बात से परेशान थी की बापू खोत नई चाल चलाकर फकीरा को फसा न दें। इस घटना से फकीरा को घर के लोग सलाह देने लगे थे कि ‘अच्छे लोगों के साथ रहो, बुरे की संगती मत करो।’

एक समय फकीरा का मित्र सत्तू बहुत ही बड़ी परेशानी में था उसने फकीरा से मदद मांगी। परेशानी यह थी कि सत्तू को गाँव के ही दादा पटेल के लोग जबरन बंदी बनाए थे। इस उपन्यास में अन्ना भाऊ ने कुमजं गाँव का चित्रण किया है वारणा के किनारे बैठा हुआ यह गाँव प्राकृतिक रूप से बहुत ही सुंदर हैं। सत्तू को कुमजं गाँव में अपने माँ के अलावा कोई नहीं था। वह खुद के शौर्य से सैनिक बना पर छावनी के बड़े अधिकारी के व्यवहार से उसको नौकरी छोड़नी पड़ी, उसके बाद वह गाँव आकर

मजदूरी कर अपना उदर निर्वाह करने लगा। एक बार दलित महिला की मधाजी चौगुले किसी छोटे से अपराध के कारण पिटाई कर रहा था। यह सब सत्तू से देखा न गया उन दोनों के झमेंले में जाकर समझाने लगा। बहुत समझाने पर भी मधाजी न मानने से उन दोनों में ही हाथापाई हो गई। इस हाथापाई में चौगुले की जान चली जाती है। इस कारण सत्तू को अपनी जान बचाने के लिए अपना गाँव छोड़ना पड़ता है। सत्तू अब फरार हो गया था अपने जैसे पचासों लोगों को इकट्टा कर वारना नदी के किनारे रहकर अब वह दलित, कामगार, गरीब लोगों को मदत करने लगा। अन्याय के विरुद्ध लडने लगा मसलन गाँव के आस-पास उसकी दहशत फ़ैल गई। सत्तू गरीब लोगों को अब भगवान जैसे लगने लगा था। इधर सरकार की हलचले बढ़ रही थी सत्तू पर इनाम रखा गया था मधाजी चौगुले का बेटा उमाजी चौगुले सत्तू पर नज़रे जमाए हुए था पर सत्तू इस बात से निड़र था क्योंकि उसको विश्वास था अपनी वीरता एवं गाँव पर। इसलिए गाँव-गाँव में उसका मान सन्मान बढ़ गया था। इतने में वह अपने माँ से मिलने गाँव आया, कुछ देर आराम कर अपने मित्र को मिलने गया। सत्तू के गाँव में आने की खबर चौगुले को मिल गई चौगुले ने बड़ी होशियारी के साथ सत्तू को पकड़ लिया। इधर फकिर को भी सत्तू की सूचना मिल गई। रात के अँधेरे का फायदा उठाकर फकीरा ने सत्तू को चौगुले की चंगुल से छुड़ाया। इस तरह फकीरा और सत्तू की मित्रता और भी गहरी हो गई। जैसे ही फकीरा सत्तू को छुड़ाकर घर आया उसके दूसरे दिन ही बाबरखान वाटेगाँव में रहने लगा बाबरखान ने सत्तू और फकीरा की बहुत ही तहकीकात की लेकिन उसके हात कुछ न लगा।

इधर फकीरा की माँ चिंतित थी क्योंकि फकीरा अब बड़ा हो रहा था उसको लगता था कि फकीरा की शादी करके अपनी जिम्मेदारी पूरी की जाए। एक दिन पास के गाँव में जाकर पिराजी से बात की जो कि उनके सगे समदी थे तथा वह पहले से ही जानते थे। फकीरा के साथ सरू का विवाह संपन्न किया गया। फकीरा और सरू का नया संसार फूलने लगा इस तरह दिन बितते गए। थोड़े ही दिनों में अचानक गाँव में

महामारी की बीमारी फ़ैल गई। गाँव के सभी लोग इस बीमारी का शिकार होने लगे। गाँव के लोगों के साथ-साथ जानवर भी मरने लगे। पूरे गाँव में भूख की समस्या बढ़ गई। इस स्थिति पर सरकार की ओर से मदत नहीं आ रही थी। सरकार कुछ नहीं कर रही थी लोग अब हताश हो गए थे यह सब फकीरा को देखा न गया वह निराश होकर अनाज लूटने लगा। इस अनाज की वजह से मरनासन्न लोगों को नई जिंदगी मिल रही थी। इसके लिए उसने माल्वाडी मठ लूटा, यह सब लूटा हुआ माल सबको देने लगा। फकीरा की चोरी की खबर प्रांत के अधिकारी को मिल गई, खबर मिलते ही सैनिकों के साथ उसने गाँव में आकर फकीरा तथा उसके मित्रों को गिरफ्तार किया। इस संदर्भ में मात्र फकीरा के प्रति विष्णुपंत ने सहानुभूति जताई इतना ही नहीं वह खुद अपने को भी गिरफ्तार करने को कहाँ और जो भूख से मरे हुए लोग है उसको न्याय दिलाने के लिए अंग्रेज अधिकारी के सामने अपनी आवाज उठाई। विष्णुपंत कुलकर्णी के इन बातों से अंग्रेज अधिकारी को यह अहसास हुआ कि हम जरूर कोई गलती कर रहे हैं। उनके इस आग्रह से अन्याय ग्रस्त दलितों को न्याय मिलने लगा और उन सब की जेल से मुक्ति हो गई। पन्त की इस बात को लेकर पूरे गाँव में सराहना की गई। लेकिन यह स्थिति ज्यादा दिन तक नहीं रही। गाँव में विष्णुपंत कुलकर्णी की खुर्ची पर रावसाहेब को बिठाया गया। रावसाहेब का व्यवहार फकीरा के प्रति अजीबोगरीब था। उसने फकीरा को दिन में तीन बार अपने घर हाजिर होने को कहाँ। इस बात पर विष्णुपंत ने रावसाहेब को फटकारा लेकिन रावसाहेब ने विष्णुपंत की बात मानने से इन्कार कर दिया। फकीरा को यह बात अन्याय और अपमानास्पद लगी।

फकीरा को इस बात का अनुमान था कि सरकार और खोत दोनों मिलकर हमारे विरुद्ध कोई षड़यंत्र कर रहे हैं। दोनों आपस में बार-बार मिलते थे बाते करते थे। उनके ऐसे व्यवहार से फकीरा आग बबूला हो गया और हाजिर होने से इन्कार किया। इस बात से गाँव की स्थिति तनावपूर्ण बन गई पूरे गाँव में हाहाकार मचा।

ऐसे में फकीरा विष्णुपंत के कहने पर गाँव छोड़ता है। फकीरा और उसके मित्रों का यह विचार था कि हजेरी देकर जीने से बेहतर होगा कि लड़कर मरा जाए। अपने कुछ ख़ास मित्रों के साथ जंगल में ही रहने लगा। आपस में सभी मित्र एकत्रित आकर इस योजना का पता न चले इस बात पर विचार करने लगे। ऐसी स्थिति में फकीरा घर जाकर सबसे मिलकर आता है उसी रात फकीरा यह निर्णय लेता है कि बेडसगाँव की अंग्रेजी संपत्ति को लूटा जाए। मौका मिलते ही फकीरा और उसके साथियों ने तमाशगिरों का नकाब पहनकर बहुत ही होशियारी के साथ अंग्रेजी खजिना लूटने में कामयाब हो गए। अब यह पचास हजार की रकम लूटने के बाद फकीरा और उसके साथी बेडसगाँव से भी फरार हो जाते हैं।

इधर फकीरा को रंगे हाथ पकड़ने की मनोकामना अंग्रेजी अधिकारी की थी, उसको बहुत ढूंढा वह न मिलने पर अंग्रेजी सैनिकों में गंभीर वातावरण का निर्माण हुआ। उनकी ओर से फकीरा और सत्तू को पकड़ने के लिए बड़ी से बड़ी योजनाएँ बनाई गई पर फकीरा न मिलने पर अंग्रेजी सैनिकों ने दलित बस्ती पर घेरा डाल दिया। उनके साथ-साथ बाबरखान, बापू खोत, चौगुला, कबीरा इन सभी ने फकीरा को पकड़ने का भरपूर प्रयास किया। फकीरा न मिलने पर घर के लोगों के साथ-साथ गाँव के लोगों को भी ले गए। अब एक भी व्यक्ति दलित बस्ती में न रहा। फकीरा तथा उसके मित्रों को इस बात की खबर मिल गई, खबर सुनते ही उदासी का माहौल छा गया। सरकार के इस रवैए से फकीरा बहुत नाखुश था और वह बेचैन हो गया इस बात की सत्तू को सूचना भेज दी। इधर जो स्थिति निर्माण हुई उससे विष्णुपंत भी परेशान थे फिर भी फकीरा के घर के लोगों ने संयम रखा। इतना सब होने पर भी फकीरा अंग्रेजों के सामने कभी न आए घरवालों को लगने लगा।

जिन लोगों को अंग्रेजी सैनिक लेकर आए थे उन सभी को क्रूर यातनाएं दे रहे थे इस बात की खबर फकीरा को मिल गई। अंग्रेजी सेना एक-एक कर फकीरा के मित्रों को भी पकड़ने लगी, इस स्थिति के जिम्मेदार बापू खोत तथा रावसाहेब थे

इसका पता फकीरा को लग गया। फकीरा ने योजना बनाकर बापू खोत तथा रावसाहेब को अपनी गिरफ्त में ले लिया। यह दोनों फकीरा के सामने अपने जान की भीख मांगने लगे। फिर भी यह दोनों फकीरा के चंगुल से छूटने में कामयाब हो गए पर दोनों जब मंदिर के पीछे वाली पहाड़ी से उतरते समय उन दोनों के पैर फिसल गए और दोनों ने अपनी जान गवां दी। फकीरा अपने मित्रों के साथ अंग्रेजी सेना की शरण में गया और गाँव वालों की रिहाई हो गई। फकीरा ने पन्त से बात की कि मेंरे पीछे मेंरा परिवार है उनको संभालने का दायित्व अब आपका है। फकीरा के समर्पण से ही अंग्रेजी सेना अब वहा से चली गई इस तरह फकीरा अपनी जान की प्रवाह न करते हुए लोगों के लिए जीता है। इस उपन्यास में फकीरा का व्यक्ति चित्रण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, शूर, पराक्रमी, प्रेमपूर्ण आदि गुणों से उभरा है। अन्ना भाऊ इस उपन्यास में साठ-सत्तर वर्ष पूर्व की स्थिति, वहां का प्राकृतिक सौन्दर्य, दलित-सवर्ण संबंध, गाँव के लोगों में आपसी मेंल, उनके आचार-विचार, दलित जीवन दर्शन, वहां की भाषा इन सब का संगम करते हैं। इस उपन्यास का नायक फकीरा है उसका कार्य अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाना और लोगों के साथ प्रेम तथा सौहार्द भरी जिंदगी जीना यही सिखाता है।

1.2.2 हकीकत और जटायु

(अ) हकीकत

यह उपन्यास दलित समाज के युवा को सामाजिक अवहेलना का सामना कैसे करना पड़ा इसका ज्वलंत उदाहरण है। केशव मेंश्राम अपने जीवन की परत-दर-परत पाठक के सामने रखते हैं। यह एक तरह से जीवनी परक उपन्यास लगता है। इस उपन्यास का प्रकाशन 1972 में लोकवाड्ःमय गृह मुंबई से प्रकाशित हुआ है। इस उपन्यास में जाति की पीड़ा, जाति के भीतर की अन्य उपजातियाँ लेखक के मन को परेशान करती रहती हैं। अंधश्रद्धा, बुवाबाजी, भानामती, केगामती आदि जैसे चित्रण उनकी आखों ने देखा था। उनके दादाजी को जहर देकर मारना तथा पिता के सामने दलित समाज के लोगों की पीड़ा आदि का चित्रण दिखाई देता है। यहाँ की समाज व्यवस्था, संरचना में जिस तरह की वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था है, दलित समाज को आर्थिक और ज्ञान से किस तरह वंचित रखा गया इसको अनदेखा नहीं किया जा सकता। इस उपन्यास का आरंभ होता है मुंबई से जहाँ लेखक अपनी बचपन की यादों को समेंटते हैं। मुंबई में अपने चचेरे भाई के यहाँ रहना कितना सुखद लगता था, वही रहकर पढ़ाई का आनंद लेना, अपने भाई को पिता की तरह समझना तथा उनके आदेश को मानना रोज का कार्य होता था। एक दिन ऐसा आया जिस घर में वह रहते थे उस घर के दो कमरे थे एक कमरे में ये दोनों सो गए थे दूसरे में सामान था। उस भयानक रात में चोरों ने पूरा सामान हड़प लिया था, घर के कुछ जरूरत भर सामान के साथ कपडे, खाने का सामान सब चोरी हो गया था। इस घटना के साथ लेखक का जीवन संघर्ष शुरू होता है। उस समय लेखक की आयु केवल 13-14 वर्ष की होगी। घर में चोरी होने की वजह से दिनभर भोजन नहीं मिलता था तो कभी-कभी दो दिन में एखाद बार मिलता था। वे कहते हैं- “न जेवता कसे बसे दिवस गेले एक दिवस दप्तरातले पुस्तक विकले घरात पडून आसलेली एक जुनी डिक्शनरी विकली, आणि

होटल मध्ये घुसून काही भरपेट खालो।"[1] (बिना खाते ही दिन बीतते गए एक दिन स्कूल के बस्ते में से किताब निकालकर बेच दी और घर में पड़ी हुई पुरानी डिक्शनरी को भी बेच दिया और होटल में घुसकर भरपेट खाना खाया) आठ-दस दिन ऐसे ही चलाए पर कितने दिन ऐसे चलता, उनके भाई ने अपनी बिगड़ी हुई स्थिति को देखकर लेखक को गाँव जाने की सलाह दी और वही जाकर पढ़ने को कहा, यह सुनते ही लेखक स्तब्ध रह गया। अब तो और भी समस्याओं का पहाड़ आकर गिर गया। न चाहते हुए भी वह अपने घर की ओर निकल पड़े। जब घर की ओर निकले तो उनको वहां की सब बीती घटनाएं याद आने लगी- वह दादर स्टेशन, लोगों का दौड़ना, स्कूल से निकलकर छुट्टी के बहाने स्टेशन पर खेलना, पढाई की लाख जिज्ञासा होने के बावजूद यहाँ रहने की सुविधा का न होना आदि बातें उन्हें नाग के फेन की तरह ढस रही थी। इन्हीं बातों को मन में लिए नागपुर एक्सप्रेस से घर की ओर रवाना ही होना पड़ा।

पांच साल पहले जिस तरह का घर छोड़कर मुंबई चले गए थे वापस घर आने के बाद उसमें खासा कोई परिवर्तन नहीं आया था। मुम्बई में जिस तरह का छोटा सा घर था यहीं पर भी वही स्थिति थी पर घर आने के बाद दादी का प्यार बराबर मिलता रहा। लेखक कभी-कभी दादी के पास बैठकर पुरानी यादों में डूब जाते थे। मुंबई से वापस घर आने के बाद आकोला में पढाई का कार्य आरंभ किया था। मील के बाजू में बसने वाली एक छोटीसी बस्ती जो महार जाति की थी। जिनको वर्णव्यवस्था में अस्पृश्य समझा जाता था। ऐसी बस्ती में लेखक का परिवार रहता था जो पढाई से ज्यादा अन्य बातों पर विश्वास रखते थे। लेखक के घर की स्थिति उतनी खास नहीं थी पिता और चाचा अलग होने से आर्थिक स्थिति बहुत ही कमजोर थी। इस स्थिति को देखकर लेखक ने कोयला मजदूरी का काम शुरू किया, एक कोयला वॅागन को खाली करने के लिए छह रुपए मिलते थे कभी-कभी इसमें भी स्पर्धा लगती थी। यह काम न

[1] हकीकत और जटायु - केशव मेश्राम - पृ.सं.7

मिलने पर पड़ोस के घर का रिक्षा रहता था। यह रिक्षा रात को खाली पड़ा रहता था दिन भर पड़ोस के चाचा चलाते थे। इसीलिए उस रिक्षा का उपयोग कभी-कबार रात को हो जाता था। लेखक ने कार्य आरंभ किया था। ऐसे में भाड़ा जाकर एक दिन में आठ या दस रुपए मिलते थे, इसमें भी रात को लायसन्स न होने के कारण पुलिस का डर रहता था। कभी-कभी एकाद दो रुपए पुलिस को भी देने पड़ते थे, रात की सवारी में अनेक तरह के लोग मिलते थे कभी कोई पैसे देता तो कोई देता भी नहीं था।

ऐसे में लेखक एक दिन सुनसान रास्ते से आ रहे थे उस दिन उनकी अच्छी-खासी कमाई हुई थी। रात के अन्धेरे में कुछ दिखाई दे रहा था तो खुछ नहीं ऐसे में सड़क पर पड़े गड्डे में रिक्षा गया, जैसे ही रिक्षा गड्डे में गया लेखक अपना संतुलन खो दिए और रिक्षा सड़क के किनारे पुल से टकराकर टूट गया। लेखक को गहरी चोटे आयीं जैसे-तैसे धीरे-धीरे उठकर घर की राह पकड़ ली और घर पहुँच गए उस समय सुबह के पांच बज चुके थे, उन्हें इस तरह के कठिन दिन निकालने पड़े।

देखते-देखते पांच साल बीत गए थे, मुम्बई का आकर्षण अब ख़त्म हो गया था। कांटो भरी राह पे क्यों न हो लेखक ने अपना रास्ता खुद चुन लिया था। दिन बीतते गए लेखक को यह अहसास हो रहा था कि दूसरे समाज के अपने साथ पढ़े लिखे दोस्त भी है पर वे अपने साथ घर ले जाने के लिए हजार बार सोचते थे, उनको भी जाति का डर लगा रहता था। इस आठ-दस साल के सफर में लेखक ने अनेक घटनाओं का सामना किया उनको कभी-कभी लगता था कि जब चौथी क्लास में फेल हो गए थे तो कितना अकेला समझ रहे थे। जब वे अपना सफर पीछे मुड़कर देखते हैं तो उन्हें ये सब बातें याद आती है, '... वह जेब में डाले चपाती के टुकडें, रिक्षा चलाना, स्मशान की घटना, मित्र के घर की यात्रा आदि बातें लेखक की आखों के सामने आती हैं। हकीकत जितनी केशव मेंश्राम की है उतनी ही दलित समाज के अन्य युवकों की भी है। इनका जीवन इतना रंगीन था कि उन के जीवन में सब कुछ मिलता है, जैसे गुलाब कीचड़ में खिलकर महक सबको देता है। बचपन की दरिद्रता, भूख,

पीड़ा, गाँव के बाहर रहनेवाले यूँ कहे कि हमारे भारत देश में मिलने वाले दलित समाज के घर, इनकी संस्कृति आदि। ऐसे ही दरिद्रता से भरे जीवन में लेखक का जन्म हुआ था। जब लेखक ऐसी संस्कृति को समझने लगे थे उसी समय से समाज की विषमता उन्हें दिखाई देने लगी थी। वर्ग में बटवारा, जाति में बटवारा आदि सवाल उन्हें हमेंशा ही सताने लगे थे। ऐसे में लेखक कहते हैं 'हकीकत का मैं यह सब भुक्त भोगी हूँ'। उनको जैसा जीवन मिला उसको ही जीते गए, दूसरे किस बात की चिंता थी न पता था। फिर बाद में लोगों की राह को समझा तथा जीने की नई राह निकाली। ऐसे में जो मिलता था वही खाते थे, जिसके साथ जमता था खेलना-कूदना, जो मिलता था वही पढ़ना, कही भी भटकना आदि की समझ ही थी। हकीकत ज्यादा तर लेखक की अपनी कथा है, उसमें कल्पना का लेशमात्र भी सहारा नहीं है। हकीकत की सभी घटनाएं 1948 से 1958 के बीच की है। स्वतंत्रता के पहले दशक की घटनाएं जिसमें गांधीजी की हत्या, भारत पाक विभाजन, स्वतन्त्रता के लिए लड़नेवाले सभी वीर पुरुष अनेक गुटों में विभाजित होना आदि का संक्रमण भरा हुआ युग था। इस तरह यह उपन्यास जीवनी परक होते हुए भी दलित समाज का दर्पण है।

(आ) जटायु

इसी जमीन से प्राप्त जो लेशमात्र भी कीमती न हो ऐसी जाति व्यवस्था मनुष्य की बदनामी का कारण बनती गई। मनुष्य को मनुष्य से दूर करनेवाली यह जाति व्यवस्था इसमें भी जाति के भीतर की उपजात, ऊंच-नीचता की कल्पना इससे मानवीयता को पूर्णतः से खत्म कर दिया। इस तरह का भयानक रूप लेखक को अपने विद्यार्थी जीवन से ही मिलता रहा। इसका विवरण हम जटायु में देख सकते हैं। पहले महार समाज के आश्रय में जीने वाले मातंग समाज को हीन समझा जाता था, बस्ती में चार-पांच विद्यार्थियों के बीच दसवी दर्जा में पास होने वाला मांग जाति का विद्यार्थी महारों को अच्छा नहीं लगा, उनकी प्रतिष्ठा सामने आने लगी। अपनी मेंहनत और जिद्द के साथ अपने परिवार को अच्छी राह दिखानेवाला युवा सबकी

नजरों में था। उसकी ईच्छा थी वह रेल्वे पुलिस बन जाए पर यह इच्छा इस समाज ने पूरी होने नहीं दी।

अंधश्रद्धा, मंत्र, पूजा-पाठ, चमत्कार आदि एक ढोंगी साधु के चक्कर में अभिमन का परिवार फसते चला गया। घरवालों की इच्छा के अनुसार अभिमन ने कम उम्र में ही शादी की जिससे पढाई में बाधा आ गई तथा आर्थिक स्थिति का संकट गहरा होता गया। अभिमन का परिवार बौद्ध धर्म स्वीकार न करने की वजह से महार जाति के लोगों के मन में द्वेश था। जटायु मूलतः शक्तिशाली, जिद्दी, शांतिप्रिय, आदर्श व्यक्ति का चरित्र है। गलत राह पकड़ने की वजह से जीवन से मोह भंग हो जाता है। अपनी गलती रहे या न रहे नुकसान खुद का ही था ऐसा अभिमन का चरित्र पाठक के सामने आता है।

1.2.3 हाडकी हाडवला

नामदेव ढसाल मराठी दलित साहित्य के जाने-माने हस्ताक्षर है। हाडकी हाडवला यह उपन्यास मराठी दलित साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है जो 1981 में शब्द पब्लिकेशन मुंबई से प्रकाशित हुआ था। इसके अलावा नामदेव ढसाल का रचना संसार बहुत ही विस्तृत है, उनका रचना संसार इस रूप में निम्नता से देखा जा सकता है- 'गोलपीठा', 'मुर्ख म्हात्या-याने डोंगर हलविले', 'गुलाबी आयाळीचा घोडा', 'तुम्ही इयता कंची', 'गांडू बगीचा', 'मी मारले सुर्याच्या रथाचे चार घोड़े', 'तुझे बोट धरून चालतो आहे मी', 'या सत्तेत जीव रमत नाही', 'निर्वाणा आगोदरची पीड़ा आणि कविता संग्रह', 'आमच्या इतिहासातील अपरिहार्य पात्र:प्रियदर्शनी' (दीर्घ कविता संग्रह), 'निगेटिव्ह स्पेस' उपन्यास, 'अन्बेडकरी चळवळ', 'सोशलिस्ट आणि कम्युनिस्ट', 'बुद्ध धर्म? काही शेष प्रश्न' आलोचना।

हाडकी हाडवला यह उपन्यास दलित जीवन की पीड़ा को उजागर करता है, इस उपन्यास की कथा का आरंभ भी दलितों के जीवन की तरह भयानक बारिश की

तबाही के साथ होता है। भयानक बारिश में दलितों के घरों की क्या स्थिति होती है हम सब को पता है, ऐसी स्थिति में एक महिला (जिसका नाम बायजा है) बारिश की तरफ देखकर चिंता में डूबी हुई है। बायजा सुशील और सुंदर महिला है। उसके पिता का गाँव उसके गाँव से कुछ ही दूरी पर था। उसके पिता का नाम देवनाक जो गाँव में मुखिया थे, उनकी बात को कोई टालता नहीं था, उनकी बात को सभी गाँव वाले सर आँखों पर रखते थे। उनकी चार संताने थी दो लडकियाँ दो लड़के, बायजा सबसे छोटी थी। बायजा के पिता बायजा से बहुत प्यार करते थे। वह बचपन से ही बायजा को अपना बेटा मानते थे उसको लड़के की तरह पहलवान बनाना चाहते थे। इन सबको देखकर बायजा की माँ राहिबाई अपने पति को हमेंशा डांटती थी। यह सब बायजा के बचपन की यादें थी। पर जैसे ही बायजा बचपन के इस सपने से बाहर आती है अपने अतीत की बीती घटनाएं उसे थोड़ी देर के लिए सुखद कर देती है। इससे यह जाहिर होता है कि दलितों के जीवन में सिर्फ सपने सुखद होते हैं जीवन का यथार्थ नहीं। जैसे ही उसका बेटा कुछ खाने के लिए मांगता है तो घर में कुछ नहीं होता है, पडोस के खेत में जाकर कुछ हरी पत्तों की सब्जियां लाती और वही बनाकर देती है।

दूसरी ओर बायजा को डर लगने लगता है कि सायब्या (बायजा का पति) मुंबई में दूसरी स्त्री को रखेल तो नहीं बनाया इसी चिंता में बायजा सोचते हुए सो जाती है। जब सुबह का सूरज निकलता है तो इस संसार में सभी जीवन संघर्ष करने के लिए निकल पड़ते हैं, उसमें बायजा भी एक थी। चार-पांच दिनों से वह भोजन नहीं बना पाई आज उसे लगता है कि कुछ बनाकर सावला (बायजा का बेटा) को खिलाया जाए। पर कैसे यह चिंता उसको सताती है, उसको फिर अपने पति की याद आती है और वह मन ही मन सोचने लगती है कि मेंरा पति आज-कल बहुत निष्ठुर हो गया है पहले पचास रुपए भेजनेवाला आज पांच रूपए तक नहीं भेज रहा है। फिर भी वह कुछ मांगने के लिए गाँव में जाती है, किसी के घर में कुछ भी न मिलने पर

गाँव के बाहर एक ब्राह्मण के खेत में जाती है जहाँ पर ज्वार आदि उसे दिखाई देता है। वह सोचने लगती है कि पहले यह जमीन हमारी थी घर में खाने के लिए अनाज न होने पर यह जमीन ब्राह्मण के पास गिरवी रखनी पड़ी। कुछ साल के बाद दलितों ने ज्वार वापस करने को गए तो उनको वहां से भगाया गया और कहा गया कि यह जमीन अब हमारी है, इस पर अब हमारा कब्जा है। अब पंद्रह बरस हो गए है यह जमीन उसी के कब्जे में है।

बायजा के ही शब्दों में- "हे सर्व पीक महारा-ढोरांच्या रक्ताचं ही सर्व जमीन महाराची, हाडकी हाडवळाची वतनी, पण अशाच एका पोटक-या दुष्काळात समस्त महारानी फ़क्त दीड मन दान्यासाठी इनामदारी असणा-या बामनाकड़े गहान टाकली, दुष्काळ संपल्यावर महारानी जमिनीची मागणी केली, घेतलेले दाने ते परत करायला गेले पण इनामदारानं धाकदपटशा दाखउन त्यांना हकून दिल. खालच्याच वर केलं कब्जेदार मणुन स्वताच नाव लावलं आणि गेली दहा ते पंधरा वर्ष तोच खातो आहे. महार वाड्यावर समस्ताची परवड महाराढोरांच्या अंगावर किती मास असणार? बिचारी गप्प बसली. मूळज्यांची मालकी त्यांच्याच हातात कटोरं. जावं कुठ? न्याय मागाव कुठ? पाटील तलाटी तालुक्याचा मामलेदार ते प्रांत कलेक्टर सर्वांना त्या इनामदारानं बांधून टाकल होत।"[1] दलितों के जीवन में हमेंशा से ही एक टीस रही इसी का उदाहरण बायजा के मन में भी देख सकते हैं। उसका कहना यह है कि कानून व्यवस्था भी उनके ही साथ रही है, यह बायजा सवाल करती है कि न्याय अब किससे माँगा जाए। सब उन्हीं के पक्ष में, इनामदार ब्राह्मण ने सबको खरीद लिया था। दलित समाज का कोई नवयुवक पढ़ा लिखा है तो किस तरह उसको फसाया जाता है, इसका भी उदाहरण इसी उपन्यास में मिलता है। बायजा का एक रिश्तेदार श्रवण पढ़ लिख कर अध्यापक बना था और गाँव में डाकिया का काम वही देखता था। इनामदार ब्राह्मण मनीआर्डर के सारे पैसे डाकिया के पास से हड़प कर उल्टा सारे गाँव के

[1] हाडकी हाडवला - नामदेव ढसाल - पृ.सं. 20

सामने श्रवण पर चोरी का आरोप लगाता है और सबके सामने उसको बेइज्जत करता है। यह किस्सा आज के दलित युवा के लिए बहुत ही मायने रखता है क्योंकि इन जैसे शैतानों को सबक सिखाने के लिए उनकी चाल को समजना बहुत ही ज़रूरी है।

इस उपन्यास की अहम समस्या पारिवारिक है, बड़ा परिवार आर्थिक साधन बहुत ही कम, बायजा के तीन ससूर, दो ससूर हमेंशा झगडा करते रहते हैं। इसका कारण यह रहा है कि रहने के लिए घर और कमाने के लिए कोई साधन न होना इस वजह से दलितों के घरों में हमेंशा से झगडा और पारिवारिक समस्याएँ बनी रहती है। इस से भी सबसे बड़ा कारण यह है कि पारिवारिक एकता का न होना, इस सन्दर्भ में बायजा कहती है- “येवडा छळवाद केल्यावर ही दोन नंबरचा सासरा स्वत:ला अवरीना सूडान पेटल्यागत करू लागला गावातल्या कारभारी मंडळिला खिरापत चारुण, रानात नेऊन, हाडकी हाडवळा पागोट टाकून वाटून घेतला. इनमिन दहा एकराच्या जमीनीच्या चिंध्या-चिंध्या झाल्या.”[1] दलितों में शिक्षा का अभाव होने के कारण अपने ही परिवार के लोगों को दुश्मन की तरह देखते थे। इसलिए पारिवारिक बिखराव की समस्या निर्मित हुई। इसके अलावा बुआबाजी, भानामती, केगामती आदि इन सब कुरीतिओं का शिकार है यह समाज। बायजा भी इससे अनभिज्ञ नहीं है। सावला के जन्म से पहले वह भी अपने बच्चे के लिए व्रत रखती थी जब वह पैदा होकर बड़ा हो जाता है तो उसकी खुशहाली में भगवान के सामने यह कहती है कि सबको सहभोज दूंगी। इस वादे के साथ वह सबको सहभोज भी देती है। इस तरह दलित समाज ऐसी प्रथा में जकड़ा हुआ है इसलिए इसको इससे बाहर निकलने की जरूरत है।

हिन्दू समाज के विद्रूप चेहरे को तथा पाखंडियों की पोल को पर्त-दर-पर्त खोल कर छुआछूत जैसे सामाजिक कोड़ को भी इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने उठाया है। विष्णुपंत ब्राह्मण की बावड़ी पर सावला और उसके कुछ मित्र तैरने को गए थे तो

[1] हाडकी हाडवला - नामदेव ढसाल - पृ.सं. 25

वह इन सब को देखकर गाली गलोच के साथ मार पिट करने लगा और कहने लगा दलितों ने मेंरी बावड़ी को छुआ तथा इनकी छाया के कारण मेंरी बावड़ी गन्दी हो गई- "अरे, धेडाच्या कारटयानों!... विहीर बाटवली, धेडाच्या कारटयानी विहीर बाटवली।"[1] इस तरह हल्ला मचा रहा था। तथाकथित दलित समाज की तरह युवा पीढ़ी सहने वाली नहीं थी। उसका विरोध करती है, प्रतिकार करती हैं, इतना ही नहीं बल्कि विष्णुपंत ब्राह्मण को ही मारने लगती हैं- "बामणाला आवाज दिला गेला. भडाभडा गोटे त्याच्या मस्तकावर घालू लागले. आच्यानक झालेल्या मा-यान विष्णुपंत तिरिमिरीला आला आणि कठडया वरुण जमिनीवर कोसळला. पोरं त्याला गोट्यानी खेचून काडू लागली तो गुरा सारखा ओरडू लागला।"[2] इस तरह का विरोध करना मतलब नई पीढ़ी नए विचारों को लेकर आ रही है। पारम्पारिक दलित समाज के लोगों की तरह अब वह छल, दुःख, दर्द सहना नहीं चाहते परिणाम चाहे जो भी हो पर उसका विरोध करने का साहस तो रखते हैं यही ताकत नई पीढ़ी में दिखाई दे रही है। जिस समय लेखक यह उपन्यास लिख रहे थे, दलितों को मरे हुए जानवारों का मांस खाना, उसको उठाकर गाँव के बाहर ले जाना, उस मरे हुए जानवर की चमड़ी निकालना आदि कार्य करने पड़ते थे। लेखक यूँ ही नहीं लिखे हैं पीढ़ी ऐसी समस्याएँ तत्कालीन समय में थी इसलिए लेखक ने ऐसी समस्याओं को इस उपन्यास में उठाया है। साथ ही गाँव में कोई बड़ा पटेल या ब्राह्मण मरता था तो उसकी खबर अन्य गाँववालों को पहुँचाने का काम भी दलित समाज के लोगों को ही करना पड़ता था। उक्त सभी कार्य दलित समाज के लोग सामूहिक रूप से करते थे फिर भी दलितों को हेय दृष्टि से देखा जाता था।

उपन्यास में एक प्रसंग ऐसा है जो बायजा का बेटा सावला गाँव के एक सामूहिक त्यौहार में सिर पर लालबत्ती लेकर चल रहा था। सावला को लगा की गाँव के अन्य लोगों की तरह मैं भी इस त्यौहार का आनंद लू, पर उसको यह पता नहीं था

---

[1] हाडकी हाडवला - नामदेव ढसाल - पृ.सं. 50
[2] हाडकी हाडवला - नामदेव ढसाल - पृ.सं. 51

कि दलितों को ऐसे कार्य में सहभागी होने नहीं दिया जाता। दलित समाज के लोगों को सिर्फ सीर पर लालबत्ती लेकर चलना था। यह सब सावला को ज्ञात नहीं था, सावला जिद्द करने लगा। पर बायजा उसको कैसे समझाए वह मन-ही-मन कहने लगती है- “म्हारा-मांगाला गाव गाड्या सोबत टिपर खेळता येत नाहीत. हे सावळाला सांगायचं बायजाला सुधारायच नाही. तिला वाटायच खेळच्या खेळ उधळुन द्यावा. त्याला होळीच्या जाळासारखी धडा-धडा आग लावावी. सगळा सरंजाम महारा-मांगाचा, पण त्याचा आनंद काही महारा-मांगानी लुटायचा नाही. त्या खेळात शामिल व्हायच नाही. सर्व काही सेवा महाराच्या पोराकडून करुन घ्यायची फक्त फळ त्यांना चाकू द्यायची नाही।”[1]

इस तरह से दलित समाज के लोग उनकी सेवा करने के बावजूद भी उनके साथ नहीं खेल सकते थे। उनके साथ कोई व्यवहार नहीं कर सकते थे। उपन्यास मूलतः नायिका प्रधान है। इस उपन्यास की नायिका बायजा जो कि शीलवान, गुणी, त्यागी तथा संघर्षशील महिला है। सभी समस्याओं का मुकाबला वह स्वयं करती है। अपना पति मुम्बई में होने के बावजूद भी वह अपने बेटे के साथ रहते हुए अपना घर परिवार बहुत ही आसानी के साथ चलाती है। एक महिला को अकेले होने का कितना कष्ट होता है बायजा बखूभी जानती है। आर्थिक परिस्थिति उतनी अच्छी न होते हुए भी वह अपना घर मजदूरी करके चलाती है। एक अकेली महिला जब घर में होती है तो उसका फायदा कुछ सैतान रूपी मनुष्य उठाते हैं यूँ कहें कि कभी-कभी घर के लोग भी इसका फायदा उठाने का प्रयास करते हैं। मनबा उसके पति का छोटा भाई वह बायजा के अकेले पन को देखकर उसके साथ जबरदस्ती करना चाहता था। पर उसका विरोध करते हुए बायजा उसको पिटती है तब जाकर वह वहाँ से भाग जाता है। वह सोचने लगती है कि अगर मेंरा पति आज घर पर होता तो वह आने की हिम्मत नहीं करता। वह मन ही मन सोचने लगती है कि समाज औरत को कितनी हेय दृष्टि से

---

[1] हाडकी हाडवला - नामदेव ढसाल - पृ.सं. 76

देखता है। यह उपन्यास एक तरह से दलित समस्या को उजागर करता है तो दूसरी तरफ दलितों में भी दलित महिला की समस्या को उजागर करता है। बायजा एक महिला होने से, दूसरी दलित होने से, तीसरी ऐसे में एक दलित महिला होने का शिकार भी है। इस तरह एक दलित महिला तिहरे शोषण का शिकार होती है। ऐसी स्थिति को पहचान कर विमला थोरात समग्र रूप में जिस स्त्री का चित्रण दलित साहित्य में हो रहा है और एक दलित महिला के जीवन में कैसे सुधार लाया जा सकता है इस पर बुद्धिजीवी वर्ग से सवाल करती है- "बुद्धिजीवी वर्ग की चिंता का यह विषय ही नहीं है कि दलित स्त्री की यौन शोषण की प्रथाओं की समाप्ति के अभियान में सिरकत करें। अन्य देशों की समस्याओं से द्रवित होनेवाला भारतीय मन हजारों वर्षों की बर्बरता पूर्ण प्रथा पर खामोश रह कर अपनी मुख सम्मत्ति क्यों दर्शाता है? जाति संरचना में व्याप्त असमानता और अन्याय पर वे सहमत नजर क्यों नहीं आए, इसी की बदौलत तो उन्हें शोहरत, पुरस्कार, सत्ता में भागीदारी और धन संपदा प्राप्त है"।[1] इस तरह यह समग्र उपन्यास एक दलित महिला के इर्द-गिर्द घूमता है और उसकी पीड़ा को शब्द बद्ध करने की चेष्टा करता है।

1.2.4 झिपय्या

'झिपय्या' मराठी का प्रसिद्ध उपन्यास है। इसके लेखक अरुण साधू उपन्यासकार के साथ-साथ मराठी के प्रमुख पत्रकार के रूप में प्रसिद्ध है। अपने लेखन के माध्यम से भारतीय साहित्य की उल्लेखनीय सेवा के लिए कई बार पुरस्कृत एवं सम्मानित है। झिपय्या मूलतः मराठी उपन्यास है इसका हिंदी अनुवाद डॉ.सौ.विद्या सहस्त्रबुद्धे ने बहुत ही प्रामिणिकता से किया है। इस उपन्यास का पहला हिंदी संस्करण राधाकृष्ण प्रकाशन प्रायवेट लिमिटेड, नई दिल्ली से 1998 में हुआ है। प्रस्तुत उपन्यास की कथा नई तो नहीं है पर दिल को छू लेने वाली जरूर है। मुंबई

[1] दलित अस्मिता - सं.विमल थोरात, जुलाई-दिसंम्बर, 2012, वर्ष 2 अंक पृ.सं. 8-9, संपादकीय

जैसे महानगर में बारह-पन्द्रह साल के छोटे-छोटे बच्चे जिनकी आयु खेलने कूदने, स्कूल जाने की होती है पर यह सब इस उपन्यास में हमें उलटा दिखाई देता है। उपन्यास में इसी आयु के बच्चे है मगर वह अपने प्रति अपने परिवार के प्रति मेंहनत मजदूरी करके अपना जीवन चलाते हैं। इसलिए लेखक ने भूमिका में इस उपन्यास की कहानी स्पष्ट करते हुए कहा है कि- "कहानी का नायक बारह-तेरह साल का बच्चा है। उसके मन में क्रोध है पर अकारण द्वेष नहीं। उसकी बहन लीला यौवन सुलभ आकर्षणों से क्षण काल के लिए मोहित हो जाती है। परन्तु वह चंचल या उथली नहीं है। पिंगल्या अपना पेट पालनेवाला दादा है पर वह ह्रदय से दुष्ट नहीं है। इसके अलावा झिपय्या की माँ उसकी पड़ोसन सकीना, झिपय्या के बूट पालिश करनेवाले दोस्त- नाया, पोब्या, दाम्या, गंजू, असलम आदि हर एक का अपना अस्तित्व है। ये सारे लोग गरीबी के साथ अपनी ईर्ष्या से मुकाबला कर रहे है। हर रात ठीक से खाना नसीब न होने पर उजाले भविष्य की आशा के साथ नींद में खो जाते हैं। यही इनकी जीवन इच्छा का मर्म है।"[1] इस उपन्यास का पूरा चित्रण मुंबई के महानगरीय जीवन में गरीब, दलित तबके के लोगों की संघर्षमय गाथा है। सन् 1980-90 के दशक में हमारे देश में खासकर मुंबई में कई परिवर्तन आ रहे थे। मुंबई के उपनगरीय लोकल गाड़ियों की तेजी से बढ़ती भीड़ और मध्यवर्गीय लोगों के रहन-सहन का तेजी से उठता स्तर इन महत्वपूर्ण परिवर्तनों से बूट पॉलिश करने वाले बच्चों की रोजी-रोटी छिनने का डर था। परिणामतः उपनगरीय लोकल ट्रेन में बूट पॉलिश करके अपना पेट पालनेवाले बच्चों की संख्या कुछ सालों से घट गई थी।

इस कथा में बदलाव की पृष्ठभूमि स्वभाविक रूप से पाई जाती है। परन्तु मूल पृष्ठभूमि है इन बच्चों की मुश्किल लड़ाई की उन्होंने प्राकृतिक आशावाद की, उनके उत्कृष्ट नितिमूल्यों की आस नहीं छोड़ी थी। ये बच्चे आसानी से हाथ पसारकर भीक मांगकर कही अधिक पैसा कमा सकते थे, परन्तु यह बात उनके स्वीकृत नैतिकमूल्यों

---

[1] झिपय्या - अरुण साधू - भूमिका

के खिलाफ थी। अतः पसीना बहाकर मेंहनत करके इमानदारी से गुजारा करना उन्होंने पसंद किया। दुर्गम परिस्थितियों के दबाव से भी न दबनेवाली मूल्यनिष्ठा और अपार जीवनवाद यही बात हमें उन बच्चों के प्रति नतमस्तक कर देती है।

वास्तविकता बड़ी डरावनी है, दरिद्रावस्था अत्यंत कष्टप्रद होती है और जीन्दगी की लड़ाई बहुत कठिन है। फिर भी गरीबी से झुलसा हुआ विशाल मानव समाज वास्तविकता से डर कर लड़ाई के मैदान से भाग कर नहीं जाता। झिपय्या और उसके आस-पास के सभी संबंधी समाज के सबसे निचले स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं। दलित समाज से ही यह पद दलित व्यक्ति है जो अपने-अपने गाँवों से कट चुके हैं और मुंबई जैसी विराट महानगर की गन्दी नाली में समां गए हैं। समाज संस्था की किसी भी कोठरी में इनके लिए स्थान नहीं हैं। अतः उनकी विपन्नावस्था ग्रामीण पद दलितों से भी बदतर है। इनकी कोई जात नहीं है, धर्म नहीं है, प्रांत नहीं हैं अतः उनमें किसी प्रकार का संकुचित भाव नहीं है। ग्रामीण विभाग के पूर्ण रूप से धन-हीन समाज में भी जात-पात की क्रम बद्ध व्यवस्था प्रायः दिखाई देती है। विशाल ग्रामीण समाज में उनका एक मजबूत स्थान होता है। महानगर की इस झोपड़पट्टी की बीहड़ में अब तक तो इस प्रकार की संस्था नहीं थी। इंसानियत की धरातल पर ही व्यक्ति आपस में व्यवहार करते थे। अहम् बात तो यह है कि महानगर के दलित लोगों की हालत ग्रामीण विभाग के दलित लोगों से भी बहुत ही दयनीय हैं। पितृसत्ताक समाज के पैरों तले रौदे गए यह लोग एक दूसरे को हिन्दू, मुस्लिम, सिख, इसाई न मानकर इंसानियत पर ही पहचानते हैं।

मुंबई जैसे महानगर में मनुष्य दो-चार वर्ष रहने के बाद धीरे-धीरे जीने के गुर अपने आप सीख ही जाता है। परन्तु बड़े आश्चर्य और महत्त्व की बात यह है कि गाँव से नंगधडंग अवस्था में शहर की तरफ आए हुए यह लोग महानगर में आँखों को चका चौध कर देनेवाले वैभव को देखकर भी अपना दिमांग ठिकाने पर रखने की क्षमता रखते हैं। भीक मांगने और गुन्हेगारी जैसे इतने सारे रास्ते होने के बावजूद भी

झिपय्या जैसे लड़के मेंहनत और पसीना बहाकर ही कमाई करते हैं। मुंबई के लोकल ट्रेन में जूते पॉलिश करते समय कुछ लोगों को यह परेशानी होती है कि यह बच्चें जान बुझकर भीड़ में हमें परेशान करते है, और सताते हैं, ऐसा लगता है इन गरीबों की कोई क़ीमत ही नहीं। इन सबका जवाब देते हुए असलम कहता है- "माफ़ करना साब... माफ़ करना...! भौत बड़ी गलती हुई, माफ़ करना! ऐसा चिल्लाना नहीं चाहता। मगर क्या करूँ! यह निक्कमा पेट, यह पापी पेट, चिल्ला चिल्ला के कहता हय कि असलम ...उठ... अपने दोनों हातों से काम कर इस दुनिया के लोग पाँव में जूते चडाते हय, उन जूतों की धुल निकाल, उन जूतों को साफ़ कर अपने दिल के माफिक, पवित्र गंगाजल के माफिक साफ़ कर उन्हें चमका दे। तेरी एक टैम की रोटी मिल जाएगी। लेकिन साहब क्या करू, यह पेट भी बड़ा जिद्दी हय। ये भीख मांगने नय देता। वह कहता है कि अय असलम, मर जाओं पर भीख नय मांगना। कहता हय कि अपने खुद के पसीने से कमाई हुई रोटी स्वर्ग होती है और भीख की रोटी नरक। भूखा मर जा असलम ...लेकिन भीख नय मांगना। क्या करू साब, मजबूर हूँ, लेकिन तकलिफ के लिए माफ़ करना।"[1] ऐसी हालातों में भी यह लड़कें भीख नहीं मांगते वह अपनी इमानदारी मेंहनत पर फक्र महसूस करते हैं। इस दुनिया के लोग इन जैसे लड़को को इतना सताने के बावजूद भी असलम कहता है- "देख हर इंसान में इंसानियत होती हय। अब कभी-कभी दुनिया के लोग इंसान को बिगाड़ देते हय। लेकिन अन्दर दिल हर इंसान का अच्छाच होता हय। लेकिन अपुन किसी इंसान से घबराता नहीं और दुश्मनी भी करता नहीं। क्या हय की नय"।[2] यह बच्चें हर रोज धुप हो या बारिश भरी भीड़ में अपनी किश्मत अजमाने घर के बाहर निकल पड़ते हैं। फिर भी इस दुनिया के लोग इन पर हर तरह का इल्जाम लगाकर उन्हें परेशान करते हैं। एक लोकल सवार कहता है- "खामखां परेशान करते रहते हैं यह बच्चें। पहले से यहाँ कितनी भारी भीड़ है उसमें यह लोग विदाउट टिकेट घूस जाते हैं। रेल वालों को

[1] झिपय्या - अरुण साधू - पृ.सं. 114
[2] झिपय्या - अरुण साधू - पृ.सं. 87

पाबंदी लगानी चाहिए इन बच्चों पर।"[1] इन हालातों में भी यह बच्चें अपनी पेट की आग बूझाने के लिए अनेकों मुश्किलों का सामना करते हैं।

कितनी अजीब दासतां है जिंदगी की कि इतनी कम उम्र में भी जीने के हर गुर सिखा देती है। झिपय्या जैसे कितने लड़के होंगे इस भूतल पर जिनको प्रति दिन इन जैसे संघर्षों से जूझना पड़ता है। उपन्यासकार यह बताना चाहते हैं कि दुनिया में अभी भी बाल मजदूरी है। बच्चों में सुधार लाने के लिए लेखक कीर्तने मास्टरजी के माध्यम से यह सन्देश देना चाहते है कि शिक्षा से हर बुराई को दूर किया जा सकता हैं। झिपय्या जैसे बालक के मन में शिक्षा के प्रति दिलचस्पी लाना मास्टर जी जैसे लोग ही कर सकते हैं। झिपय्या ही नहीं बल्कि उसके सभी दोस्त शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं परन्तु उनको उस तरह का माहौल नहीं मिला। इसलिए वह शिक्षा से वंचित रह गए। अब सवाल यह उठता है कि इसका असली जिम्मेदार कौन है? क्या उनके हालात या शासन व्यवस्था? जो इन मासूमों पर ध्यान नहीं देती। इन गरीब अनाथ बच्चों पर ध्यान न देने से हर रोज कितने बच्चें अपनी जान गवाते हैं। इसका एक उदाहरण असलम भी है। अंततः इन बच्चों के भविष्य के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि दैन्यवस्था की काली कलूटी रात ख़त्म हो गई है। उजाले भविष्य की सुबह के साथ-साथ असलम मर जाता है। उसकी यह फ़िल्मी मौत न जाने कितनी सच्ची कितनी भ्रामक ये तो पाठक ही तय करेगा।

विप्पन्नावस्था के विपरीत इनकी जो लड़ाई चल रही है उसमें अब तक तो यह लोग पानी की ऊपरी सतह पर ही रहने में कामयाब हो पाएं है। पता नहीं यह भिडंत कितनी देर तक चलेगी, इनमें से किस-किस को किनारा मिल जाएगा? इनके परिश्रमों का भी कोई अंत नहीं है। लीला का भविष्य बड़ा दर्द भरा होने की संभावना है। झिपय्या नहीं चाहता है कि लीला पार्सिन के घर रहे। इसका कारण वह खुद भी नहीं जानता परन्तु पाठक भली-भाँती समझता है। पार्सिन के घर लीला को अच्छी,

[1] झिपय्या - अरुण साधू - पृ.सं. 87

सुरुचिपूर्ण रहन-सहन का चस्का लग जाता है, लेकिन शादी के बाद उसे फिर से झोपड़ पट्टी में ही रहना होना। परीकथाओं की तरह कोई राजकुमार उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रखकर उसे जिंदगी भर के सुख आराम थोड़े ही बख्श देगा! वास्तव में लीला का किसी अलग किस्म की जिंदगी के सपनों में खो जाना ही गलत है। तभी तो उसका दुखद अंत अटल है शायद झिपय्या के प्रतिरोध का यह भी एक कारण हो सकता हैं।

अपने कुशल नेत्रत्व और गुणों के आधार पर तथा नाया के शक्तिशाली समर्थन के बलबूते पर झिपय्या का बड़ा आदमी (दादा) बनाने की संभावना थी। उसका इस तरह दादा बनना निश्चय ही अधिक नाट्य पूर्ण तथा आकर्षक प्रतीत हो सकता था। दादागिरी के सहारे झिपय्या बहुत पैसे कमाया होता जिससे वह अपने साथियों की जिंदगी भी खुशियों से भर देता। वह एक बड़ा दादा बन जाता है और बाद में लीडर। परन्तु झिपय्या ने जिस रास्ते का चयन किया है, वह इससे अलग है और कठिन। लाइन के सभी छुट-पूट बच्चें दादा नहीं बनते- बन सकते भी नहीं। सबकी दृष्टि से हालात अनुकूल नहीं रहते। झिपय्या की दृष्टि से अनुकूल थे फिर भी उसके किशोर मन पर इष्ट मूल्यों का प्रभाव इतना अधिक है कि झिपय्या ने इसी मुश्किल राह को अपना लिया। उसका यह मूल्य संवर्धन किसने किया? मास्टरजी तो उसके जीवन में अभी-अभी आये थे, उसकी माँ और लीला इतनी सक्षम नहीं है। इसका मतलब है कि यह मूल्य उसके मुलभूत प्राकृतिक मानवी स्वभाव से ही मिले थे। उन मूल्यों को उसने रास्ते की निर्णायक लड़ाई में भी न केवल सहेजकर रखा है बल्कि और अधिक पैना बना दिया है। असलम, उसकी अम्मी, रेलवे प्लेटफार्म और कुछ मात्रा में कीर्तने मास्टरजी ने झिपय्या को सकारात्मक या नकारात्मक अहसास दिया है। परिणामतः उसका भविष्य कष्टमय और विपदाओं से भरा हुआ होने पर भी उसे एक विराट युद्ध का स्वरूप प्राप्त हो गया है। यह विराटता और ये दिव्यता सभी के हिस्से में थोड़ी बहुत मात्रा में आती ही है। तभी तो अपनी अस्मिता और एकता को बड़े प्रयत्न से

कायम रखते हुए ये सारे व्यक्ति दुख की परछाई में भी बड़ी ख़ुशी और जिद्द के साथ जिंदगी गुजारते हैं, जीवन के सनसनीखेज सुख को हर पल अनुभूत करते हैं तथा जीवन का जश्न मनाते रहते हैं।

1.2.5 नरवानर

प्रस्तुत उपन्यास मराठी के जाने माने लेखक तथा आलोचक शरणकुमार लिम्बाले का है। यह उपन्यास मूलतः मराठी का है इस का हिंदी अनुवाद निशिकांत ठकार ने किया जो कि जाने माने अनुवादक है। इस उपन्यास का पहला संस्करण 2003 में राधाकृष्ण प्रकाशन प्रायवेट लिमिटेड नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की कथा वस्तु दलित आन्दोलन पर आधारित है। डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर के महापरिनिर्वाण यानी 1956 के बाद दलित आन्दोलन अनेक दिशाओं में विभाजित हो गया। दलित कार्यकर्ता अपने-आप को मसीहा समझकर आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। असली नेता मैं ही हूँ मेंरा आन्दोलन ही सही आन्दोलन है जैसी नारेबजियाँ हो रही थी। सही दलित आन्दोलन दिशा हीन हो गया था। इसी की परत खोलनेवाला यह उपन्यास है।

लेखक इस उपन्यास की भूमिका में कहते हैं- “डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर के महापरिनिर्वाण के उपरान्त दलित आन्दोलन में उथल-पुथल मच गई, आन्दोलन कलह से ग्रस्त हो गया कि बाबासाहब के निधनोपरांत आन्दोलन की बागडोर किसके हाथ में हो मात्र इसी विवाद ने विगत चार दसको के इस आन्दोलन को तोड़ दिया। आन्दोलन के नेत्रत्त्व के लिए होड़ सी मच गई, ‘असली नेता तो मैं ही हूँ’, ‘मेंरा आन्दोलन ही सही आन्दोलन है’ जैसी नारेबजियाँ होने लगी। कुछ लोगों ने आन्दोलन पर कब्जा करने की कोशिश की और अम्बेडकर के नाम पर कुछ नए आन्दोलन छेड़ दिए। आन्दोलनों की तादात बढ़ गई, सही आन्दोलन किसका है यह देखने की बजाय बड़ा आन्दोलन किसका हैं, यह सवाल अहम हो गया। हर एक गुट अलग-अलग

अम्बेडकर समारोह और जयंती मनाने लगा। एक चौराहे पर चार-चार उत्सव होने लगे। होड़ इस कदर पहुँच गई कि किसकी निधि ज्यादा है। कोई आन्दोलन बिना राजनीतिक पार्टी के जीवित नहीं रह सकता। लोगों को लुभाने के लिए नयी-नयी तरकीबे ढूंढी जाने लगी। लोगों के भावनाओं के समीकरण बनाए जाने लगे। जब भावना का निरन्तर आहवान किया गया। रिपब्लिकन एकता, चैत्यभूमि, दीक्षाभूमि और मराठवाडा विश्विद्यालय का नामांतर भाऊक प्रतीक बन गए। बाबासाहब अम्बेडकर समग्र दलित चेतना के प्रतीक बन गए। तमाम आन्दोलन बाबासाहब का नाम लेकर ही चलने लगे। दलितों से समर्थन प्राप्त करने के लिए कांग्रेस ने भी बाबासाहब की तस्वीर लगा दी। संग परिवार ने डॉ. हेडगेवार के साथ बाबासाहब को सम्मान दिया। धीरे-धीरे बहस इस बात पर होने लगी कि असली अम्बेडकरवादी कौन हैं? 'अम्बेडकर बनाम मार्क्सवाद', 'अम्बेडकर बनाम गांधीवाद', 'अम्बेडकर बनाम हिन्दूवाद' जैसी बहसे जोर पकड़ने लगी। किसी को मार्क्सवादी करार देकर किसी को समाजवादी समजकर किसी को हिन्दूवादी बताकर समाज को अलगाने की राजनीति शुरू हो गई। असली वर्ग शत्रु और वर्ण शत्रु नजरअंदाज हो गए। दलितों में फूट पड गई। आन्दोलन टूट गया, गुट बन गए, समाज गुटों में बट गया। इस प्रक्रिया में कुछ लोग अन्य कुछ लोगों को सचमुच ही मिटा दिया। कुछ स्वयं ही अपने अनुयायियों के साथ जलते घर (कांग्रेस) में घुस गए। वानरों की एक जाती में टोली का नर नायक अपनी टोली में पैदा होनेवाले नर बच्चों को मार डालता है। मादा पैदा होती है तो वह खुश होता है। टोली में उसके अलावा सब मादाएं हो। भोग में कोई और भागिदार न हो। यह प्रवृत्ति उन नेताओं की थी जो सत्ता के केंद्र में थे। अतः आन्दोलन पर एकाधिकार चाहते थे सत्ता का भोग स्वयं करें उसमें किसी की हिस्सेदारी न हो।"[1] लेखक अपनी बात स्पष्ट रूप से कहते हैं कि आज के नेता हो या आन्दोलनकर्ता सिर्फ सत्ता हासिल करने के लिए आन्दोलन कर रहे हैं, सत्ता हासिक कर जनता को गुमराह करने तक का इनका आन्दोलन है। दलित नेतओं से

[1] नरवानर - शरणकुमार लिम्बाले - पृ.सं. भूमिका

कार्यकर्ताओं तक यही होड़ थी। इनके आन्दोलन में कोई दम नहीं था। अनेक विश्विद्यालय में पढ़नेवाले दलित छात्रों में भी अनेक संगठन बने थे पर इनमें भी कोई एकता नहीं थी। अपने संगठन को बाबासाहब का अलग-अलग नाम देकर मोर्चा निकालते थे पर इसका असर कुछ भी नहीं होता था। इसके अलावा गल्ली मोहल्ले के अपने-अपने संगठन थे। इन सबका अपना कोई मंच नहीं था। सारे संगठन अलग होने के कारण उनकी समस्याएँ शासन तक पहुँच नहीं पाती थी। मीडिया का ध्यान उनकी तरफ नहीं जाता था। उनकी मांगों के लिए जन आन्दोलन का प्रभावपूर्ण दबाव नहीं होता था। इसलिए इन सब छोटे-छोटे संगठनों को एक बैनर के नीचे आना जरूरी था। इसी उपन्यास में दयानंद कहता हैं- "प्रतिक्रियावादियों के विरोध में लड़ने के लिए एक शक्तिशाली संगठन का होना जरूरी है। अलग-अलग चूले जलाना हमारे लिए उचित नहीं होगा। हम संगठित होंगे तभी संघर्ष कर सकेंगे।"[1] 1972 में एक नया संगठन स्थापित हुआ जिसका नाम था 'दलित पैंथर' इस संगठन की लहर पूरे महाराष्ट्र में फ़ैल चुकी थी। छोटे-छोटे संगठन को एक होकर अपनी आवाज बुलंद करनी चाहिए इसलिए रोहिदास कहता है- "अपना संगठन हास्टल तक ही सीमित है अगर हमने दलित पैंथर की स्थापना की तो हमें बड़ा समर्थन मिलेगा। हमारे पीछे एक बड़ी शक्ति खड़ी होगी। हम अपनी समस्याओं को राज्यस्तर पर अपनी आवाज उठा सकेंगे। हमारे साथ अन्याय हुआ तो पूरे राज्य में आन्दोलन होगा। छोटे संगठन को बचाने की अपेक्षा बड़े शक्तिशाली संगठन में शामिल होना समय की पुकार है।"[2] आखिर सभी कार्यकर्ताओं में एक मत हो गया कि पैंथर को ही बड़ा नाम देकर उसी को आधार बना कर लोगों की समस्याएँ सुलझाने का कार्य करेंगे। पैंथर फिर से सक्रिय हो गया उसका नाम अब 'भारतीय दलित पैंथर' रखा गया। हर कोई नए जोश से कार्य कर रहा है। सभी को यह अहसास होने लगा कि जब तक आम जनता के सवालों पर संघर्ष नहीं किया जाएगा तब तक जनता का समर्थन नहीं मिलेगा। नहीं

[1] नरवानर - शरणकुमार लिम्बाले - पृ.सं. 44
[2] नरवानर - शरणकुमार लिम्बाले - पृ.सं. 44

तो यह संगठन एक टाइम पास का साधन बन जाएगा। भारतीय दलित पैंथर के कार्यकर्ताओं ने एक पहल चलाई की इस संगठन को चलाना है तो गाँव-गाँव जाकर लोगों को इसमें शामिल करना होगा। इससे संगठन को मजबूती प्राप्त होगी इसका असर यह हुआ कि अवसरवादियों की तादात भी बढ़ गई। अपराधिक तत्व भी उसमें घुस गए। अपराधी लोग भी पैंथर में कार्य करने लगे, ऐसे कार्यकर्ता ठेलेवाले, रिक्षावाले, झाड़ूवाले आदि से हप्ता वसूल करने लगे। इन जैसे कार्यकर्ताओं पर समाचार पत्रों में शिकायत भरा लेख दयानद लिखता है। जिसमें वह कहता है- “सामजिक संगठन गुण्डों के अड्डे बन गए है। अपराधी तत्वों ने संगठन पर कब्ज़ा कर लिया है। दो अपराधिक गुटों जैसी लड़ाई संगठन में चल रही है। सामाजिक नाम पर कार्यकर्ता काले धंदे कर रहे हैं। और यह धंदे करते समय महापुरुषों के नाम लिए जाते हैं। संगठन इमानदार आदमी का लहू चूसनेवाले जोंक बन गए है।”[1]

दयानन्द इस खोकले संगठन से नाखुश है, उसे लग रहा है कि संगठन के कार्यकर्ता अपने ही लोगों पर षडयंत्र करते हैं। जब कोई अच्छा कार्य करता है तो उसकी टांग खींचने में कोई कसर नहीं छोड़ते। दयानन्द इस पर फिर कहता है- “सामजिक कार्य की अपेक्षा अन्य कार्यकर्ताओं की हरकतों को बंद करने में ही ज्यादा समय चला जाता है। एक दूसरे की टांग खींचना, दूसरों को बदनाम करना, अंटशंट इल्जाम लगाना, यह सब बुरा षडयंत्र है। अपने संगठन में नेता तो पैदा होते हैं पर कार्यकर्ता नहीं। हम गलती से नेताओं के चमचे को ही कार्यकर्ता मान लेते हैं। अपना संगठन चमचों के झमेंले में उलझ गया है। इमानदार कार्यकर्ताओं का कत्लगाह बन गया है।”[2] इस तरह आपसी मतभेदों को मिटाने में ही इनका समय चला जाता था। इसलिए समाज कार्य तो इनसे कोसों दूर था। इस उपन्यास के दूसरे अध्याय में दलित आन्दोलन अपनी शक्ति से उभरता दिखाया गया है। रिपब्लिकन पार्टी, दलित पैंथर, नामांतर आदि का चित्रण दिखाया है। यह आन्दोलन भी केवल सत्ता के लिए होते हैं

[1] नरवानर - शरणकुमार लिम्बाले - पृ.सं. 62
[2] नरवानर - शरणकुमार लिम्बाले - पृ.सं. 70

आम जनता की समस्या कोई सुलझाता नहीं। इसी उपन्यास का मिलिंद कहता है- "आन्दोलन जनता के नाम पर होते हैं, दरअसल होते हैं केवल सत्ता के लिए।"[1] सत्ता हासिल करने तक जनता की समस्याओं पर केवल भाषण बाजी होती है। उसके बाद वह अपनी खिचड़ी पकाते हैं। आम जनता की पुकार को सुननेवाला कोई नहीं होता। जनता चिखती है चिल्लाती है पर उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। लेखक का मानना है कि- "आम जनता की शासन में हिस्सेदारी मतों के सौदों तक ही सीमित होती है।"[2]

इस उपन्यास के चौथे अध्याय में संगठन का टूटना दर्शाया गया है। आन्दोलन प्रस्थापित व्यवस्था का अंग बन जाता है। इसका कारण बताते हुए लेखक कहते है कि- "आन्दोलन का नेतृत्व मध्यवर्गीय मानसिकता के नेता कर रहे हैं। इसलिए संपूर्ण क्रान्ति नहीं हो पाती।"[3] व्यवस्था मजबूत है उसने बुद्ध, चार्वाक, महावीर और कबीर को हजम किया है। अब उसके पाँव बाबासाहब अम्बेडकर की दिशा में बढ़ाएं हैं। अतः यही कहा जा सकता है कि- "अपने आन्दोलन के एक-एक कार्यकर्ताओं को बदनामी के हथियार से खत्म कर दिया जा रहा है। हम खुद ही अपने कार्यकर्ता को बर्बाद कर रहे हैं। कार्यकर्ता के पास अपनी खुद की बुद्धि होनी चाहिए। नेताओं को इमानदारी और अनुशासन की बातें नहीं करनी चाहिए। जब तक स्वार्थ सुरक्षित है तब-तक इमानदारी होती ही है। जब स्वार्थ पर आंच आती है तब दगाबाजी शुरू हो जाती है। नफा नुकसान में मेंरा हिस्सा क्या है इसका पता मुझे चलना चाहिए। नेता माल लुटते रहे और उनके चमचे पूरे आन्दोलन को अपने स्वार्थ के लिए इस्तमाल करते रहे, यह नहीं चलेगा इसे रोकना होगा।"[4] इस तरह समग्र रूप से यह उपन्यास दलित आदोलन के केंद्र में है। आज का दलित आन्दोलन तथा युवाओं का दलित संगठन किस तरह से विफल हुआ है इसको हमने देखा। जब तक निजी स्वार्थ को त्यागकर समाज के लिए

---

[1] नरवानर - शरणकुमार लिम्बाले - पृ.सं 139
[2] नरवानर - शरणकुमार लिम्बाले पृ.सं - 139
[3] नरवानर - शरणकुमार लिम्बाले पृ.सं - 139
[4] नरवानर - शरणकुमार लिम्बाले पृ.सं - 159

समर्पित नहीं होंगे तब तक समाज का उद्धार नहीं हो सकेगा। उपन्यास की भाषा पात्रानुकुलित है, संभवतः यह पूरा उपन्यास आत्मपरक लगता है। अंत में इतना ही कहा जा सकता है कि यह उपन्यास दलितों में होनेवाले स्वार्थी और चरित्रहीन संगठनों पर करारा प्रहार है।

1.2.6 दुभंग

प्रस्तुत उपन्यास दुभंग मराठी के जाने माने लेखक और क्रांतिकारी व्यक्तित्व के धनी लक्ष्मण गायकवाड का है। उन्होंने मराठी दलित साहित्य को एक नयी दिशा देने का प्रयास किया, उसी का उदाहरण यह उपन्यास है। इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 2004 में राधाकृष्ण प्राइवेट लिमिटेड से हुआ। अपने उपन्यास के निवेदन में लिखने के कारण को बताते हुए वह कहते हैं- “किल्लारी भूकंप की जो दर्द भरी घटना महाराष्ट्र में हुई उसका मैं साक्षी हूँ। भूकंप के दौरान जो घटनाएं हुई, वह हमारी संवेदना को झाकझोर कर देने वाली थी। किसान मजदूरों को मैंने ही नहीं, उनको दफनाने और जलाने तक के सारे काम विमुक्त घुमन्तु संगठन के कार्यकर्ताओं के साथ मैंने वहाँ जाकर किए। वे जो दृश्य मैंने आँखों से देखे पहचानने वाले मृतकों के परिवार का रुदन देखकर मेंरी आँखें भर आयी। मेंरा ससुराल किल्लारी कवठा था, वह पूरा गाँव मिट्टी का ढेर बन गया। जैसे घांस के गट्टर एक के ऊपर एक रखते हैं वैसे ही मैंने और मेंरे कार्यकर्ताओं ने गाड़ियों और ट्रकों में एक के ऊपर एक मुर्दों को रखकर जलाने का काम किया। वह दृश्य मेंरी आँखों के सामने आज भी घूमता है और उसकी याद से मेंरे शरीर से सिंहरन हो जाती है। साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिलने पर पूरे किल्लारी गाँव में मेंरा नागरिक सत्कार किया था। जो लोग भूकंप में मरे थे उनके परिवारों के कितने ही लोगों ने यह कहकर मुझे ढेरों प्यार किया था कि देहात के एक मजदूर का लड़का साहित्यकार होकर अपने विभाग का नाम कर रहे हैं। उस प्यार को मैं जिन्दगी भर नहीं भूल सकता। वही कर्ज उतारने के लिए एक लेखक के रूप में अपना कर्तव्य निभाते हुए उनकी चीख को, उनके दर्द को, मैंने सारे लोगों तक

पहुँचाने का कार्य दुभंग के माध्यम से किया है।"[1] इस उपन्यास की विशेषता यह है कि जाति-धर्म किस तरह प्रकृति के सामने धाराशाही होता है और यहाँ सभी एक सामान हैं; कोई बड़ा न कोई छोटा। इसको विस्तार से इस उपन्यास की कथा में दिखाया गया है। सन् 30 सितंबर 1994 को महाराष्ट्र में लातूर जिल्हे का किल्लारी गाँव भूकंप से पूरी तरह नष्ट हो गया था। आस-पास के अस्सी गाँवों में इस भूकंप ने जबरदस्त तबाही मचाई थी। भूकंप के बाद बचे भूकंप पीड़ितों के जीवन का प्रश्न महत्त्वपूर्ण था। उनकी अवस्था दयनीय और दुखदायी थी। ऐसे में जीवित रहना उनके लिए बहुत त्रासदायक लग रहा था। इन लोगों के जीवन को फिर से खुशहाल बनाने के लिए विभिन्न स्तरों के प्रयास किए जाते हैं। ऐसे ही भूकंप पीड़ितों के दुःख दर्द और उनकी अंतर्वेदना को भली-भाँती उजागर करने का प्रयास संवेदनशील लेखक लक्ष्मण गायकवाड का यह उपन्यास करता है।

वास्तव में लातूर शहर लेखक की जन्मभूमि रही है। व्यक्ति जहाँ जन्म लेता है, जिस मिट्टी में खेल कूद कर बड़ा होता है उस से उसका अमिट नाता होता है। परिणामतः किल्लारी से लेखक का दृढ़ भावनात्म संबंध रहा है। मिट्टी से जुड़े होने के कारण लेखक ने भूकंप के बाद की परिस्थितियों, मानवीय दृष्टिकोण, जाति-धर्म, सामाजिक विचारधाराएँ, राजनीति और उसमें जीनेवाली भूकंप पीड़ित जनता की मानसिकताओं की विविध छटाओं और संबंधों का यथार्थ चित्रण इस उपन्यास में किया है।

तेरणा नदी के किनारे प्राकृतिक गोद में बसा किल्लारी गाँव और आम देहाती गाँवों से थोड़ा बड़ा, पहाड़ी ढलान के ओट में सिमटा हुआ। इसी गाँव में सोपान का जन्म हुआ, गाँव के लोग बड़े उद्यमी और संपन्न हैं। इस गाँव में अधिकतर किसान रहते हैं, फिर भी सप्ताह में एक बड़ा बाज़ार गाँव में लगता है। जिसमें सोपान बागबाडी में बड़े शौक से उगाई सब्जियाँ-तुरई, घिया, कद्दू, लौकी, ककड़ी, टमाटर

[1] दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड - पृ.सं. 5

आदि बैलगाड़ी पर बेचने जाया करता है। यह उसका रोज का कार्य था। हाल ही में सोपान ने कृषि महाविद्यालय से उपाधि प्राप्त की थी इसलिए वह एक शिक्षित किसान था। जब से सोपान लातूर कृषि महाविद्यालय से शिक्षा प्राप्त कर घर लौटा था तभी से पूरी लगन और परिश्रम से अपने खेती में सुधार कर रहा था। परिणाम यह रहा कि खेत खलिहान में फसलें लहलहाने लगी। एक अजीब सी दृष्टि से गाँववाले सोपान की खेती को देखते रह जाते। परम्परा से खेती करनेवाले किसान इस रहस्य को जानने के लिए सोपान के घर पहुँचते। सोपान की निपुणता और होशियारी देखकर उनके पिता तुकाराम बहुत ही खुश हो जाते। वे सोचते की बेटे की पढ़ाई पर जो खर्च किया वह व्यर्थ का नहीं था इस बात की उन्हें खुशी थी। सोपान के यहाँ खेती को संभालने के लिए पहले दो-चार नौकर थे पर अब दस-बारह नौकर होते हुए भी खेती का काम संभाला नहीं जा रहा था। इसलिए सोपान नया ट्रैक्टर खरिदने के लिए अपने पिता के सामने प्रस्ताव रखता है। उसी के शब्दों में- "आबा अपने पास बहुत ही चिकनी उर्वरा जमीन है। इस भूमि के साथ अगर चरहगावाली जमीन जोड़ लेते हैं तो कुल मिलाकर दो-सौ एकड़ जमीन हो जाती है। अब इतनी जमीन हम बैलों के सहायता से नहीं जोत पायेंगे। नौकर भी बढ़ते हुए काम से तंग आ गए है इसलिए क्यों न हम एक ट्रैक्टर खरीद ले? अगर हम ट्रैक्टर खरीद लेते हैं तो सारी खेती का काम आसान हो जाएगा और अनाज की उपज भी बढ़ेगी। अतः बढ़ी हुई उपज से कुछ माल गाँव में लगनेवाली हाट के लिए रखकर बाकी माल ट्रैक्टर से लातूर मार्केट ले जाएंगे। ट्रैक्टर खरीदने से हमें तो लाभ होगा ही साथ में गाँव के किसान भाइयों को भी लाभ होगा और उनका माल भी हम खरीदेंगे। ट्रैक्टर से हम नई पद्धति के अनुसार खेती-बाड़ी का काम भी कर सकेंगे।"[1] इस प्रस्ताव को सुनते ही सोपान के पिताजी ने तुरंत हाँ कह दिया। सोपान की माँ पिता की तरह दरियादिल थी खेती का काम करने वाले मजदूरों की स्थिति और मानसिकता को जानती थी और समय-समय पर उनकी भरपूर सहायता भी करती थी।

---

[1] दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड - पृ.सं. 11

ट्रैक्टर के विचार में खोया सोपान अगले ही दिन बड़ी तत्परता से तहसिल कार्यालय पहुँचा। खेती के सारे आवश्यक कागजाद तैयार करवाएँ और नियमानुसार आवश्यक सामग्री जुटाते हुए बैंक के लिए फ़ाइल तैयार की। फ़ाइल तैयार करने के लिए उसे दो माह तक किल्लारी-लातूर और लातूर-किल्लारी के चक्कर काटने पड़े तब जाकर बैंक ने फ़ाइल मंजूर की। उसके बाद ड्रायवर हुसैन शेख के साथ लातूर के शो रूम जाकर सोपान ने ट्रैक्टर खरीद लिया। अतः ट्रैक्टर की सहायता से सोपान को बहुत सारी आमदनी हो रही थी। सोपान की सुधारवादी दृष्टि प्रगति और विकास के बढ़ते क़दमों को देखकर गाँव के एक जमींदार किसान बिराजदार ने भी ट्रैक्टर खरीद लिया था। बिराजदार के सगे-संबंधी राजनीति में विधायक, सांसद थे इसलिए ट्रैक्टर तुरंत उनके घर पहुँच गया। ट्रैक्टर को खरीदने के लिए जो कष्ट सोपान को उठाने पड़े वह कष्ट बिराजदार को झेलने नहीं पड़े। केवल शिफारिशों के ही बल पर आठ-दस दिनों में उसके दरवाजे के सामने ट्रैक्टर आ खड़ा हुआ। परिणामतः गाँव के खेती के कामों में एक होड़ सी लग गई।

अब गाँव में सभी किसान खुश थे इसी खुशी के मौके पर उन्होंने ग्रामदेवता नीलकंठेश्वर की यात्रा का आयोजन करने का निर्णय लिया। ग्राम देवता नीलकंठेश्वर का यह मंदिर गाँव के मध्य में स्थित था, मानों सारे गाँव की रक्षा हेतु बनाया गया हो। गाँव के लोगों की भी यही धारणा थी। मंदिर के आस-पास आनेक जाति धर्मों के लोग बसे हुए थे, जिसमें लिंगायत, ब्राह्मण और मराठों की आलीशान बस्तियाँ थी। सैकड़ों साल पहले पुर्खों द्वारा बनाए गए आलीशान बड़े-बड़े महल मंदिर के आस-पास बड़े शान से थे। इनके आस-पास और अगल-बगल अनेक जातियों के लोग रहते थे जिनमें तेली, माली, सुनार और गडरियों की बहूताय थी और इन सब के पीछे नाई, चमार, घिसाड़ी, लुहार, बड़ई, बेरड, कैकाडी आदि की बस्तियाँ थी। अतः अठारह जातियों के भरे पूरे किल्लारी गाँव के सभी का श्रद्धा स्थान नीलकंठेश्वर महादेव था। इस मेंले के दिनों में गाँव के प्रत्येक घरों में खाने के लिए मीठे पकवान

बनाए जाते थे। मुसलमान भी इन दिनों पीछे नहीं रहते थे। गाँव के सभी लोग सदभावना और अस्मिता से मिल-जुलकर रहते थे।

इसी समय किलारी में ग्राम पंचायत के चुनाव की तैयारियाँ हो रही थी। इस चुनाव में सरपंच के रूप में सोपान पर गाँव वालों ने भरोसा जताया था। सरपंच होते ही सोपान ने अपने गाँव की दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक्की की। इस से पहले जो माल गाँव से बैलगाड़ी पर जाता था अब वह ट्रैक्टर पर जा रहा है। नयी-नयी सोसायटियाँ बनाई गई। जनता की सुविधा के लिए गाँव में एक शानदार नया मार्केट बनाया गया। सोपान के अथक परिश्रम से गाँव वालों को अनेक सुविधाएँ मिली। जैसे- पशू चिकित्सालय, सरकारी अस्पताल, बैंक, पोस्ट ऑफिस आदि। सोपान के अब राजनीति में पाँव जम चूके थे एक कारण सोपान अपने किसान भाइयों को खेती की फसल का ज्यादा से ज्यादा फायदा हो इसलिए उसने बड़े बप्पा की मदत से चीनी मिल बनवाने का निर्णय लिया। और इस मिल का सेक्रेटरी भी उसी को बनाया गया। बड़े बप्पा ने इस मिल के बनने से किल्लारी वासियों को कितना फायदा है यह समझाते हुए कहने लगे- “किल्लारी में यदि चीनी मिल बन गई तो आस-पास के पचास गाँवों के विकास के साथ किसानों का राज स्थापित होगा।”[1] पर इसके पीछे उनकी मंशा अलग थी यह सोपान पहचान नहीं पाया। वास्तव में दांव-पेंच खेलनेवाले नेता अपनी जेबों को हानी न पहुँचाते हुए किसी भी काम को निपटाने में माहिर होते हैं। इसी नीति को अपनाकर वह चीनी मिल बनवाने की दिशा में कार्य कर रहे थे। अंततः चीनी मिल पूर्ण हो गई। इस मिल की जिम्मेदारियाँ बड़ी होशियारी के साथ बड़े बप्पा ने सोपान को न देते हुए अपने भाई को दे दी। फिर भी सोपान गाँव की भलाई के लिए यह भी कुर्बानी देता है। अब चीनी मिल का सारा कारोबार बड़े बप्पा के भाई साहब श्रीपतराव संभाल रहे थे, कारखाने में होनेवाले किसी भी व्यवहार का पता सोपान को लगने नहीं देते थे। इस तरह कारखाने की

---

[1] दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड - पृ.सं. 21

बेहिसाब धनराशी श्रीपतराव हड़प रहे थे। यह बात सही है कि चीनी मिल किसानों की भलाई के लिए बनाई गई थी और सारे किसानों को समान रूप से न्याय मिलना चाहिए था पर यहाँ तो कुटील राजनीति की शुरुआत हो गई थी जिसके कारण सोपान व्यथित हो चुका था। इस सारे व्यवहार में सोपान की दौड़ कारखाने के गेट तक सीमित थी। एक विशिष्ट सीमा रेखा सोपान के लिए खिंच दी गई थी। उसे पार कर कुछ कर पाना सोपान के लिए संभव नहीं था। परन्तु अपनी प्रतिष्ठा के खातिर वह किसानों को काम करने का विश्वास दिलाते हुए उनके मन को भरोसा देना चाहता था। पर इस तरह रोज के इन झंझटों के कारण वह तंग आ चुका था इसलिए अंततः सोपान ने अपने आप को कारखाने से अलग कर दिया।

जब से सोपान ने कारखाने का कार्य छोड़ा, तब से सिर्फ अपनी खेती पर ध्यान लगाया था। अब वह गन्ने की खेती छोड़कर अंगूर की खेती कर रह था। वह जहाँ कही भी हात लगाता था वह सोना हो जाता था। इसी कारण अंगूर की खेती से वह सबसे ज्यादा उत्पादन निकालने का प्रयास कर रहा था और उसमें वह सफल भी हुआ। उसकी फसल देखकर दूसरे किसान भी गन्ने की खेती छोड़कर वह भी अंगूर की खेती कर रहे थे। इधर सोपान के प्रति श्रीपतराव को जलन हो रही थी। एक दिन सोपान को श्रीपतराव ने बुलाया और कहाँ कि- “देखों सोपान तुम्हारा ध्यान केवल अपनी ही खेती बाड़ी में रहे तो अच्छा होगा। दूसरों की खेती बाड़ी में अंगूर के पौधे लगवाकर उन्हें जानकारी देते हुए प्रोत्साहित करने की क्या आवश्यकता है? यहाँ करोड़ों की लागत से बनाई गई चीनी मिल बंद करवाना चाहते हो क्या?”[1] बप्पाजी की इन बातों को सुनते हुए सोपान ने बड़ी शांति से कहाँ- “चीनी मिल से किसानों का भला हो रहा होता तो बात बहुत अच्छी थी। परन्तु यहाँ किसानों को छोड़कर केवल कारखाने और चैरमैन मैनेजर और दलालों को ही लाभ हो रहा है तो कारखाने के बंद होने से हमें कोई मतलब नहीं।”[2] इस तरह चीनी मिल बंद हो गई और आस-पास के

---

[1] दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड - पृ.सं. 32
[2] दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड - पृ.सं. 32

देहातों में अंगूर के बगीचे फलने-फूलने लगे। सोपान के मार्गदर्शन में किसान अंगूर के उत्पादन में खूब धन कमा रहे थे। अब सोपान प्रगतिशील किसान बन गया था, उसके पास धन की कोई कमी नहीं थी। एक दिन मौका देखकर उसकी माँ (सुंदराबाई) ने सोपान को शादी के संदर्भ में कहां- "सोपान बेटा अब कमाई बहुत हो चूकी आनेवाली अनेक पीढ़ियों तक यह धन समाप्त नहीं होगा, इतने रुपए अब हमारे पास है। अब तुम्हारे माता-पिता वृधावस्था की ओर जा रहे है अतः हमारी आँखों के सामने तुम्हारा ब्याह हो जाए तो हमारी चिंता मिटेगी और देर होगी तो हमारा प्राण पखेरू उड़ जाएंगें।"[1] माँ की यह बाते सुनकर सोपान का मन राजी हो गया और शादी को मंजूरी दे दी। इस तरह सोपान की शादी उनके नजदीकी रिश्तेदारों में बिना दहेज लिए बड़े धूम-धाम से संपन्न हुई और किल्लारी के नवयुवकों के सामने एक आदर्श रखा।

अब तक यह उपन्यास बड़ा ही साधारण सा प्रतीत होता है पर सही मायने में इस उपन्यास की शुरुआत अब होती है। गाँव में पोला (महाराष्ट्र में प्रसिद्ध बैलों का त्यौहार) होने के पश्चात गणपति विसर्जन का कार्यक्रम होता है। इस कार्यक्रम को गाँव के सभी लोग बड़े ही धूम-धाम से मनाते हैं। पर जैसे ही गणपति विसर्जन करके सारे लोग रात का भोजन कर थके-सहमें जब अपने-अपने घरों में सो जाते हैं, उसी रात प्रकृति किल्लारी वासियों पर बड़ा प्रहार करती है और यह प्रहार भूकंप के रूप में सब को मौत की नींद सुलाता है। इस भूकंप के कारण सारे गाँव की तबाही हो जाती है। जिसमें बड़े-बड़े महल धाराशाही हो जाते हैं। इस भूकंप में इतनी जीवित हानी होती है कि गाँव के अस्सी प्रतिशत लोग अपने प्राण गवां देते हैं। मनुष्य के साथ साथ जानवर भी मर जाते है। ऐसी बात नहीं थी कि इससे पहले इस गाँव में भूकंप नहीं आया था। इस गाँव को भूकंप के पहले भी झटके लगते रहे। इस परिस्थिति का उत्तरदायी प्रशासन व्यवस्था थी उन्हीं की लापरवाही की वजह से इन लोगों को

[1] दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड - पृ.सं. 34

अपनी जान गवानी पड़ी। भूकंप की इस गहरे सदमें से राधाबाई पागलों की तरह चिल्लाती है- “मेंरा सारा गाँव देखते-ही-देखते भूकंप के इस झटके से धरती में समां गया रे! सोपान अब सरपंच बनकर गाँव का कारोभार कैसे संभालेगा? सारे गाँव से देवी देवताओं की भक्ति भाव से पूजा की थी, परन्तु इन दुश्मनों ने भी हमें सूचना नहीं दी हमारे गाँव से यह काल रात्री गुजरने वाली है। ग्रामदेवता नीलकंठेश्वर भगवान तो पत्थर बने बैठे हैं। गाँव का एक भी देवता हमसे प्रसन्न नहीं हुआ रे सोपान।”[1] सोपान इन सब बातों पर गहरी संवेदना और और निर्भिड होकर कहता है- “चूप बैठो राधाबाई; कितना रोओगी देवी देवता कही नहीं है। यह सारी बातें हमारे लिए झूठी साबित हुई है। अब मुझे यह बात समज में आयी है कि इस भूकंप में स्वयं भगवान अपनी रक्षा न कर पाए तो दूसरों की रक्षा क्या करगें? धर्म इश्वर मेंरे लिए सब बेकार की बातें हैं। सत्य केवल एक और वह है मनुष्य, यही एक दूसरे के काम आते हैं”। आगे कहता है- “मैं अब किसी के घर जाऊ कौन-सी गलियों से गुजरते हुए किसे पुकारू, हमारा गाँव इस भूकंप के झटके से सदा के लिए इस धरती में समा गया है।”[2] सारा गाँव श्मशान बन गया था। सोपान भी मर जाता पर गणपति विसर्जन के बाद वह अपने खेत में सोने गया था इसी कारण जीवित रहा। अब गाँव की स्थिति बहुत ही दयनीय बन गई थी। लाशों के ढ़ेर दिखाई दे रहे थे, अपने ही परिवार के लाशों को निकालने के लिए कोई जीवित नहीं था। किसी तरह सोपान ने अपने माता पिता की लाश को निकाला और अपने मित्र शेख की सहायता से ट्रैक्टर की ट्राली में डालकर श्मशान ले जाकर जलाया। इस तबाही की वजह से अब वह तहस-नहस हो गया था। अपने माता-पिता के दाह संस्कार के बाद गाँव के चौराहे पर आ बैठा। स्थिति यह थी कि गाँव में कुल्ला करने को भी पानी नहीं था। अब तक गाँव में कालेज के छात्र तथा पुलिस कर्मी सहायता के लिए आ गए थे लेकिन सरकार से कोई मदत पहुँची नहीं थी। सरकार की कोई भी मदत पहुँच भी जाती तो भी क्या फायदा, क्या

[1] दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड - पृ.सं. 116
[2] दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड - पृ.सं. 117

इन मरे हुए इंसानों को जिन्दा किया जा सकता था? ऐसे अनेक सवाल सोपान के मन में हलचल मचा रहे थे।

भाग्यवश कुछ जीवित घायल लोग सड़क के किनारे कतार में खड़े थे। इसका कारण यह था कि वह दलित होने के कारण उनके घर पक्के नहीं थे। गाँव के बचे कुचे नौजवान एक दूसरे की मदत कर रहे थे। न इसमें कोई नीच था न कोई बड़ा, न धर्म था न जाति थी सब बराबर के बन चुके थे। लेखक यह बताना चाहते हैं कि समाज की संरचना हमने बनाई है पर प्रकृति के सामने हम बराबर है। इस कारण लोग एक दूसरे की मदत कर रहे थे। अब किल्लारी में बड़े महलों के साथ-साथ, जाति-धर्म, उंच-नीचता, बड़ा-छोटा, मंदिर-मस्जित सबको तहस नहस कर दिया था।

ऐसी बात नहीं थी कि किल्लारी वासियों ने इस भूकंप से पहले सरकार से मदत नहीं माँगी, हर समय इन सभी बातों की जानकारी सोपान देता रहा पर कोई मदत नहीं मिली। कुछ भूवैज्ञानिक गाँव आकर जमीन का मुआयना करते थे तथा गाँव की मिट्टी अपने साथ ले जाते थे और कहते थे कि जल्दी ही हम इनके कारणों का पता लगवाएंगे। इस तरह सरकारी अफसरों से हवाबाजी की बातें होती थी। लेकिन भूकंप के पश्चात् कुछ सरकारी मदत पहुँच रही थी तब सोपान क्रोध में आकर कहने लगा- “हमें सरकार से कुछ नहीं चाहिए। अब हम लोग सरकार से किसके लिए सहायता ले? जिस समय हमें सहायता की आवश्यकता थी उस समय सरकार ने हमारी एक न सुनी। लोगों के मरने के बाद आपकी सरकार मदत देने पहुँची हैं।”[1] भूकंप हो कर दो दिन बित चुके थे सरकारी कर्मचारी मदत का हात दे रहे थे कुछ पुलिसवाले मदत के साथ-साथ शव से सोने के गहने निकालकर अपनी जेबों में डाल रहे थे। ऐसी बात नहीं थी कि पुलिस ही ऐसा कर रही थी बल्कि आस पड़ोस के लोग जो मदत के लिए आए थे वह भी वही कर रहे थे। तीसरे दिन जब मिलेट्री आयी तो उन्होंने किसी को भी किसी शव के पास जाने की अनुमति नहीं दी। गाँव में अब

[1] दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड - पृ.सं. 119

मीडिया पहुँच गयी थी इन सभी समस्याओं की जानकारी अपने चैनल के माध्यम से दे रहे थे। एक पत्रकार के सामने उसी समय सोपान आता है। पत्रकार ने सोपान को इस भूकंप के संबंध में बताने को कहा। सोपान बड़ी भावावेश में अपनी बात पत्रकार के सामने रखता है- "सरकार ने यदि हमारी बातों, हमारी समस्याओं की ओर पहले ध्यान दिया होता तो हमारा गाँव इस दुर्दशा से बच जाता। गाँव के पुनर्वास के लिए कही बार हमने सरकार से याचना की परन्तु हमारी बातों की ओर सरकार ने गंभीरता से ध्यान नहीं दिया। परिणाम आपकी आँखों के सामने है।"[1]

इस तरह के गंभीर आरोप सरकार पर सोपान लगा रहा था। सोपान के इन आरोपों से मुख्यमंत्री को बहुत ही बड़ा झटका लगा, सरकारी कर्मचारी तथा अधिकारियों से वह नाराज हो गए और तुरंत निर्णय लेते हुए कहां- "कौन है यहाँ के अधिकारी" सबको बुलाकर "आप लोगों के पास लाज-शर्म नाम की कोई चीज बची है या नहीं? अरे यदि आपके घर परिवार के लोग मर गए होते तो आप इस प्रकार केवल तमाशा देखते हुए घूमते? आप लोगों को शर्म आनी चाहिए। सच बात तो यह है कि भूकंप की घटना से पूर्व किल्लारी के वास्तविक बातों की जानकारी ठीक से मुझे नहीं दी गई। आएँ-बाएँ ही मुझे बताते रहे। अब तो सारा गाँव ही श्मशान बन गया है जो लोग जीवित बचे है, उन्हें भी अभी तक भोजन-पानी तक नहीं दिया गया। इस प्रकार आप अपने कार्य को निभा रहे है? अब मेंरे आगे पीछे न घूमते हुए तुरंत भूकंप ग्रस्त लोगों के लिए खाने-पीने की व्यवस्था न की तो आपको काम से हटा दिया जाएगा।"[2] मुख्यमंत्री के एस सुझाव से सरकारी कर्मचारी थोड़ा तेजी से कार्य करने लगे।

सरकार से अब मदत मिलनी शुरू हो गई थी लेकिन ऐसी गंभीर अवस्था में भी लोग भ्रष्टाचार कर रहे थे। सरकार की ओर से जो दवा-दारू इलाज के लिए आ

---

[1] दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड - पृ.सं. 124

[2] दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड - पृ.सं.128

रही थी उसका ज्यादातर हिस्सा डॉक्टर लोग हड़प रहे थे फिर भी कुछ अच्छे लोग थे जो देश-विदेश से सहायता कर रहे थे। तीसरे-चौथे दिन वातावरण में कुछ शांति आयी। इस तरह भूकंप पीड़ित जनता इन सभी समस्याओं का सामना कर रही थी। इस भूकंप के बहाने किल्लारी में आज संसार की मानवीयता के भी दर्शन हो रहे थे। भूकंप पीड़ितों का यह दुःख व्यक्तिगत न होते हुए पूरे समष्टि का हो गया था। सारे देश की जनता तथा दुनियाभर के लोग अपनी जाति, धर्म, प्रांत, राष्ट्र आदि को भूलकर इंसानियत के नाते सहायता के लिए आ पहुँचे थे। भूकंप की इस गंभीर स्थिति में मनुष्य एक दूसरे की सहायता के लिए किस प्रकार दौड़े चले आते हैं इसका भी दर्शन हो गया।

जाति, धर्म, सीमा आदि सारी बातें क्षणिक आनंद प्राप्त करा देती है। सारी मानव जाति का धर्म एक है, मिल-जुलकर साथ रहते हुए सुख-दुःख में एक दूसरे का साथ देना ही सच्चा मानव धर्म है। भूकंप होकर अब बहुत दिन बीत चुके थे। अब सरकार की ओर से भूकंप पीड़ितों के लिए नए घर बनवाकर दिए थे। जिसमें कोई जाति-धर्म नहीं था, सबके घर समान थे। घर मिलते ही सोपान को अपने घर परिवार की याद आयी। उस समय एक ऐसी लड़की (सुमन) से विवाह कर अपना घर बसाता है जो जाति से बंजारा थी और वह एक मराठा। ऐसे में सोपान अंतरजातीय विवाह करके सबके सामने एक नया आदर्श खड़ा करता है।

भूकंप के बाद जीवित बचे सारे लोग मिल जुलकर जी रहे थे। अतः सरकार की ओर से भी यही प्रयास हो रहा था। आदर्श गाँव के निर्माण में मनुष्य-मनुष्य में अंतर तथा भेदभाव करनेवाली बातों की और ध्यान न देते हुए सबके लिए एक जैसी सुविधाएं दे रहे थे चाहे किसी भी जाति-धर्म का हो, अमीर हो चाहे गरीब। इस गाँव में छुआछूत को प्रधानता न देते हुए संपूर्ण गाँव के लिए एक जैसा अधिकार हो। सभी गाँव के लिए एक श्मशान भूमि, एक पनघट और एक पाठशाला हो किल्लारी भूकंप के बाद एक नया आदर्श गाँव निर्माण हुआ। जिसमें मानव समाज रहता था।

1.2.7 हिन्दू

दलित साहित्य के चिंतक तथा आलोचक शरणकुमार लिम्बाले का यह उपन्यास मूलतः मराठी भाषा का है। इसका हिंदी आनुवाद सूर्यनारायण रणसुभेजी ने किया है। अतः वह 2005 में वाणी प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित है। इस का मूल कथ्य तथा लेखक की चिंता यह है कि दलित आन्दोलन तथा संगठन अनेक दिशाओं में विस्तृत होने के कारण इसका परिणाम दलित समाज को भूगतना पड़ रहा है, जैसी गंभीर समस्याओं का प्रतिफलन यह उपन्यास है। इस उपन्यास को लिखने का कारण बाताते हुए अपने मनोगत में शरणकुमार लिम्बाले कहते हैं- "देश में होनेवाली उग्रवादी कार्यवाहियाँ, हिंसा, भ्रष्टाचार, बेकारी, बढती जनसंख्या, जातीय दंगे, मौज मजे की वृति और अपराधीकरण के कारण संवेदना भोतरी होते जा रही थी इस जान लेवा कोलाहल में अपनी आवाज को सुरक्षित रखना, भरी सड़क पर भारी नीलामी में अपनी नजर झुकाए रखना, बेकाबू गुंडों के सामने अपने होटों को अनिवार्य रूप से बंद रखना, मन के भीतर चलनेवाली यह छटपटाहट मुझे लिखने के लिए मजबूर कर रही थी।"[1] यही चिंता है जो लेखक को मजबूर कर रही थी।

एक बुद्धिजीवी प्रगतिशील लेखक अपने समाज के प्रति, अपने आन्दोलन के प्रति कितना सजग है उनके ही शब्दों में- "आन्दोलन को पूंजी बनाकर जीनेवाली कुछ प्रवृत्तियाँ प्रत्येक आन्दोलन तथा प्रत्येक काल में होती हैं। लोगों की समस्याओं को यह प्रवृत्तियाँ अपनी जेबे भर लेने के एक साधन के रूप में देखती है। और यह संख्या में कम होती है। बिकनेवाले प्रत्येक क्षण समझौते के लिए तैयार, स्वार्थ में लिप्त प्रवृत्तियाँ जिस प्रकार समाज में हैं, ठीक उसी प्रकार आँखों में तेल डाले पूरी जागरूकता से समाज के प्रति अत्याधिक चिंतित तथा उसके स्वास्थ हेतु सक्रीय प्रवृत्तियाँ भी हैं।"[2]

---

[1] हिन्दू - शरणकुमार लिम्बाले - निवेदन

[2] हिन्दू - शरणकुमार लिम्बाले - निवेदन

इस उपन्यास में आन्दोलन को निष्क्रिय बनानेवाले चरित्रों में गोपीचंद और मानिकचंद जैसे शिकारी भी देखने को मिलते हैं। दलितों पर होने वाले अत्याचार अनेक आयामी है, उनके मूल में अनेक शक्तियाँ कार्यरत हैं। उनमें से कुछ बाजारू वृत्तियों का पर्दाफाश करने की जरूरत लेखक को दिखाई देती है। न्याय के लिए, समता बंधुत्व के लिए, सतत दौड़ धूप अथवा गतिशील व्यक्ति का संघर्ष लेखक को अधिक भाता है। प्रत्येक मनुष्य सत्याग्रही की तरह होता है। यह लेखक को आम मनुष्य का जीना सतत ऊर्जा देनेवाला लगा है। आम मनुष्य का शोषण करनेवाली प्रवृत्तियाँ कदम-कदम पर दिखाई देती हैं उन्हें खोजकर उसका पर्दाफाश करना ही आम आदमी का सत्कार करने जैसा है इसलिए इस पाखंड को उखाड़ फेकना बहुत जरूरी है। अयोध्या में राम मंदिर बनाने के प्रश्न पर हिन्दू संगठनों ने जमीन आसमान एक कर दिया था। ऐसी घटना के बाद देश का सामाजिक वातावरण बदलने लगा। मुंबई में हुए दंगे, बम-विस्फोट, कश्मीर में चल रही आतंकी कार्यवाहियां, सदन पर हुआ आक्रमण आदि से देश की शांति खतरे में पड़ गई। राजनीतिक दहशतगर्दों ने इस देश के सौहार्द को खून में डुबों दिया। इन दहशतगर्दों के विरोध में चर्चाएँ शुरू हुई। राजनीतिक दहशतगर्दी ने पूरे विश्व को ही अपने घेरे में ले लिया। परतु पिछले हजारों वर्षों से सामाजिक दहशतगर्दी दिन दहाड़े हो रही है उस पर अलबत्ता चर्चाएँ नहीं होती। दलितों पर हजारों वर्षों से अत्याचार हो रहे हैं उसकी ओर गंभीरता से देखा नहीं जाता। पर इस देश का हिन्दू अब उग्र रूप धारण कर रहा है। जातीय दंगे सामाजिक तनाव और असुरक्षा के कारण बेचैनी पैदा कर देता है। बढ़ती अपराधी वृत्ति, बेरोजगारी और भ्रष्टाचार के कारण आज हमारे सामने अनेक समस्याएँ हैं। ऐसे विषयों को लेकर हिन्दू उपन्यास लिखना लेखक की सजगता का ही परिचय है।

उपन्यास का नायक मिलिंद काम्बले इस बात से चिंतित है कि मेंरे सामने तात्या कांबले का खून हुआ, एक दलित लड़की का बलात्कार हुआ मैं इतना चुप क्यों हूँ- “मुझे गवाह हो जाना चाहिए तात्या काम्बले के खूनी को बेड़ियाँ पहनानी

चाहिए। परन्तु मैं डरता क्यों हूँ? निर्णायक क्षण पर मैं पीछे क्यों हट जाता हूँ। किसी भी प्रकार की क़ीमत मैं देना नहीं चाहता था। मैं परिणाम से इतना डरता था। मैं आन्दोलन का परछागा था।"[1] प्रभाकर कावले जैसे लोग समाज की जातिव्यवस्था का समर्थन कर उसे मजबूती प्रदान करते हैं। इसलिए आचलपुर गाँव में तात्या कांबले जैसे सामाजिक कार्यकर्ता का खून होता है। इसका विरोध कोई नहीं करता। मिलिंद कांबले सोचने लगता है कि मैं एक आन्दोलन का कार्यकर्ता होने के बावजूत भी विरोध क्यों नहीं करता। आदमी हमेंशा अन्याय के विरोध में लड़ता है। वह कहता है- "प्रत्येक मनुष्य अपने पर हुए अन्याय के विरुद्ध अंतिम समय तक जूझते रहता है, प्रतिकार करता है। अंततः वह थक जाता है। असहाय हो जाता है। पराजित हो जाता है। वह मौन होकर जीने लगता है। आँखों पर चमड़ी खींचकर। उसकी आँखों में चिंगारियां बुझती दिखाई देने लगती है मैं राख हूँ अपने ही प्रेत की।"[2] यहाँ दलित समाज के नायक की सोच में पराजीत भाव पैदा होता है वह बुरी व्यवस्था का विरोध करने में असमर्थ दिखाई देता है। उसका मन बुरी व्यवस्था के खिलाफ कोई कदम नहीं उठाता है। यही असहाय प्रवृत्ति आज के नायक की हो गई है। आखिर तात्या काम्बले का खुनी प्रभाकर कावले को कबीर काम्बले ने मार दिया। कबीर काम्बले पुलिस की गिरफ्त में चला गया। इससे गाँव की स्थिति पूर्णतः नियंत्रण में आ गई थी। दलित कार्यकर्ता इतना सब हो जाने के बावजूद गुटबाजी भूलकर इकट्टे कार्य कर रहे थे पर प्रतिक्रियावादी ताकतें और भी बढ़ रही थी। यहाँ लेखक यह बताना चाहते है कि आज का दलित समाज दुश्मनी से नहीं दोस्ती से मन को जितना चाहता है। इन सब से अलग मिलिंद काम्बले अपनी जगह तटस्थ था। लेखक ऐसे कार्यकर्ताओं पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं दलित कार्यकर्ता मानिकचंद और गोपीचंद जैसे लोगों के साथ रहकर उनका पुरुषत्व नष्ट हो गया था। वह विरोध करने में असमर्थ हो रहे थे। आज के कार्यकर्ता घर की चार दीवारों में ही कुछ हिंदूवादी मित्रों के साथ बैठकर

---

[1] हिन्दू - शरणकुमार लिम्बाले - पृ.सं. 30

[2] हिन्दू - शरणकुमार लिम्बाले - पृ.सं. 32

बाबासाहब की आलोचना करते रहते हैं और अपने आप को एक समाज का कार्यकर्ता समजने लगते हैं। यहाँ पर मिलिंद काम्बले की पत्नी लक्ष्मी के शब्द बहुत ही सटीक लगते हैं- "दारू पीकर बाबासाहब की टीका करते हो। लोगों में जाकर बोलो तब समझ में आएगा। बाबासाहब की टीका कोई सहन नहीं करेगा। तुमने खुद को बेचा है और बाबासाहब को भी बेचने निकले हो।"[1] अंततः उपन्यासकार की राय एक दलित कार्यकर्ता के प्रति यह बनती है कि अब वह नपुंसक हो गया है, समाज को नई दिशा देने में अब असमर्थ सा लग रहा है। उपन्यासकार कहता है- "गाडी शहर से बाहर निकलने लगी। अंतिम सिग्नल लग गया। गाडी रुकी। पांच छः हिजड़े (किन्नर) आए। मानिकचंद ने कांच उतारा। एक हिजड़े ने मानिकचंद के हात की किस ली। मानिकचंद ने उसे पांच रुपए दिए। हिजड़ों ने तालियाँ बजाकर आनंद व्यक्त किया। सिग्नल उठा। गोपीचंद ने गाडी आगे निकाली। मानिकचंद के हात का किस लेनेवाल हिजड़ा मुझे याद आया। तालियाँ बजानेवाले हिजड़े मुझे याद आए। मुझे तालियों की आवाज सुनाई देने लगी। मेंरी पैंट में गिरगिट घुस गया ऐसा मुझे लगा। मैंने पैंट झटका दी। शैला सातपुते दूर सरक गई। मुझे जाघों में चिपचिपाहट का अहसास हुआ। मैं परेशान हो गया। मेंरा पुरुषत्व नष्ट हो रहा था। मेंरा कायाकल्प हो रहा था। छाती उभर रही थी। मैंने शैला सातपुते की ओर देखा उसकी साडी मुझे पसंद आयी। साडी पहनने की इच्छा होने लगी। मन होने लगा कि गजरा भी बांधू। मैंने शैला सातपुते को उसका पर्स मांग लिया। पर्स में से बिंदी निकाली, बिंदी लगाईं। काजल लगाया। लिपस्टिक लगाईं। कंघा किया और शैला सातपुते की तरह ही मैंने सीधे मांग निकाली। वह हँसने लगी। 'मानिकचंद अपना हात दो'। मेंरी आवाज बदल गई थी। मैंने मानिकचंद के हात का किस लिया। मानिकचंद हंसने लगा। पर मैं उदास था। मेंरा कायाकल्प कैसे हुआ? यह कैसा चमत्कार एक ही क्षण में इतनी तेजी से मैं विचार करने लगा मेंरी स्मृति कमजोर हो चुकी थी। विचारों को लकवा मार गया था। बावजूद इसके मैं खुद को खोज रहा था। नपुंसक होने की प्रक्रिया आज की नहीं

[1] हिन्दू - शरणकुमार लिम्बाले - पृ.सं. 150

है। वह एक लंबी प्रक्रिया है। जिस दिन मैं आन्दोलन से अलग हो गया उसी दिन से मुझ में इस नामर्दपन की शुरुआत हुई।"[1] इस तरह लेखक आज के दलित कार्यकर्ता पर करारा प्रहार और व्यंग करता है।

[1] हिन्दू - शरणकुमार लिम्बाले - पृ.सं. 149,150

1.3 हिंदी और मराठी दलित उपन्यासों के कथ्य की तुलना

हिंदी और मराठी दलित उपन्यासों में जो कथ्य उभरकर सामने आए हैं उनकी विषय वस्तु एक होते हुए भी अनेक बिन्दुओं पर अलग लगने लगती है। जैसे जय प्रकाश कर्दम का करुणा उपन्यास बौद्ध धर्म की शिक्षा के महत्त्व को बताता है तो उनका दूसरा उपन्यास छप्पर शिक्षा के महत्त्व को समझाता है। इसी तरह हिंदी के अन्य उपन्यास 'मिट्ठी की सौगंध', 'जस तस भय सवेर', 'मुक्ति पर्व' इन उपन्यासों की विषय वस्तु एक जैसी लगती है। जिसमें दलित समुदाय की पीड़ा सवर्ण समुदाय का अन्याय, अत्याचार आदि दिखाई देता है। इसके अलावा 'आज बाजार बंद है' तथा 'उधर के लोग' की कथा में आतंरिक भिन्नता है। पहला वेश्यावृत्ति को समझने तथा उसको उखाड़ फेखने में मदद करता है तो दूसरा पढ़े लिखे नौकरी पेशा दलित वर्ग से संबंधित है जो आरक्षण का लाभ उठाकर बड़े अफसर तो बन गए पर समाज की ओर उनका ध्यान तक नहीं है। एक ऐसा भी उपन्यास दलित साहित्य में आया जो आज तक के इतिहास में नहीं था, 'मिस रमिया' कावेरी का यह उपन्यास एक पढ़ी-लिखी दलित महिला की कहानी को उजागर करता है तथा उसके जातीय संघर्ष को बताता है। इसके अलावा 'थमेंगा नहीं विद्रोह' जाटव समाज पर होने वाले अत्याचारों का प्रतिरोध करता है। 'सुबह के लिए' उपन्यास का कथ्य आज के लोकतंत्र में जाति को आधार बना कर किस तरह से राजनीतिक लोग उसका फायदा उठाते हैं इसको उजागर करता है।

उसी तरह मराठी दलित उपन्यासों का कथ्य भी अनेक बिन्दुओं पर अलग है। लिहाजा ज्यादा तर दलित उपन्यासों पर यह आरोप लगाया जाता है कि इन उपन्यासों का कथ्य एक जैसा होता है। पर दलित उपन्यासकारों ने यह साबित कर दिखाया है कि उनके उपन्यासों का कथ्य दलित समुदाय का होता है पर एक जैसा नहीं। 'फकीरा' में आन्ना भाऊ साठे ने यह बताया है कि दलित समाज अपने शौर्य से पूरे गाँव की रक्षा करता है और सबको साथ लेकर चलना चाहिए यह सिखाता है।

लिहाजा इस उपन्यास की कथा वस्तु ऐतिहासिक लगने लगती है पर आज भी प्रासंगिक है। इसके अलावा अगला उपन्यास ‘हकीकत और जटायु’ में केशव मेंश्राम भारतीय समाज की नीचे से नीची जाति के अन्दर की जाति को उजागर करते हैं। यह जाति व्यवस्था मनुष्य के लिए कितनी घातक है इसको दर्शाते हैं। ‘हाडकी हाडवला’ में ठाकुर महंत दलितों की जमीनों को हडप लेने की प्रक्रिया तथा उसके अत्याचारों को उजागर करता है। ‘झिपय्या’ उपन्यास की कथा वस्तु इन सभी उपन्यासों से अलग है। मुंबई जैसे महानगर में 12-15 साल के बच्चें जिनकी आयु स्कूल जाने की है। वह स्कूल नहीं जाते बल्कि वह मुंबई के लोकल ट्रैन में बूट पॉलिश का काम करते हैं। इसके अलावा ‘नरवानर’ की कथा वस्तु दलित आन्दोलन से जुड़ी हुई है जो 1956 के बाद के दलित आन्दोलन का बिखराव, अपनी दिशा से भटकाव, आपसी मतभेद आदि को दर्शाता है। ‘दुभंग’ उपन्यास की कथा वस्तु भूकंप पर आधारित है जो गाँव के निर्धन समुदाय, घुम्मकड़ जन-जाति को सरकारी योजना से किस तरह वंचित रखा जाता हैं यह दिखाया गया है। ‘हिंदू’ भी नरवानर की तरह दलित आन्दोलन पर आधारित है पर इस उपन्यास में दलित आन्दोलन को दलित समुदाय के लोग ही निष्क्रिय बनाते हैं और सवर्ण समुदाय के साथ मिलकर दलित समुदाय को कैसे धोखा देते हैं यह दर्शाया गया है।

अंततः दोनों भाषाओं के उपन्यासों पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य सामने आए हैं कि दोनों ही भाषाओं के उपन्यास दलित समुदाय की पीड़ा को उजागर करते हैं। इन उपन्यासों में विषय की अंतरिक बुनावट एक होते हुए भी अनेक दलित समुदाय के विषयों को छू लेते हैं। लिहाजा आज दलित साहित्य का विस्तार हम देखा सकते हैं। दोनों भाषाओं के उपन्यासों में अम्बेडकरी विचारधारा प्रखर रूप से सामने आई है। इस तरह दोनों भाषाओं के दलित उपन्यासों के कथ्य की तुलना को देखा जा सकता है।

द्वितीय अध्याय

2. हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में प्रतिरोध का स्वर

2.1 सामाजिक प्रतिरोध का स्वर

2.1.1 सामाजिक अस्मिता

2.1.2 प्रतिरोध के प्रेरणा स्रोत

2.1.3 शिक्षा का महत्त्व और प्रतिरोध का स्वर

2.1.4 कानूनी तौर पर जाति व्यवस्था समाप्त पर समाज में आज भी जीवित

2.1.5 सामाजिक गुलामी से बाहर निकलने के लिए बेचैन स्त्रियाँ

2.1.6 प्रेम विवाह और अंतरजातीय विवाह : सामाजिक मान्यता

2.2 सत्ता एवं राजनीति से प्रतिरोध का स्वर

2.2.1 सत्ता से सामना और राजनीतिक सोच

2.2.2 दलित राजनीति को अपना नजरियाँ बदलना होगा

2.2.3 आज के राजनीतिक दौर में सामाजिक प्रश्न और मीडिया में दलितों की भूमिका

2. हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में प्रतिरोध का स्वर

2.1 सामाजिक प्रतिरोध का स्वर

दलित लेखकों में बढ़ती अम्बेडकरवादी चेतना के विस्तार ने उन्हें यह महसूस करा दिया कि उनकी सामाजिक स्थिति सोचनीय है। इसका मुख्य कारण है ब्राह्मणवादी धर्म संस्कृति में विश्वास तथा अन्धानुकरण। आज के वैज्ञानिक युग में जन्म-मरण, विवाह इश्वर के नाम पर तमाम अंधविश्वासों वाली रूढ़ियाँ तथा परम्परागत सामाजिक रूढ़ मान्यताओं की लीक पीटने की न तो सार्थकता है और न ही आवश्यकता। यही दलित उपन्यासों का मूल तत्व है। इन उपन्यासों में ऐसे स्वर दिखाई देते हैं जो सामाजिक विद्रोह का रूप धारण करते हैं। इन सभी बिन्दुओं की सार्थक चर्चा इस अध्याय में करेंगे। इस से पहले सामाजिक अस्मिता क्या है? क्यों मनुष्य को समाज में अपने अस्तित्व की जरूरत होती है ऐसे तमाम सवालों को सामने रखकर उन उपन्यासों की तुलनात्मक आलोचना करेंगे जिसमें प्रतिरोध के स्वर दिखाई देते हैं।

2.1.1 सामाजिक अस्मिता

'अस्मिता' का समानार्थी शब्द अंग्रेजी में Identity है। यह शब्द पहचान के रूप में प्रयुक्त होता है। अस्मिता से आशय पहचान से है, किन्तु यह पहचान भी आगे संबंधित के अस्तित्व का बोध है। अस्मिता की प्रवृति अपने जीवन में अपने को सर्वाधिक महत्व का समझती है। बृहद हिंदी कोश में कहा गया है कि 'अस्मिता' अहं की अनुभूति है। अहं के भाव के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग आधुनिक साहित्य में होता है। सामान्य भाषा में प्रयुक्त 'अहंकार' से अहंता का अर्थ भिन्न है। अहंकार में गर्व का बोध होता है, 'अहंता' से केवल अहं के मनोवैज्ञानिक महत्त्व का। अस्मिता में मनुष्य का अहंकार नहीं बल्कि खुद से जुडी हुई चेतना होती है। जिसका दर्शन अस्मिता के

माध्यम से होता है अहंवाद या अहं इसका प्रमुख तत्व होता है। यह उस सामाजिक सिद्धांत का रूप लेती है जो समाज के अधिकारों के स्थान पर 'व्यक्ति की पहचान' को अधिक महत्त्व देती है। व्यक्ति की स्वाधीनता नए जीवन मूल्यों के निर्माण का कारण होती है तथा जड़ परम्पराओं के प्रति विद्रोह को जन्म देती है। अस्मिता में व्यक्ति अनंत मान्यताओं एवं परम्पराओं से अपने को बांधकर स्वतंत्र व्यक्ति के विकास को अवरुद्ध नहीं करना चाहता। वह समाज में रहकर भी समाज के सामान्य प्राणियों की तुलना में अपनी अस्मिता स्थापित करना चाहता है, जिससे उसकी खास पहचान बन सके।

हिंदी और मराठी दलित उपन्यासों में यही अस्मिता की तलाश दिखाई देती है। भले ही उनकी विषय वस्तु व्यक्तिगत रही हो लेकिन साहित्य में उस समाज का दर्द व्यक्त हुआ है। लेखक भले ही अपने जीवनानुभव की बात करता हो परन्तु उसमें अपने समाज का ही चित्रण मिलता है। कारण वह जिस परिवेश में जीता है वह परिवेश उसे किसी उपेक्षित समाज के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करता है। यहाँ व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि को ही अधिक महत्त्व प्राप्त है।

इनके उपन्यासों का नायक व्यक्ति नहीं होता बल्कि समाज होता है। उसी के माध्यम से अपने दुःख दर्द को उजागर करता है, साथ ही विश्लेषण भी करता है। इन उपन्यासों में दलित अपने जीवन के प्रति सचेत भी है और सवर्णों की मानसिकता में परिवर्तन लाने हेतू प्रयासरत भी है। कुल मिलाकर कहा जाए तो इन उपन्यासों के माध्यम से लेखक यही चाहते हैं कि दलित समाज का आनेवाला जीवन समानता की कसौटी पर आधारित हो। समानता ही इसका मूल मंतव्य है। यहाँ की परम्परागत शोषण सत्ता, जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था नष्ट होनी चाहिए यही उनकी मांग भी है। मानव को केंद्र में रखकर ही वे लिखते हैं। मानव का जीवन उसका उत्थान व सामाजिक परिवर्तन यही लेखकों का प्रमुख उद्देश्य हैं।

दलित लेखकों ने अपने अनुभवों द्वारा उपन्यासों के माध्यम से उन तमाम कष्टों, यातनाओं और प्रताड़ना को बताया है। जिसका कारण सामाजिक असमानता तथा जाति व्यवस्था ही है। इसका शिकार सभी उपन्यासकार है। चाहे वह उत्तर भारत का दलित हो या दक्षिण भारत का, भौगोलिकता से अलग होने पर भी समान रूप से प्रताड़ित होना ही पड़ा। इस में से प्रत्येक की व्यथा का स्वरूप अलग-अलग रहा है। इसमें प्रत्येक की अनुभूति अलग-अलग रही है। समानता एक ही बात में है वह यह है कि ये सब देश की विषम व्यवस्था के शिकार हैं। समाज का ऐसा कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं है जहाँ उन्हें प्रताड़ित न होना पडा हो। इसी कारण अपनी अस्मिता बनाए रखने के लिए सभी लेखकों ने बाबासाहब आम्बेडकर की विचारधारा को आत्मसात किया और समाज में होने वाले सर्वांगीन अत्याचारों का विरोध किया।

2.1.2 प्रतिरोध के प्रेरणा स्रोत

इसके पहले के बिन्दू में हमने देखा कि अस्मिता से क्या तात्पर्य है। अस्मिता का अर्थ पहचान है। एक मनुष्य को समाज में पहचान की जरूरत क्यों है। जब मनुष्य की समाज में पहचान बन जाती है तो मनुष्य समाज का एक अंग बन जाता है तब उस में सही गलत की समझ निर्माण होती है। यही समझ उसको प्रतिरोध करने के लिए बाध्य करती है। यह समज उसमें कैसे और कहाँ से प्राप्त हुई है इसी की चर्चा आगे की गई है।

इतिहास का ऐसा कोई युग नहीं है जिस में व्यवस्था के विरोध में विद्रोह नहीं किया हो। इस अर्थ में गौतम बुद्ध पहले महान सामाजिक क्रांतिकारी थे जिन्होंने कुछ समय तक ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती देने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने एक सीधे-साधे धर्म की शिक्षा दी, जिसमें अचरण की शुद्धता पर बल दिया गया। बाद के विद्रोह और सुधार आन्दोलनों का नेत्रत्त्व रामानंद, कबीर, रविदास, एकनाथ, तुकाराम, चैत्यन्य महाप्रभु, नानक और अन्य कई संतों ने किया। हिन्दू समाज की असमानता को इश्वर की देन कहां जाता था, कर्म और पुनर्जन्मों के सिधान्तों का सहारा लेकर सभी प्रकार के शोषण और अन्याय को उचित ठहराया जाता था और समाज के कई प्रकार के वर्गों को ज्ञान से वंचित रखा जाता था। इन बातों से संतों को अत्यंत मानसिक क्लेश होता था और उनका प्रयत्न यह था कि जनता का ह्रदय परिवर्तन किया जाए और उसे समझाया जाए कि इश्वर की दृष्टि में सभी मानव समान हैं। परन्तु शताब्दियों से लोगों को पुराने विश्वाशों ने जकड़ के रखा था। ब्राह्मणों द्वारा फैलाए विचार इस हद तक उनके मन में घर कर गए थे कि इन संतों सुधारकों का फल यह हुआ कि उनके अनुयायियों के वर्ग बन गए। यह मत भी परम्परागत हिन्दू विचारधारा पर ही आधारित थे।

इनमें से कई मत आज भी विद्यमान है, परन्तु उनकी गतिशीलता समाप्त हो गई। बहुत से मत हिन्दू धर्म से भिन्न नहीं है और उसका अनुसरण अधिकतर लोग करते आए हैं। इस संबंध में बहुत चिंतन और मनन करने की अवश्यकता है क्योंकि ये सुधारक जनता को पुराने विश्वासों के चंगुल से छुडाने में सफल नहीं हुए? यह जानने के लिए अनुसंधान भी होना चाहिए कि क्यों भारत की जनता समाज विरोधी और अत्यंत हानिकारक धार्मिक विश्वासों में जकड़ी रही है और आज भी जकड़ी हुई हैं। पहले के सुधारक अपने उद्देश की पूर्ति में सफल नहीं हो पाए इसका कारण संभवतः यह था कि उन्होंने उस समय की प्रचलित हिन्दू विचारधारा पर प्रत्यक्ष कुठाराघात करने की चेष्टा की। समाज उन नए मूल्यों को न तो समज सका और न आत्मसात कर पाया जो सुधार आन्दोलन की नीव थे। यद्यपि जाति प्रथा की संकल्पना और उसका व्यवहार अभिजात वर्ग के विचार पर आधारित है और लोकतंत्र की विचारधारा के सर्वथा प्रतिकूल है, फिर भी पुराने युग में इसने समाज को थोड़ी स्थिरता दी। वर्ण व्यवस्था में आचार तथा व्यवहार की जो सीमाएँ बांधी गई थी उनके भीतर रहते हुए हम स्वतंत्र थे, परन्तु यह स्वतन्त्रता अत्यंत सीमित थी। इसी व्यवस्था में भारतीय गाँवों की आत्मनिर्भर व्यवस्था का विकास हुआ। क्रान्ति, आक्रमण, देश में होने वाले युद्ध और संघर्षों के बावजूद यह अर्थव्यवस्था बनी रही। किसी गाँव पर किसी अन्य शासक का अधिकार हो सकता था, परन्तु उसके अंतरिक जीवन और उसकी अर्थव्यवस्था में कोई अंतर नहीं आता था। अधिकतर ग्रामवासी दासों जैसा जीवन व्यथित करते थे, शासक चाहे कोई भी हो। राजनीति उनके बस का रोग नहीं थी। जुलाहे, बड़ई, चमार, नाई, धोबी और अन्य कारीगरों की समृद्धि इस बात पर निर्भर थी कि वे प्रतिदिन श्रम करते है या नहीं। राजनीतिक परिवर्तनों से उनकी अजीविका पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। अंग्रेजी राज्य के आने से यह जड़वत संतुलन समाप्त हो गया। जब मशीन और मीलों के बने माल से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ी तो भारतीय गाँवों की अर्थव्यवस्था और उसकी आत्मनिर्भरता पर घातक प्रहार हुआ। जब औद्योगिक जीवन का प्रारंभ हुआ और औद्योगीकरण ने जन जीवन पर आपना प्रभाव

डाला तो नागरी क्षेत्रों में वर्ण व्यवस्था की कठोरता कम हो गई, परन्तु गाँवों में रूढ़िवादियों का झेंडा गडा रहा वहाँ के लोग हिन्दू विचारधारा के परे नहीं हट सके।

इस सन्दर्भ में हम हिन्दू विचारधारा या हिन्दू सम्प्रदाय की बात करते हैं तो हमें यह याद रखना पडेगा कि हिन्दू विचारधारा अपने आप में बड़ी जटिल व्यवस्था है। हिन्दू दर्शन में विभिन्न धाराएँ हैं और बहूदा वह एक दूसरे की विरोधी है। इसी हिन्दू विचारधारा में एक मानवतावादी और लोकतंत्र पर आधारित है जिसके अनुसार मानव ही प्रत्येक बात की कसौटी है उसमें यह विश्वास निहित है कि जन्म से सभी मानव स्वतंत्र और समान है और मानव का व्यक्तित्व ईश्वरीय और अनोखा है। परन्तु इसी मिली-जुली विचारधारा में पुराणपंथी सनातनधर्मियों के इस विश्वास का आधार भी बन जाता है कि चातुर्वर्ण व्यवस्था इश्वर दत्त है। हिन्दू धर्म कोई धर्म या सम्प्रदाय नहीं है बल्कि बहुत से धर्मो और सम्प्रदायों का संगम है। इस सम्बन्ध में दो राय नहीं हो सकती की विचारधारा और भारत की सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं के संदर्भ में वर्ण व्यवस्था के सिद्धांत में कोई बल नहीं रहा है। समाज के स्वयं सोच समझ सकने वाले अंग इस बात पर एक मत है कि प्राचीन युग की इस परम्परा को जीतनी जल्दी तिलांजलि दे दी जाए उतना ही भारतीय समाज के लिए अच्छा होगा।

परन्तु साध्य के बारे में सहमती होते हुए भी साधनों पर बहुत अधिक मतभेद है। सैद्धान्तिक दृष्टि से लोकतंत्र में विश्वास रखने वाले और उत्कृष्ट राष्ट्रवादियों के समूह है जो यह कहते हैं कि जाति का नाम तक लेना बंद कर देना चाहिए। उनका विश्वास है कि यदि लोक जात-पात की बात बंद कर दें और उन मानसिक अवरोध से निकलकर स्वतंत्र वातावरण में साँस लेने लगे, जहाँ मानवों को उनके गुण-दोषों के आधार पर परखा जाता है, और इस आधार पर नहीं कि वे किस जाति के हैं, तो जात-पात और छुआछूत का अंत हो जाएगा। इसी हिन्दू समाज में एक अन्य वर्ग ऐसे व्यक्तियों का है, जो राष्ट्र की अखण्डता को तो अधिक महत्त्व देते हैं और व्यक्तियों को

कम, जिन्हें मिलाकर राष्ट्र बना है। उनका कहना है कि जातियों के आधार पर सुधार की चेष्टा करने से इस प्रथा में निहित स्वार्थ उत्पन्न हो गए हैं और हम ने अनजाने ही जाति-प्रथा को नया जीवन दिया है, यद्यपि इस से हम संघर्ष करने का दावा करते हैं। इस वर्ग के लोगों का कहना है कि सुधार तथा सहायता के कार्यों की एक मात्र कसौटी जाति नहीं बल्कि पिछडापन होना चाहिए, फिर वह आर्थिक हो अथवा सामाजिक।

कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं, जिनका विश्वास है कि यह समस्या मुख्य रूप से आर्थिक है और यदि इसको आर्थिक रूप से हल कर दिया जाए तो इसके सामाजिक सांस्कृतिक पहलू अपने-आप सुलझ जाएँगे। उनका विचार है कि जाति सम्बद्धता की भावना को उदात्त शिखर पर ले जाया जाए तो उसका प्रयोग राष्ट्रीय एकता और सभी कार्य परस्पर सहयोग के आधार पर करने के लिए किया जा सकता है। इन विचारों के व्यक्ति विशेष आरक्षण या सुविधाओं के विरुद्ध है, क्योंकि उनका विश्वास है कि इनसे जातिगत भावनाएँ और अपनी-अपनी जाति के प्रति निष्ठा की भावना का विकास होने में बाधा पड़ेगी। ये व्यक्ति सह्रदय अव्यश्य है परन्तु अनजाने में ही पिछड़ी जातियों के संरक्षणों की भूमिका निभाने लगते हैं, क्योंकि उनका यह विश्वास है कि उन्हें यह नैतिक ऋण चुकाना है जो उन लाखों शोषितों का उपकार है। वह समजते हैं कि इसी तरीके से राष्ट्र का हित हो सकता है। मेंरा विश्वास है कि इस प्रकार के विचार और ऐसे रवैयों का कारण या तो यथार्थ का सर्वथा अज्ञान है या वह सच्चाई के आगे आना नहीं चाहते हैं।

जात-पात अत्यंत हानिकारक और अपमानित प्रथा है, इतना विश्वास करना ही काफी नहीं है ऐसी अवस्थाओं की घोषणा करने से कोई लाभ नहीं होता। महत्त्व इस बात का है कि इन जातियों के प्रति व्यवहार किस प्रकार का किया जाता है। इन जातियों के प्रति पढ़े-लिखें व्यक्तियों का व्यवहार कुछ पूर्वाग्रहों पर आधारित है, जिनका हिन्दू विचारधारा में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज भी यह पूर्वाग्रह पहले जैसा ही बना हुआ है कि शारीरिक श्रम से व्यवसायों को और उनमें लगे हुए व्यक्तियों

को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। आज भी समाज में ऐसे व्यक्तियों को अधिक सम्मान मिलता है जो हात से काम नहीं करता।

ऊँची जातियों के बुद्धिजीवियों के विश्वास चाहे कुछ भी हो उन्होंने सोचने की जो आदत आपने पूर्वजों से प्राप्त की है और एक ही जाति में विवाह की प्रथा तथा जाति व्यवस्था के सोपान तंत्र के बारे में उनके जो विचार है वे ही इस बात का निर्णय करते हैं कि ऊँची जाति के इन लोगों का व्यवहार कैसा हो? अगर इसमें थोडासा भी परिवर्तन होता है तो (उदाहरण स्वरूप : अंतरजातीय विवाह) उसका बहिष्कार कर दिया जाता है। इस संबंध में डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर कहते हैं- "बहिष्कार का शेष कारण अनुचित विवाह, जो ऐसा विवाह बेमेंल माना गया। अतः उसके स्वरूप जो संतान होगी वह दाय भाग प्राप्त नहीं कर सकती।"[1] ये पूर्वाग्रह और पूर्व धारणाएँ समाज के ताने बाने का अभिन्न अंग है। यही कारण है कि हम कथनी और करनी में इतना अधिक अंतर देखते हैं। इसलिए तथाकथित बुद्धिजीवियों में ऐसे व्यक्तियों की संख्या अधिक नहीं है, जिनके मन पूर्वाग्रह से पूर्णतया स्वतंत्र हो।

कथनी और करनी के इस भेद को किस प्रकार मिटाया जा सकता है, पिछड़ी जातियों को यह विश्वास किस प्रकार दिया जा सकता है चाहे उनके लिए किसी आरक्षण या परित्राण की व्यवस्था न की जाए। ऊँची जाति के सह्रदय बुद्धिजीवियों के हातों में उनके हित सुरक्षित रहेंगे? यह ऊँची जातियाँ वही है जो अपनी सदाशयता और बौद्धिक विश्वासों के बावजूत जातिगत पूर्वग्रह और व्यवहारों से ऊपर उठने में सफल नहीं हुई। मूल समस्या यही है जिस पर गंभीरता से विचार करना पड़ेगा और इमानदारी से इसका हल खोजना पड़ेगा। मैं समझता हूँ कि यह समस्या जात-पात और उन्मूलन की समस्या नहीं है। सकारात्मक ढंग से देखा जाए तो यह समस्या जनता के मानस को बदलने की समस्या है। यही प्रयास हिंदी और मराठी के दलित उपन्यास करते हैं। जिससे की हिन्दुओं के युगों पुराने विश्वासों के तरीको में परिवर्तन

---

[1] डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर संम्पूर्ण वाङ्मय खंड - 10 पृ.सं.75

किया जा सके। जो सुधार की उस प्रक्रिया को पूरा करने की है, जिसका सूत्रपात कई महान संतों ने किया जो संपूर्णता के चरण तक नहीं पहुँच सका। इसलिए दलित समाज को यही से प्रतिरोध की प्रेरणा मिलती है।

2.1.3 शिक्षा का महत्त्व और प्रतिरोध का स्वर

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर की प्रेरणा को आत्मसात कर दलित समाज का युवक शिक्षा को भली भांति जानता है। इसलिए दलित समाज में शिक्षा का बड़ा महत्त्व है। इस कारण दलित उपन्यासों में मराठी हो या हिंदी दोनों भाषाओं के उपन्यासों में शिक्षा पर महत्त्व देते हुए बताया गया है। मोहनदास नैमिशराय के मुक्तिपर्व उपन्यास में हेड मास्टर कहते हैं- "आज देश आजाद है आज देश के हर नागरिक को शिक्षा लेने का अधिकार है। यह तो हमारा संविधान भी कहता है।"[1] आज सबको बराबरी का अधिकार मिला है। संविधान के माध्यम से मनुष्य-मनुष्य की दूरी खत्म हो गयी। सबको समानता और भाईचारे का हक्क मिला। पर समाज में कुछ ऐसे भी मास्टर है जो दलितों के शिक्षा लेने से उनके मन में जलन होती है और जातिवादी अभद्र शब्दों का प्रयोग कर दलितों को नीचा दिखाने की कोशिश करते हैं। इतना ही नहीं बल्कि उन्हें स्कूल से निकालने की साजिस भी होती है इसी का उदाहरण मुक्ति पर्व में देख सकते हैं- "पर हम बताई देते है हेड मास्टरजी इतना तो हमने झेल लिया आगे अगर किसी चमार भंगी के लौंडे को इस स्कूल में दाखिला दिया तो बात इतनी बिगड़ जाएगी कि फिर संभालनी मुश्किल हो जाएगी।"[2] ऐसी मानसिकता वाले मास्टरों की वजह से ही तथाकथित दलित समाज में आज भी कई दलितों के युवाओं को अवहेलना का शिकार होना पड़ता है। पर इसे घबराकर दलित समाज ने पढ़ाई करना बंद नहीं किया बल्कि और सिद्धत के साथ पढ़ने लगा।

दलित समाज का इतिहास देखा जाए तो आज तक हाशिए का समाज था, गाँव हो या शहर उनकी बस्तियाँ समाज से अलग होती थी, उनके घर अलग से पहचाने जाते थे। उनका व्यवसाय दूसरे लोगों से अलग था। वे जितना अपने-आप को ढ़ोते थे उतना ही गुलामी को भी। इसलिए उनके भीतर जैसे घाव थे वैसे बाहर भी

[1] मुक्तिपर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 105
[2] मुक्तिपर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ. सं. 104

दिखाई देते थे। वे अपने घांवो का जितना भी इलाज करते नए घांव उतने ही हो जाते। उन्हें इतिहास से अलग कर दिया गया था। अब वर्तमान से भी अलग करने के प्रयास हो रहे हैं। जितनी सफलता इतिहास से काटने में मिली उतनी सफलता वर्तमान से काटने में नहीं मिल पा रही है। अब दलित न दीन है न हीन है अब दलित बलशाली बन गए हैं। उनके भीतर का दर्द बाहर आता है तो आज वे अपने-आप से ही सवाल जवाब करते हैं। इसलिए मोहनदास नैमिशराय कहते हैं- “समाज में उन कमेंरों की गिनती ढेढ़ चमारों के रूप में होती थी। अक्षर ज्ञान से भी उन्हें महरूम रखा गया था। पर कुछ लोगों ने अक्षर ज्ञान से रिश्ता बना लिया था जिनकी शिक्षा के प्रति ललक बड़ी थी उनके पांव स्कूल की दिशाओं में दौड़ते थे और आँखें किताबों को तलाश करती थी।”[1]

ऐसा ही मराठी का उपन्यास फकीरा है जो खोई हुई पहचान तथा दलितों के प्रति अपनी अस्मिता जगाता है। इसलिए वि.स. खांडेकर अन्ना भाऊ के लेखनी के संदर्भ में कहते हैं- “समाज का उपेक्षित, दलित, किसान, मजदूर इनके लेखनी के नायक होते हैं जिनको समाज ने उपेक्षित किया उन्हीं को अन्ना ने गले लगाया। इसलिए अन्ना को विद्रोही साहित्य के जनक भी कहां जाता है।”[2] अन्ना भाऊ का साहित्य दलित समाज के जनक डॉ. बाबासाहब आंबेडकर की लेखनी को समर्पित है। इस कारण उनका साहित्य दलितों को अपने अधिकार दिलाता है। सही मायने में देखा जाया तो उनके साहित्य से लोक शिक्षा का नया प्रचार और प्रसार हुआ।

मराठी उपन्यासों में जिस तरह से शिक्षा को महत्त्व दिया गया उसी तरह हिंदी उपन्यासों में भी शिक्षा को महत्त्व दिया गया है। समाज का दीन-हीन व्यक्ति भी अपने बच्चों को पढाना चाहता है जिस से अपने परिवार तथा समाज का स्तर ऊँचा हो सके। ऐसे माता-पिताओं में हम सुक्खा और रमिया को देख सकते हैं। छप्पर में

---

[1] मुक्तिपर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ. सं. 18
[2] ग्रामीण दलित साहित्य चळवळ आणि समीक्षा - प्रा.डॉ. मधुकर गणेश मोकाशी - पृ.सं. 194

जयप्रकाश कर्दम ने शिक्षा के महत्त्व को तो बताया ही है पर अनपढ़ माता-पिता की मनःस्थिति का वर्णन भी किया है। देहात में रहनेवाली तथा कष्टों में जीवन व्यथित करनेवाली सुक्खा की पत्नी रमिया इस प्रकार कहती है- “एजी मैं कहती हूँ चन्दन के बापू अब तो काफी पढ़ लिख गया है चन्दन! क्यों नहीं तुम लिखना भेजते है कही कोई हिल्ला रोजगार ढूंड ले ...आगे पढ़कर कोण कलेक्टर बन जाएगा”। सुक्खा कहता है- “चुप रह पगली कोई पेट से तो बड़ा बनकर नहीं आता है पढ़ लिखकर बड़े बनते।”[1] डॉ. आंबेडकर के पढों, संगठित हो, संघर्ष करों, इस सूत्र के कारण दलित समाज शिक्षा के महत्त्व को समज गया। तभी तो सुक्खा अपने बेटे को पढ़ने शहर भेजता है। जब चन्दन पढ़ने शहर जाता है तो गाँव वालों में हलचल सी मच जाती है। ब्राह्मण, ठाकुर सबके कान खड़े हो गए थे आज तक किसी का बेटा पढ़ने शहर के लिए नहीं गया लेकिन सुक्खा एक चमार का बेटा होकर शहर में पढ़ने गया नाक कट गई सब की। अर्थात् अब तक गाँव में यह मान्यता नहीं थी कि किसी चमार का बेटा शिक्षा के लिए बाहर जाए। यहां यह स्पष्ट होता है कि इस व्यवस्था ने गाँव के बाहर रहनेवाले मनुष्य को अपने अधिकार से जानबूझकर दूर रखा था। मनुष्य के विभाजन के मूल में इन्हीं का ही शास्त्र कार्यरत है। माता प्रसाद का इस उपन्यास के संदर्भ में कहना है कि- “उपन्यासकार सवर्ण समाज की रजनी के जरिए स्वतंत्र भारत की आधुनिक स्मृति तथा सामाजिक संहिता संविधान के तहत स्वंतन्त्रता, समानता, बंधुता, एवं धर्मनिरपेक्षता के समाज की संरचना को स्वीकार करने की बात करता है। अपने पिता हरनाम सिंह को समझाने का प्रयत्न करते हुए रजनी के मुंह से यह कहलवाया कि- “संविधान के अनुसार देश के प्रत्येक नागरिक को सम्मान और स्वाभिमान पूर्ण जीने का हक्क है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वच्छानुसार व्यवसाय चुनने और जीवन की दिशा निर्धारित करने की स्वतन्त्रता है। यदि चन्दन पढ़-लिखकर काबिल बनना चाहता है तो उसका संवैधानिक हक्क है, इस पर किसी को ऐतराज क्यों होना चाहिए। चन्दन कहीं बड़ा अफसर बन जाएगा पढ़ लिखकर तो

[1] छप्पर - जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं. 26

इसमें बूरा क्या है? इस बात पर तो समूचे गाँव को गर्व होना चाहिए। सुक्खा यदि अपना पेट काटकर अपने बेटे को पढ़ाना चाहता है तो उसको ऐसा करने से क्यों रोका जाए? मैं तो कहती हूँ कि इसके लिए सुक्खा की मदद की जानी चाहिए और दूसरे लोगों से भी सुक्खा से प्रेरणा लेकर अपने बच्चों को पढ़ा-लिखाकर काबिल बनाना चाहिए। जब तक दूसरे लोग भी सुक्खा की तरह अपने बच्चों को काबिल बनाने की ओर ध्यान नहीं देंगे तब तक न देश का उत्थान नहीं होगा और न समाज का।"[1]

ऐसे ही विचारों का दूसरा उपन्यास 'मिस रमिया' को भी देख सकते हैं। उच्च वर्ग के लोग दलितों के प्रति किस तरह की सोच रखते हैं और किस तरह की अहवेलना करते हैं। इसका जीता जागता उदाहरण मधु है। मधु कहती हैं- "आखिर मैं कितनी भी हूँ तुमसे जाति की ऊँची हूँ। इस नीच गधे को मारू नहीं तो और क्या करूं? सब कुत्ते गंगा नहायेंगे तो बर्तन कौन ढूनढूनायेगा। ये लोग पढ़ लिख कर क्या करेंगे।"[2] इस तरह की सोच को भी हम देख सकते है। मधू के इस सामन्ती विचारों का जवाब देते हुए रमिया कहती है- "मधु दी मैं फिर एक बार कह रही हूँ ऐसी बात नहीं बोलिए। ये लोग पढ़ लिख कर भी कुछ नहीं करेंगे तो क्या ऊँची जाति के बच्चे माँ की पेट से कुछ करके निकलता है? सब कोई अभिमन्यु ही जन्म लेता है? यह क्या जरूरी है कि एक डाक्टर का बेटा डाक्टर और एक पंडित का लड़का पंडित और एक विद्वान का लड़का विद्वान होगा। जब यह नहीं हो सकता तो एक जूता बनानेवाले का लड़का भी वही काम करें। मैं यह मान सकती हूँ कि परिस्थिति वश भले ही कोई दब जाता है लेकिन क्या उसके बुद्धि में कीड़े लगे रहते हैं? नहीं। एक चिंगारी दूसरी चिंगारी से दबकर भले ही अपना जोश खोए रहती है, परन्तु उसमें भी तिव्रता उतनी ही रहती है जितना ऊपर की चिंगारी में, अगर उसे हवा की सांस मिल जाए तो वह भी अपनी बुद्धि शक्ति दिखा सकती है।"[3] हम देख सकते हैं कि दलितों में प्रतिभा की कोई कमी

---

[1] दलित साहित्य में प्रमुख विधाएँ - माता प्रसाद - पृ.सं. 108

[2] मिस रमिया - कावेरी - पृ.सं. 81

[3] मिस रमिया - कावेरी - पृ.सं. 81

नहीं है, सिर्फ उनको मौका मिलना चाहिए। आज तक उनको मौका नहीं मिला था इसलिए यह समाज शिक्षा से वंचित रहा, लेकिन जैसे-जैसे अवसर प्राप्त होते गए इससे उनकी प्रतिभा में निखार आता गया। इस सन्दर्भ में चंद्रभान प्रसाद का कहना है कि- "शिक्षा एक ऐसा अवजार है जिसके इस्तेमाल से दलित वर्णाश्रम व्यवस्था की व्यूह रचना को ध्वस्त कर सकते हैं, जो दलित शिक्षित हो गए मसलन, प्रायमरी स्कूल में शिक्षक बन गए वे अपने समाज में, सापेक्ष रूप से मुक्त हो गए। जो विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बन गए या सांसद या विधायक या आई.ए.एस. आफिसर उनका तो कहना ही क्या। यदि दस ऐसे दलितों का अध्ययन करे जिन्हें समाज में थोड़ा बहुत सम्मान प्राप्त है, तो कम से कम नौ ऐसे होंगे जिन्होंने शिक्षा रूपी हथियार से कर्म सुद्धता के बंधन को तोड़ते हुए नए पेशे को अपनाया हैं।"[1]

दोनों भाषाओं के उपन्यासों में दलित समाज में शिक्षा के महत्त्व को देखा जा सकता है। आज दलित समाज ने शिक्षा को हथियार बनाया है जिस से प्रतिगामी शक्तियों पर प्रहार करने में उसे आसानी हो रही है। आज का दलित समझ चूका है कि जब तक शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते तब तक हमें अपने आधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। इसलिए छप्पर का चन्दन हो या मिस रमिया की रमिया, शिक्षा से अपना नाम समाज में रौशन कर पाए हैं।

[1] अपेक्षा - जुलाई,दिसंम्बर - 2012 - पृ.सं. 142

2.1.4 कानूनी तौर पर जाति व्यवस्था समाप्त पर समाज में आज भी जीवित

भारत में आज कानूनी तौर पर कोई अछूत नहीं है। संविधान ने छुआछूत का उन्मूलन कर दिया है। विवाह तथा उत्तराधिकार संबंधी कानूनों का संशोधन हो चूका है। इस प्रकार कानून की मदत से भारतीय समाज में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ, परन्तु हमारा व्यक्तिगत रवैया वही है। इन कानूनों को प्रभावोंत्पादक ढंग से बहुत कम लागू किया जाता है और जनता ने इसे अपने सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का अंग नहीं बनाया। कानून तथा संविधान की दृष्टि में सभी नागरिक बराबर है परन्तु भारतीय समाज विषमता पर आधारित है, जिसमें ऊँची और नीची जाति को स्वीकृति दी गई। भारतीय समाज ने अपने सामाजिक जीवन के लिए नए मूल्य स्वीकार किए। हिन्दू समाज भावनात्मक स्तर पर कई अंगों में बटा हुआ है। हिन्दू समाज भारतीय समाज का प्रमुख अंग है परन्तु यह अन्य समाजों के साथ मिलकर समांगी अविभाजित भारतीय समाज का रूप नहीं ले पाया है। भारतीय समाज की यह मूल कमजोरी सभी लोगों के लिए चिंता का विषय है। जहाँ तक भेदभाव को समाप्त करने की आवश्यकता है, प्रत्येक व्यक्ति देखने में तो प्रतिबद्ध है। परन्तु वास्तविकता यह है कि जो लोग सार्वजनिक रूप से जाति की निंदा करते हैं, अपने दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उसी के अनुसार आचरण करते हैं। इस बौद्धिक संकल्पना को व्यवहारिक रूप नहीं दिया जाता, बहुत से लोग बुद्धिजीवी और विशिष्ट वर्ग के लोग अपने ही संसार में रहते हैं और पता नहीं जाति भेद वाले समाज में कितनी असमानता और अन्याय है। कई बार सार्वजनिक रूप से वे समतावादी विचारों का दंभ भरते हैं, लेकिन वे अपने जीवन के इन पूर्वाग्रहों का उन्मूलन करने में सफल नहीं हुए है। बहूतबार उनके सोचने में अंतर दिखाई देता है। व्यक्ति के कथनी और करनी में जो अंतर है, वह कानून और उसके लागू किए जाने के बीच अंतर के रूप में प्रकट करता है। जब हमारे देश में संविधान के माध्यम से छुआछूत का उन्मूलन

हुआ और कानून बना तो देश में कोई प्रतिक्रियाएँ नहीं हुई। इसका क्या कारण है? कारण यह है कि हिन्दूओं में जो सबसे अधिक रूढ़िवादी हैं, वे भी यह समझते हैं कि ऐसा कानून बनाना उचित था। परन्तु यह कानून, कानून की किताबों में ही रहा है इसको कभी लागू नहीं किया गया। इसका उदाहरण हम मराठी का उपन्यास 'हाडकी हाडवला' में देख सकते हैं। एक प्रसंग में सावला गाँव के सामाजिक कार्य में लेझीम खेलना चाहता है। वैसे तो जोर शोर से गाँव के सभी लड़के-लकड़ियाँ, लेझीम खेल रहे थे। यह देखकर सावला का बालसुलभ मन यह कहता है- "माँ मुझे भी खेलना है?" माँ का जवाब बहुत ही दिल को हिला देनेवाला था। "महार-चमार को इनके साथ खेलने नहीं देते।"[1] लेखक ने बड़ी चतुराई के साथ बायजा की मानसिक पीड़ा को समझा उनके ही शब्दों में- "उसको लग रहा था पूरा खेल खराब करूँ, उस खेल को होली की धगधगती आग में जला दूँ। सब कुछ करने वाले यह लोग और उसका मजा लुटनेवाले कोई और, इस खेल में नीची जाति के किसी भी व्यक्ति को शामिल नहीं होने दिया जाता था। मेंहनत करनेवाली यह जातियाँ और उसको ही उसका फल नहीं मिलता था।"[2] हमें आशा है कि जब इनकी मानसिकता में परिवर्तन आएगा तो दलित समाज मानव की तरह जीवन यापन करेगा। दलित समाज अपने को बाकी अंगों के समान मानेगा और इस पर बल देगा कि उसके साथ बराबरी का व्यवहार हो। परन्तु जब भी इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रकट हुई है इन अभागों को और अधिक दमन और परेशानी का सामना करना पड़ा है। इस दमन के लिए वही लोग जिम्मेदार है, जिनके बारे में एक समय ऐसा लगता था कि वे नए विचारों को अपना चुके है। इस उपन्यास की तरह अन्य दलित उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

[1] हाडकी हाडवला - नामदेव ढसाल - पृ.सं. 76
[2] हाडकी हाडवला - नामदेव ढसाल - पृ.सं. 76

2.1.5 सामाजिक गुलामी से बाहर निकलने के किए बेचैन दलित स्त्रियाँ

हिंदी और मराठी के दलित उपन्यासों में स्त्रियों के प्रति अपनाए जानेवाले सामाजिक व्यवहारों पर गंभीर चिंतन हुआ है और यह बात खुलकर सामने आयी है कि सामाजिक और आर्थिक रूप से संपन्न परिवारों की लड़कियों के बजाय सामाजिक रूप से कमजोर परिवारों की लड़कियों को अधिक अपमान झेलने पड़ते हैं। समाज में इज्जत के नाम पर बड़ी संख्या में भ्रूण हत्याएँ की जाती हैं। इस रहस्य से पर्दा उठने के डर से भयभीत होकर तथाकथित सभ्य एवं आर्थिक सामाजिक रूप से संपन्न लोग रहस्य के जानकार गरीब लोगों की हत्या करने से भी नहीं हिचकाते। इसके लिए जिम्मेदार कौन है? सरकार? कानून? समाज? उपेक्षित लोगों की मानसिकता? हत्यारों के खिलाफ न्याय की आवाज सरकार और उसके अफसरों के कानों तक जाकर भी अनसुनी रह जाती है।

हिंदी उपन्यास 'थमेंगा नहीं विद्रोह' ऐसा ही उपन्यास है जो गाँवों में भूमालिकों व संपन्न वर्ग द्वारा दलित महिलाओं के प्रति जुल्म व दुर्व्यवहार होते आए हैं- अबोध चावली से बलात्कार, रामबती से बलात्कार, गंगा की बहू से बलात्कार व हत्या इसके उदाहरण है। हिन्दू धर्म की सामाजिक गुलामी व दुर्व्यवहारों के खिलाफत करते हुए खचेडू भंगी आर्य समाज में खचेडू महाशय बताता है। जहाँ पूजारी द्वारा उसकी पुत्री का चरित्र हनन उसे दण्डित करने की बजाय पीड़ित वर्ग को चुप रहने का हुक्म दिया जाता है। प्रतिरोध स्वरूप खचेडू महाशय इसाई धर्म अपनाकर खिस्तदान व उसकी बेटी मारथा बनती है। विवाह के बाद मारथा चावली के नाम से जानी जाती है। सांस के स्नेह ने उसे सफाई के गंधे धंधे में जाने से रोका और उसे बनाया एक दक्ष दाई। अपनी दक्षता के आधार पर वह मर्दों की पहचान करती है। और पति द्वारा दूसरा विवाह करने पर कहती है- "न कमी मेंरे में थी और न कमी मेंरे सौत में हैं लेकिन मर्द इसे स्वीकारने से डरते हैं तथा और एक प्रयोग के चक्कर में और एक स्त्री का जीवन बर्बात करते हैं लेकिन अपनी कमी तब भी स्वीकार नहीं करते।

लगभग अस्सी प्रतिशत मामलों में होता तो है मर्द बांझ लेकिन पूरा समाज गाली देता है औरत को।"[1] समाज में स्त्री पर जो प्रतिबंध लगा रखा है आज के समय में उसने उन प्रतिबंध को तोड़ना सिखा है और आगे बढ़ी है। यद्यपि करोड़ों औरतें बेहद कठिन हालातों में पड़े-पड़े जीवन गुजारने को मजबूर हैं। उनको जीना सिखाया जाता है परिवार के लिए, बच्चों के लिए, पति के लिए अपने लिए तो वह जी ही नहीं पाती है और जब अपने लिए जीना आरंभ करती है तभी उसपर अक्षेप लगते हैं।

गरीब परिवारों में बेटीयों के विवाह की चिंता प्रथम है। 'थमेंगा नहीं विद्रोह' में देवी की जात लगाने के लिए दलित परिवार हजारों के कर्जदार बनकर खेतों में बेगारी करते हैं, देवी की ख़ुशी के नाम पर अपना तथा अपने परिवार का सत्यानाश करके आर्थिक मज़बूरी में बड़ी बेटी भागों का विवाह एक तपेदिक के मरीज से करता है। माँ द्वारा इस बेमेंल विवाह से सवाल उठाने पर पुरुष अंहकार में गालिया देकर पिटाई करते हुए उसे ही बेटी पैदा करने का दोष देता हैं। "धड़धडाता हुआ कोठरी में घुसा और दो-तीन चपेड लगाकर सोना को चुप कर दिया लौडियां ही लौडियां की लैण लगा दी जन-जन कै, जब ना सोची ही यूँ बात, कै इन कै ब्याह भी करनौ पडौगो। चुप हराम जादी जो एक भी सबद मूँ सू लिकाडौ तौं।"[2] अज्ञानता एवं अर्थाभाव में बीमार लड़के से पुत्री का विवाह करना पिता की सामाजिक विवशता इसलिए बन गई कि उसने देवी की जात के नाम पर अनावश्यक धन की बर्बादी की। इन माँ बहनों के पारिवारिक दुःख एवं दमन को सुनने वाला कोई नहीं उन्हें अपने सपनों की बलि देकर जीना पड़ता है अतः पित्रसत्ताक समाज में बेटियों के विवाह को मात्र एक बोझ समझकर निपटा दिया जाता है। समाज में सबसे ज्यादा उन स्त्रियों पर अन्याय होता है जो इन्हीं समाज ने उनको संम्बोधित किया, वह है वेश्याएँ। मोहनदास नैमिशराय का उपन्यास 'आज बाजार बंद है' इसी विषय पर आधारित है।

---

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 229

[2] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं.114

लेखक ने न केवल वेश्याओं का चित्रण किया है साथ ही वेश्यावृत्ति को ख़त्म करने का रास्ता भी दिखाया है।

वे उपन्यास की भूमिका में लिखते हैं डॉ. अम्बेडकर के धर्म परिवर्तन आन्दोलन के समर्थन में 16 जून, 1936 को देवदास ठाकुर हाल में बंबई की वेश्याओं ने एक सभा की थी। इस सभा में देवदासी पत्राजी, भूते, अराधी और जोगती पंथ से संबंधित स्त्री-पुरुषों ने बड़ी संख्या में भाग लिया था। इस सभा में बाबासाहब आंबेडकर ने कहा था- "आप हमारे साथ धर्म परिवर्तन करे अथवा न करे, यह मेंरे लिए अधिक महत्त्व का विषय नहीं है, परन्तु मैं आग्रह करता हूँ कि यदि आप आन्दोलन में रहना चाहती है तो आपको यह अपमानित जीवन त्यागना होगा।"[1] आंबेडकर दर्शन यह बताता है कि स्त्रियों के साथ अत्याचारों का गहरा संबंध जातिवाद से है और जातिवाद का गहरा संबंध हिंदूवादी विचारधारा से। अतः हिंदूवादी विचारधारा को चुनौती दिए बिना देश में सामन्तवादी विचारधारा के आधार पर समाज व्यवस्था बनाना संभव नहीं है। इसके लिए जरुरी है कि सभी उत्पीड़ित, अति उत्पीड़ितों के नेत्रत्व में काम करें। इसी संदर्भ में गेल ओमवेट का मानना है कि- "19 वीं सदी के अंत में हिन्दू राष्ट्रवाद में आए उभार के बाद हालांकि उंचे जाति के मध्यमार्गी सामाजिक सुधारवादी को भी पीछे हटना पड़ा किन्तु औरतों के आन्दोलन ने संगठित रूप ले लिया।"[2]

मराठी का उपन्यास 'झिपय्या' में हम स्त्री जीवन की पीड़ा देख सकते हैं लीला जो झिपय्या की बहन दूसरों के घर में बर्तन मांजने तथा कपडे धोने का काम करती है। उसकी माँ यरवदा भी यही कार्य करती है। पर लीला को लगता है कि इस परिस्थिति से मुक्ति पाना है तो अपने भाई को पढ़ाना होगा। यहाँ लेखक ने स्त्री की अपने परिवार के प्रति वैचारिक पृष्ठभूमि को उजागर किया है। "हजार बार बता चुकी

---

[1] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - भूमिका
[2] दलित दृष्टि - गेल ओमवेट - पृ.सं. 38

हूँ कि अब लाइन पर धंदे के लिए जाने की जरूरत नहीं है। फिर क्यों गया था मटर गस्ती करने? घर बैठकर पढ़ाई नहीं कर सकता तू मास्टर जी के पास क्यों नहीं चला जाता उनके स्कूल के काम में हात बटाने।"[1] इस से यह पता चलता है कि घर में एक औरत के विचार सकारात्मक हो तो परिवार को इस चंगुल से निकाला जा सकता है।

सामन्ती व्यवस्था में सामाजिक आर्थिक रूप से कमजोर व कामकाजी स्त्रियाँ सदियों से उत्पीड़न का शिकार रही हैं। जब सामन्तवाद के साथ ब्राह्मणवाद मिल जाता है ईश्वर व देवता की नाराजगी दूर करने के लिए कर्मकांडों के बहाने इन वर्गों की स्त्रियों का दैहिक शोषण बहुत ही त्रासदी पूर्ण हो जाता है। भारतीय समाज में स्त्रियों की अस्मिता के प्रति सदियों से दुर्व्यवहार होते रहे हैं। वे पुरुष से कही अधिक श्रम करती है फिर भी उन्हें परिवार व समाज में पुरुष के समकक्ष समानता नहीं मिल पाई है, इसके लिए सामाजिक धार्मिक परम्पराएँ, जड़ताएँ, जनमानस की मानसिकता जिम्मेदार है।

'जस-तस भई सवेर' में चौधरी देविपाल गाँव को जमीदार वर्ग का प्रतिनिधि कहा जा सकता है और वह गाँव की कामकाजी एवं खेतों में काम करने वाली महिलाओं को डरा धमकाकर उनका यौन शोषण करता है। घास लेने देविपाल के खेतों में गई रामरती, घुसिया, सन्नों बारिश में भीगने से बचने के लिए झोपड़ी में चली आई तो उनका पीछा करते हुए वह वही पहुँच गया। उसके साथ आई दूसरी महिलाओं की आपसी एकता के अभाव में दोनों स्त्रियाँ घुसिया को अकेला छोड़कर भाग आई। "घुसिया पूरी शक्ति लगाकर प्रतिरोध करती रही। बेबस अवस्था में रोती-कलपती रही, चीखती-चिल्लाती रही। जैसे जी में आई गालियाँ भी बकती रही परन्तु कोई उसकी पुकार सुननेवाला नहीं था परन्तु नारी तो थी, थी तो दलित ही। उसकी रक्षार्थ कथित ईश्वर भी कैसे आता? संभवतः कथित इश्वर को भी उसकी अस्मिता के विषय में संदेह था। ... सन्नो रामरती से कहती रही की चलो चलकर घुसिया को

[1] झिपय्या - अरुण साधू - पृ.सं. 176

छुड़ाए लेकिन रामरती ने कहा, 'तुम किस किस की जान बचाओगी और कब तक बचाओगी? तुम अपनी इज्जत की चिंता करो...। चौधरी को तो औरत चाहिए। हम गरीब की कोई सुनवाई नहीं है? वह चौधरी है चौधरी। किसकी मजाल जो गाँव भर में कोई उसके सामने मुंह खोल सके। हमें तो चौधरी की दया पर जिन्दा रहना है। यही हमारी नियति है। ...आज सबक सीखा दोगी सन्नो। कल जाओगी तुमारी कौन सुननेवाला है?"[1] व्यक्ति को अपनी इज्जत प्यारी होती है और स्त्रियों के मामले में यह मामला और भी गंभीर बन जाया करता है। लेकिन चौधरी यहाँ घुसिया को तार-तार करके उसे कुछ धन का लालच देकर हिम्मत जुटाता है तो उन रुपयों पर वह थूंक देती है। और प्रतिशोध के लिए ललकारती है- "देविपाल तेरी भी इज्जत का भांडा फोड़ सारे गाँव के सामने करूँगी। बड़ा हिमायती बनता है गरीबों का। तेरी अर्थी भी सजाकर निकालूँगी। तेरी माँ, बहन, बेटी को तेरे नीचे डाल दूंगी। तब देखूंगी तेरी मर्दानगी।"[2] प्रतिरोध की ललकार को हमेंशा से शांत करने हेतु चौधरी ने दोनों स्त्रियों पर मानसिक दबाव बनाकर घुसिया के मुंह में कपडा ठुसकर उसे फांसी पर लटका दिया। उसने घटना का कही जिक्र होने पर दोनों को दुष्परिणाम होने का डर दिखाया। लेकिन इतनी बड़ी घटना कब तक छुपी रहती। घुसिया के पति मनसुख ने गाँव में घुसकर न्याय के लिए आवाज उठाई। मरने के डर के मारे उसका किसी ने साथ नहीं दिया। पुलिस ने गाँव में आकर महज औपचारिकता पूरी की और चौधरी से मिलकर अपना हिस्सा लेकर बिना कोई कार्यवाही किए वापस चली गई। इस तरह होते हैं कामकाजी स्त्रियों की अस्मिता पर हमले, इज्जत का खिलवाड़ और जीवन का अंत। उनकी सुरक्षा कहाँ है? गाँव में, खेत में, काम के स्थानों पर उन्हें हर जगह उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। बची हुई दोनों स्त्रियों को भगत की सहायता से चौधरी ने चाल चलाई और उनको पूरे गाँव में नंगा घुमाया। जब इन निरापराध स्त्रियों को नंगा घुमाया जाने लगा तो शिवदास ने विरोध किया- "अरे मूर्खों देख क्या

[1] जस तस भई सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 13,14
[2] जस तस भई सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 15

रहे हो कल तुम्हारी भी बहू बेटियों के साथ यही होगा, अन्याय का विरोध करो। अन्याय को चुपचाप सहना भी अन्याय है। लोगों की बुद्धि कोमा से लौट आयी।"[1] हमें उत्पीड़न के खिलाफ एक सामाजिक ताकत बनकर उठना है और तभी इस ताकत को देखकर गरीब, वंचित, कमजोर ग्रामीण स्त्रियों का मान सम्मान सुरक्षित हो पाएगा। कमजोर पर तो कोई भी हमला कर देता है लेकिन ताकतवर पर हमला करने से सभी डरते हैं। अपनी कमजोरी को सामाजिक ताकत बनाने की तथा स्वाभिमान के साथ जीवन जीने की जरूरत है और इस दिशा में ग्रामीण स्त्रियाँ स्वयं जनांदोलन खड़ा कर सकती है। चेतनशील युवा शक्ति के प्रयासों से 'जस तस भई सवेर' के शोषकों को सजा मिलनी संभव हुई। लेकिन आज भी भारतीय स्त्री को ऐसे कुत्सित आचरण से मुक्ति नहीं मिली। कमोबेश रूप में दोनों उपन्यासों में स्त्री को सामन्ती मानसिकता का शिकार होते दिखाया गया है। आज शहरों में जितनी स्त्रीवाद की झलक हम देखते हैं उतनी ग्रामीण स्त्री इस वाद से कोसों दूर है। इस तरह ग्रामीण दलित स्त्रियाँ इन सारी गुलामी से बाहर निकलने के लिए आज भी प्रयासरत हैं।

---

[1] जस तस भई सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 95

2.1.6 प्रेम विवाह और अंतर्जातीय विवाह : सामाजिक मान्यता

हमारे सामाजिक जीवन में जाति का नाम सदैव ही व्यक्ति की हैसियत नापने के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है। यानी तथाकथित वर्ण एवं जातीय पैमाने पर जो जितना उच्च, वही स्थान निर्धारित हो गया। वर्त्तमान लोकतांत्रिक सत्ता से इस व्यवस्था को कोई अधिक ठेस नहीं लगी है, यह प्रत्यक्ष की बजाय परोक्ष रूप से अपनी नीतियों पर कायम है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि भारत के अनेक राज्यों में जातीय सत्ता की वजह से प्रेम विवाह और अंतर्जातीय प्रेम विवाह के मामले में युवाओं को भयंकर दंड भुगतने पड़ते हैं, उनकी हत्याएँ कर दी जाती है या ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दी जाती हैं कि उन्हें आत्महत्या करने के लिए मजबूर कर दिया जाता है या मजबूर होना पड़ता है या दूर जाकर अपना पूरा जीवन गुमनामी में गुजारना पड़ता है।

'जस तस भय सवेर' उपन्यास इसी अंतर्जातीय विवाह के सवाल पर चिंतन करता है। शिवदास बैंक में नौकरी करता है तो सुमेंधा 'निर्धनता का दुष्चक्र' विषय पर शोध कार्य कर रही है। सुमेंधा उच्चजाति की है प्रारंभिक जान पहचान के बाद दोनों में प्रेम हिलोरे मारने लगता है और वे एक दूसरे के साथ जीवन बिताना चाहते हैं। प्रोफेसर देवेन्द्र दत्त को शिवदास की सामाजिक पहचान की जानकारी होने पर वह उसे सुमेंधा की जिन्दगी से दूर चले जाने को कहता है। "मोहोदय, तुम्हे सुमेंधा की जिंदगी बर्बाद करने का क्या अधिकार है? ...उस दिन तुम दो घंटे भर मेंरे साथ बात करते रहे परन्तु तुमने किंचित मात्र भी यह संकेत न दिया कि तुम शूद्र हो, नीच जाति के हो। केवल सरकारी नौकरी में आ जाने मात्र से ही किसी का सामाजिक स्तर उंचा नहीं उठ जाता। हम तो सनातनी हिन्दू है भई। वही सुमेंधा से तुम्हारी जाति के विषय में पता चला और मैं समझ गया कि तुम इन वर्ग की तरफदारी क्यों करते हो? ...अब सुमेंधा पर कड़ी नजर रखी जा रही है। मिलने का प्रयास मत करना जान से हाथ धो बैठोगे। उसे भूल जाओ, इसी में तुम्हारी और उसकी भलाई है। ...अंतर्जातीय विवाह

को हम भी बुरा नहीं मानते परन्तु वह अंतर्जातीय विवाह नहीं हैं। अंतर्जातीय विवाह का अर्थ है दो समान जातियों के युवक-युवती का विवाह। तुम नीच जाति के हो और सुमेंधा उच्च वर्गीय कुलीन कन्या है। इस प्रकार यह तो बहिर्जातीय विवाह हुआ। अरे, आप पढ़े-लिखे होकर भी इंटर मैरेज और आउटकास्ट मैरेज का अंतर नहीं समजते। ...सुमेंधा के लिए योग्य वर ढूंढा जा रहा है। ...विवाह अंतर्जातीय हो या बहिर्जातीय हम यह तभी स्वीकार करते हैं जब हमारा व समाज का हित हो ...हम ऐसे विवाह तभी पसंद करते है जब युवक अथवा युवती रुतबेदार पद पर हो अथवा अत्यंत धनाढ्य हो। तुम्हारे पास क्या है? प्रेम पुस्तकों में पढ़ने की वस्तु है। रुतबेदार अथवा धनाढ्य युवक युवती को अपने समाज में लाने से यह लाभ होता है कि अपना समाज और सशक्त हो जाता है और प्रतिद्वंद्वी समाज की क्रीम भी हमारे समाज में आ जाती है, तुम तो हमारे समाज के विरोधी हो और सुमेंधा तो अभी बच्ची है, बहकावे में आ गई थी। अपनी सीमाओं को पहचानों। शूद्रों को रोजगार क्या मिलने लगे? पैर की जूती पैर में ही अच्छी लगती है। कोई बहुत कीमती होने पर भी सीर पर धारण नहीं करता।"[1] उपर्युक्त बातचीत में एक उच्च शिक्षित प्रोफेसर की मानसिकता खुलकर सामने आई है। उनके लिए शूद्रों यानी दलितों-पिछड़ों की सामाजिक शिक्षा व सत्ता का कोई अर्थ नहीं है। उसका अपमान करते हुए वे मनु के जातीय विभाजन की पूर्ति करते नजर आते हैं। कहां बना है सभ्य और तार्किक समाज? जो अपने आप को सभ्य और तार्किक माननेवाले और विद्वान कहलानेवाले लोग है, जब उनमें जातीय सत्ता का इतना रौब और अभिमान है तो फिर जातीय सत्ताओं के जाल में उलझे अशिक्षित ग्रामीण समाज से सामाजिक बदलाव की अपेक्षा करना गलत है। ऐसी विद्वता से समाज को क्या लाभ मिल रहा है जो दूसरी जातियों के रुतबेदार पदों पर काबिज युवक-युवतियों को ढूंडती हुई मुंह मारती फिरती है। तब उनके लिए मनु विभाजन कही सामने नहीं आता। दूसरी जातियों की क्रीम को अपने दूध में मिलाकर पूरे समाज की पौष्टिकता को हडपने के इस मंतव्य को भी समझने की जरूरत हैं।

[1] जस तस भई सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 66-71

सावधान! एक साजिस जारी है, इसका शिकार होने से बचों। सही मायने में अंतर्जातीय विवाह होने से हम समाज में कायम उच्च-नीचता के दायरे को तोड़ सकते हैं। यहाँ भी तथाकथित बुद्धिजीवी और प्रतिभा संपन्न समाज केवल अपना ही स्वार्थ देखता है। हद तो उस वक्त हो जाती है जब शिक्षित युवकों को सवर्ण मानसिकता 'पैर की जूती' के रूप में परिभाषित करती है। जातीयता का यह तंत्र विभिन्न समतामूलक कानूनी प्रावधानों, बढ़ती शिक्षा, स्वतन्त्रता और रोजगार के बावजूद 21 वीं सदी में जटिल बना हुआ है।

बैजू और शामली के प्रेम में भी जाति आड़े आ जाती है। बैजू और श्यामली की घनिष्ट मित्रता तथा वह दोनों एक दूसरे से प्यार भी करते हैं। पर बैजू और श्यामली दोनों ही समाज के बनाए जाति रिवाजों को नहीं तोड़ पाते। श्यामली की शादी कही और हो जाती है, और बैजू शादी नहीं करता। श्यामली और बैजू दोनों ही समाज की जातीय दुश्मनी की क्रूरता को जानते समझते हैं। इस दुश्मनी का अनुभव उन्हें बचपन से ही हो गया था। इसके विपरीत विजेंद्र सिंह ('मिट्टी की सौगंध' उपन्यास) अपने सामन्ती परिवार से अलग मानवतावादी दृष्टिकोण रखता है। जो शीला, विजेंद्र सिंह के बाप ने ही बलात्कार कर के छोड़ दिया था। यह बात पता होते हुए भी विजेंद्र सिंह शीला को अपनी पत्नी स्वीकार करता है। शीला और विजेंद्र एक दूसरे से बेइन्तहा प्यार करते हैं। ऐसे लोग भी है समाज में जो मानवता के पक्ष में हैं जिनके कारण यह प्रेम विवाह अंततः सफल होता है। इसका अगला उदाहरण मराठी का उपन्यास 'दुभंग' में देख सकते है। 'दुभंग' में प्राकृतिक भूकंप के कारण पूरा गाँव तहस नहस हो गया था। उसमें सोपान के घरवाले तथा घर भी तहस नहस हो गया था। इसी तरह किसी-किसी के घर में एखाद लोग ही बचे थे, उसमें सोपान भी था। सोपान अपना दूसरा विवाह एक ऐसी लड़की से करता है जो जाती से बंजारा (आदिवासी) है और वह मराठा। सोपान-सुमन का घर बस जाता है। लेखक इस उपन्यास के माध्यम से यह बताना चाहते है कि प्रकृति के सामने सब बराबर के है। जिसमें जाति है न धर्म

सब बराबर है। सोपान सुमन से विवाह करके समाज के सामने एक नया आदर्श रखता है। अंतर्जातीय विवाह हो या प्रेम विवाह करने वालों के सामने इस सामन्तवादी समाज से बड़ा खतरा है क्योंकि ये अपने पूर्वाग्रह युक्त मानसिकता से बाहर निकलना ही नहीं चाहते। इस तरह से मराठी और हिंदी दोनों उपन्यासों में अंतर्जातीय विवाह का कही समर्थन देखते हैं तो कही नकार। पर ज्यादा तर नकार ही देखने को मिलता है।

2. 2 सत्ता एवं राजनीति से प्रतिरोध का स्वर

2. 2.1 सत्ता से सामना और राजनीतिक सोच

समाज के विभिन्न आयामों से सत्ता और राजनीति का विश्लेषण कठिन है। न केवल इसलिए कि सत्ता का प्रभाव अप्रकट तथा स्पष्ट दोनों प्रकार से होता है बल्कि इसलिए भी कि राजनीति कई स्तरों पर चलती है। विभिन्न संगटनों में गद्दी के लिए चलनेवाली लड़ाईयों से लेकर आस-पड़ोस या प्रेम और इर्षा के प्रगाड़ संबंधों तक। सत्ता अर्थात् अपनी इच्छानुसार दूसरों को नियंत्रित कर पाने की क्षमता, औपचारिक भी हो सकती है और अनौपचारिक भी। जब कि पारम्पारिक मान्यता और रीति-रिवाजों अथवा आधुनिक फैशन उद्योग का प्रभाव सत्ता के अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तरीकों का उदाहरण है, किसी अधिकारी अथवा तानाशाह का प्राधिकार औपचारिक और संस्थागत ताकत को दर्शाता है। वस्तुतः संस्थागत ताकत के भी अनेक रूप होते हैं यह राज्य तथा गैर राजनीतिक संगठनों, दोनों ही के माध्यम से अनेक रूपों में कार्य करती है। सत्ता भिन्न तरीके से संचालित होती है और इसका संचालन समाज के अस्पष्ट स्तर के माध्यम से साथ ही प्रधान विचारधाराओं के माध्यम से भी होता है जो ऐसे मूल्य और विश्वासों को उत्प्रेरित करती है जो सत्तारूढ़ वर्ग के हितों के अनुकूल हो। दूसरी ओर जनता के पास संख्या का बल होता है और शोषक को चुनौती देता है।

आज से एकसौ पचास साल पूर्व शाहूजी महाराज भी दलित पिछड़ों का न केवल सामाजिक और आर्थिक उत्थान चाहते थे बल्कि वे सत्ता और शासन में भी भागीदारी दिलाना चाहते थे। पिछड़ी जाति को विधि मंडलों में प्रतिनिधित्व दिलाने के लिए उन्होंने साउथबरो कमीशन के समक्ष अपना पक्ष रखा, जो एक मिसाल है। छत्रपति शाहूजी महाराज ने अपने एक सहयोगी तथा सत्यशोधक समाज के मिशनरी कार्यकर्ता भास्करराव जाधव को साऊथबरो कमीशन के समक्ष भेजकर पिछड़ी जाति के लोगों के लिए विधिमंडल में प्रतिनिधित्व की मांग की। डॉ. बाबासाहब आम्बेडकर

ने भी शाहू जी से प्रेरणा लेकर कमीशन से अछूतों के लिए प्रतिनिधित्व की मांग की, ताकि वे अपने हक्क और आजादी के लिए आवाज उठा सके। लेकिन बाल गंगाधर तिलक ने शाहू महाराज के इस प्रस्ताव का जोरदार विरोध किया तथा दलित पिछड़ों को ब्राह्मणों का गुलाम बनाए रखना उन्हें पसंद था। 11 नवम्बर 1917 में कोल्हापुर से सटे अथनी गाँव में उन्होंने एक सम्मेलन में कहा था कि- "तेली तमोली और कुणबी (कुर्मी) को संसद में जाकर क्या हल चलाना है? क्या संसद खेत है जहाँ हल चलाया जाएगा? कौंशिल में जाकर क्या दर्जी सिलाई मशीन चलाएगा और बनिया नाप-तौल का कार्य करेगा?"[1]

दूसरे शब्दों में तिलक के अनुसार दलित-पिछड़ी जातियों को खानदानी पेशा ही करना चाहिए संसद में प्रतिनिधित्व नहीं। तिलक के इस भाषण की शाहूजी ने 15 अप्रेल, 1920 को नाशिक में आलोचना करते हुए कहा था उन्हें ऐसे वक्तव्य पर शर्म करनी चाहिए। इस प्रकार अनेक अवरोधों के बावजूद शाहूजी ने दलित-पिछड़ों के आजादी के अभियान को जारी रखा।

छत्रपति शाहूजी के बाद डॉ. बाबासाहब आम्बेडकर का जो दलितों में सन्मान है इसके पीछे के कारण को समझना मुश्किल नहीं है। दलित समाज आम्बेडकर को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में देखते हैं जिसने अपने जीवन का हर क्षण उनकी मुक्ति के विषय में चिंतन और संघर्ष करते-करते जीवन समर्पित कर दिया। जिसने उनके मकसद के बचाव में सत्ता की ताकत से लोहा लिया, जिसने अपने जीवन की सभी सुख सुविधाओं को, जो कि उनकी पहुँच के अन्दर थी, दलितों के पक्ष में रहने के खातिर त्याग दिया, जिसने बहुत सारी बाधाओं के बावजूद ऊँचाइयों से ऊँचे उठकर जाति पर आधारित श्रेष्ठता के सिद्धांत को समग्रता से ख़ारिज किया। जिसने उनके भविष्य के रास्ते को प्रकाशमान करने के लिए मशाल थामी और आगे बढें। दरअसल, पीड़ाओं के हजारों साल के इतिहास में केवल चंद व्यक्ति ही ऐसे रहे जिन्होंने दलितों

[1] छत्रपति शाहूजी महाराज : सामाजिक लोकतंत्र के भिमस्तन्भ - डॉ. विजय कुमार त्रिशरण - पृ.सं. 20

को इंसानों की तरह देखा और उनके साथ बराबरी का व्यवहार किया। यह आम तौर पर देखने में आता है कि गाँव में विनम्र भूमिहीन मजदूर से लेकर सत्ता के गलियारों में ऊँचे पदों पर बैठे नौकरशाहों तक सभी भावनात्मक रूप से अपने सब कुछ को उनसे जोड़कर देखते हैं। वे सभी यह विश्वास करते है यदि डॉ. आम्बेडकर नहीं होते तो आज भी वह अपने बाप-दादा की तरह जी रहे होते। इसलिए डॉ. आम्बेडकर का उद्देश्य दलितों की संपूर्ण दासता से मुक्ति का था।

इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने सिद्धांत भी बनाए। अपने इस प्रयास के अंतर्गत उन्होंने एक राजैतिक दल बनाया 1936 में, जिसका नाम था 'स्वतंत्र श्रमिक पार्टी' तथा दूसरा कार्य 'अनुसूचित जाति संघ' की स्थापना 1942 में की गई। उनका मुख्य उद्देश्य यह था कि दलित शक्ति राजनीति में भाग ले जो उनके विश्वास के लिए अति आवश्यक है। उन्होंने अपने द्वारा स्थापित संघ के बारे में कहा था कि- "मैं निश्चित रूप से इस मत का हूँ कि इस देश में राजनीतिक अधिकार हिन्दूओं के साथ-साथ दलित हिन्दूओं में भी बाँटे गए निम्न वर्गीय लोगों को भी वैधानिक रूप से उनके सही अधिकार देश की सरकार में मिलना चाहिए। सभी दलितों को एक साथ एक झंडे के नीचे आना होगा। अगर ऐसा हो पाया तो मुझे इसमें कोई शक नहीं है कि तुमको इस स्थिति तक पहुँचने में कोई परेशानी होगी, जिसके तुम अधिकारी हो।"[1] अनुसूचित जातीय संघ के उद्देश्य के प्रति उन्होंने कहा था कि भारत के राष्ट्रीय जीवन में अनुसूचित जातियों को अपनी आवश्यकताओं, अपनी संख्या, अपने महत्त्व के कारण भी एक प्रथक तथा अलग तत्व की उपलब्धि के लिए राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति हो जिसके वे अधिकारी है। दलित आन्दोलन को एक वास्तविक स्वरूप स्वतन्त्रता के पश्चात प्राप्त हुआ, जब डॉ. बाबासाहब आम्बेडकर स्वतंत्र भारत के पहले मंत्रिमंडल में विधिमंत्री बने, जिसके प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू थे। डॉ. आम्बेडकर को संविधान निर्मिति का अध्यक्ष चुना गया। 29 अगस्त,

[1] दलितों का इतिहास - डॉ. मुकेश भूषण पृ.सं - 145

1947 को इस समिति ने संविधान की रूपरेखा प्रस्तुत की। जिसे 29 नवम्बर, 1949 को स्वीकृति मिली। यह संविधान 26 जनवरी, 1949 को लागू हो गया। इस संविधान में दलितों के समस्त अधिकारों का प्रावधान किया गया। समस्त प्राप्त अधिकार दलितों के 100 वर्ष पूर्व से चले आ रहे प्रयासों और आन्दोलन का प्रतिफल थे। जिसमें आंबेडकर का विशेष योगदान रहा।

डॉ. आम्बेडकर का अंतिम प्रयास दलितों को एक साथ करना था। उन्होंने अपनी इस सोच को एक नई राजनीतिक पार्टी के रूप में प्रस्तुत किया। उनकी नई पार्टी का नाम 'पीपुल्स डेमोक्रटिक पार्टी' रखा गया। बाद में इसका नाम बदलकर 'रिपब्लिकन पार्टी आफ इंडिया' रखा गया। उन्होंने इस पार्टी का एजेंडा बनाया और अनुसूचित जाति से जुड़े समस्त नेताओं को उसकी प्रतियाँ वितरित की। जिसका उद्देश्य दलितों के हितों की रक्षा एवं बचाव करना था। आदिवासी, अन्य वर्ग, किसानों, श्रमिकों के साथ कई नेता इस पार्टी से जुड़े। महाराष्ट्र के साथ कई राज्यों में पार्टी स्थापित हो गई। उनके सदस्य राज्यसभा तथा लोकसभा में पहुँच गए। इसके बाद यह दल कई बार टुटा। तथा पुनः संगठित हुआ। ख्याति प्राप्त नेता इधर से उधर आ गए। कई प्रान्तों में यह दल टुकड़ों में विभक्त हो गया। यह पार्टी संगठित और सदृड नहीं रह पाई; यह स्थिति अल्प साधनों एवं अल्प समर्थकों के कारण आयी। दलितों में यह रुकावट महान हानिकारक सिद्ध हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि आज समस्त भारत के विभिन्न प्रान्तों में दलितों के साथ विभिन्न प्रकार के अत्याचार होते हैं। उसका मुख्य कारण अनुसूचित जाति और जनजाति अपने संविधानिक अधिकारों के प्रति अनभिज्ञ, निरक्षर और बहुत से पूर्वग्रह से पीड़ित है। दलितों के उदय एवं विकास के संबंध में राज्य सरकार द्वारा कई प्रकार की कमिटियाँ एवं जांच आयोग बनाए गए हैं जिस से उनका जीवन स्वच्छ एवं आदर्शमय बन सके।

उपर्युक्त बातें कहने का तात्पर्य यह रहा है कि दलित राजनीति शुरू में जिस मकसद के लिए कार्य कर रही थी आज कहां आकर पहुँच गई। डॉ. आंबेडकर के निधन

के पश्चात दलित आन्दोलन का पतन होते देखा गया। जहाँ तक आज की दलित राजनीति का सवाल है। 'नरवानर' उपन्यास में मिलिंद कहता है- "बाबासाहब आम्बेडकर के निधन के बाद दलितों का कोई पालनहार नहीं रहा। घर का मुखियाँ चल बसने पर घर की जो बुरी हालत हो जाती है वैसी दशा हमारे समाज की हो गई है। हमारे नेताओं को सत्ताधारी पक्ष ने खरीद लिया है। उनकी आवाज ही गायब हो गई। वे स्वार्थ और समझौतों में खोए हुए हैं। उनके पास पुर्सद नहीं है कि आम आदमी की परेशानी को देखे। स्वाधीन होने पर भी हम पर अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लडनेवाला सशक्त संगठन नहीं है।"[1] डॉ आम्बेडकर के पश्चात् सब दलित नेता खोखले बन गए। समाज की उन्हें कोई चिंता नहीं। अब दलित नेता अपने ही समाज को बेचकर खा रहे है। इसलिए आज का एक दलित कार्यकर्ता कहता है- "हमारे नेताओं ने रिपब्लिकन पक्ष का सत्यानाश कर दिया है। बाबासाहब के पक्ष को उन्होंने बेच खाया है सारे समाज को कांग्रेस की नाक ने बाँध दिया है।" हमारे नेता बस बाबासाहब के नाम पर जी रहे है। उनके पास बाबासाहब जैसा त्याग है न ऊँचाई। रिपब्लिकन पक्ष में फुट डालने वाले आम्बेडकर के द्रोहियों को सबक सिखाना ही होगा। इसलिए पैंथर की ताकत को बढ़ाना ही होगा। पैंथर ही नया नेत्रत्व दे सकेगा।"[2] युवा वर्ग के कारण जिस तरह से समाज बिखर गया उसको सही राह दिखाने के लिए सन् 1972 में दलित पैंथर की सथापना की गई थी। पर दलित राजनीति बाबासाहब के बाद इतने नीचे स्तर पर क्यों आयी इसके कारण बताते हुए गोपेश्वर सिंह कहते हैं- "दलित राजनीति की बड़ी समस्या दलित और पिछ़ड़े वर्ग के नेताओं में बहूआयामी और दूरगामी राजनीतिक दृष्टि का अभाव है। इसके कारण उनमें एकता की जहग टकराव और संघर्ष की स्थिति है। दलितों और पिछडो में जो जागरण आया उससे सत्ता में भागीदारी की भूख तीव्र हुई उनका आपसी वैमनस्य बढ़ता गया। पिछ़ड़ों से उनके टकराव ने और सत्ता की भूख से उपजे अवसरवाद ने

---

[1] नरवानर - शरण कुमार लिम्बाले - पृ.सं. 25
[2] नरवानर - शरण कुमार लिम्बाले - पृ.सं. 49

दलित नेत्रत्व को उन सामन्ती और ब्राह्मणवादी शक्तियों से गठजोड़ के लिए प्रवृत किया जिनके विरुद्ध संगर्ष के लिए जन्म हुआ था इसका सबसे रोचक उदाहरण उत्तर प्रदेश में बहूजन समाज पार्टी का भाजपा और कांग्रेस से गठजोड़ था और हाल ही में उनके द्वारा संपन्न ब्राह्मण सम्मेलन है। जिसमें अपने चुनाव चिन्न हाथी की नई व्याख्या दलित नेताओं ने प्रस्तुत की : हाथी नहीं गणेश है, ब्रम्हा-विष्णू महेश है। यह ब्राह्मणवाद के समक्ष दलित राजनीति का समर्पण है, अन्ततः उसकी धार को ही कमजोर करेगा।"[1]

विघटन का जो दौर एकबार शुरू हुआ वह दलित पैंथर के जन्म तक बे रोक टोक जारी रहा। दलित राजनीतिक आन्दोलन में दलित पैंथर की छाप वाले विशिष्ट प्रतिमान में बदलाव के विविध स्पष्टीकरण हो सकते हैं। अनोखे तरीके से ये चुनौती से भरी लड़ाकू भाषा बोलते थे जिस से आन्दोलन पैदा हुआ। इस हलचल ने देश में स्थापित व्यवस्था की बुनियाद को हिलाकर रख दिया और संक्षेप में यह दर्शाया की सताए हुए आदमी का आक्रोश क्या हो सकता है। इससे दलित राजनीति को मूल्यवान अंतरदृष्टि प्रदान की जो की पहले बुरी तरह से छुटी हुई थी। अपने घोषणा पत्र पर अमल करते हुए दलित पैंथर ने दलित आन्दोलन के लिए राजनैतिक मुकाम के खातिर परिवर्तनकामी नई जमीन छोड़ी। उन्होंने दलितों को परिवर्तनकामी वर्ग की पहचान प्रदान की और उनके संघर्ष को पूरी दुनिया के अन्य सभी दलित लोगों के संघर्ष के साथ जोड़ दिया। इतनी बड़ी राजनीतिक पार्टी आर.पी.आय. (रिपब्लिकन पार्टी आफ इण्डिया) होते हुए भी दलित पैंथर जैसे संगठन का उदय क्यों हुआ? इसके कारण को बताते हुए डॉ. आनंद तेलतुम्बडे बताते हैं- "दलित पैंथर के उदय के पीछे कुछ ठोस कारण थे जैसे किसी भी घटना या प्रसंग के पीछे कोई न कोई कारण होता है। 1960 के अंतिम हिस्से में अम्बेडकरी आन्दोलन के युवा बड़ी संख्या में विश्वविद्यालयों से निकलकर आना शुरू हो गए थे। और उनके सामने खाली भविष्य

[1] दलित राजनीति की संमस्या - सं. राजकिशोर - पृ.सं. 104

घुर रहा था। उनके लिए बहूप्रचारित संविधानिक प्रावधान मृगमरीचिका सिद्ध हुए थे। उनका राजनैतिक वाहन संसदवाद के कीचड़ के अन्दर घहरे धसते जा रहा था। इस ने जनता की वास्तविक समस्याओं को देखना बंद किया था।"[1] जब तक आम जनता की समस्याओं पर संघर्ष नहीं किया जाएगा तब तक जनता का समर्थन नहीं मिलेगा। यह संगठन खाली बैठे नौजवानों के लिए टाईमपास का साधन बन जाएगा। संगठन को मजबूत करने के लिए लोगों की समस्याओं को खोजना होगा। काम नहीं होगा तो कार्यकर्ता भी नहीं रहेंगे और संगठन लड़खड़ा जाएगा।

भारतीय दलित पैंथर के कार्यकर्ताओं ने गाँव-गाँव जाकर संगठन को मजबूत बनाया और संगठन को मजबूत बनाने के लिए सबको प्रवेश दिया। इससे संगठन में अवसरवादियों की तादात भी बढ़ गई, अपराधिक तत्व भी संगठन में घुस गए। अपराधी लोग पैंथर में काम करने लगे इससे पुलिस की ओर से होनेवाली परेशानी कम हुई। ऐसे कार्यकर्ता पान के ठेलेवालों, रिक्षावालों, झाड़ूवालों आदि से हफ्ते वसूलने लगे। पुलिस भी हफ्ता मांगती और पैंथरवाले भी मांगते। इससे दोन्हों में अनबन होने लगी और पुलिस इन कार्यकर्ताओं को तड़ीपार करती रही। इस संदर्भ में दयानंद समाचार पत्र में लंबा लेख लिखा है कि- "सामाजिक संगठन गुंडों के अड्डे बन गए हैं। अपराधिक तत्वों ने संगठनों पर कब्जा कर लिया है। दो अपराधिक गुटों जैसी लड़ाई चल रही है। सामाजिक नाम पर कार्यकर्ता काले धंधे कर रहे है। और यह धंधे करते समय महापुरुषों के नाम लिए जाते हैं। अपने स्वार्थ के लिए महापुरुषों का इस्तमाल किया जा रहा है। संगठन इमानदार आदमी का लहू चुसनेवाला जोंक बन गया है।"[2] दयानंद के इस वक्तव्य से एक बात स्पष्ट होती है कि दलित राजनीति कैसे बिखर गई। जो सपना बाबासाहब ने देखा था वह तो पूर्ण नहीं हो पाया लेकिन सामाजिक बिखराव आपसी मतभेद स्वार्थी मानसिकता आदि दलित कार्यकर्ताओं में पनपने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि सवर्ण समाज इसका फायदा उठाने लगा।

---

[1] उत्तर आम्बेडकर संमय में दलित आन्दोलन - डॉ. आनन्द तेलतुम्बडे - पृ.सं.-18

[2] नरवानर - शरणकुमार लिम्बाले - पृ.सं. 62

2.2 दलित राजनीति को अपना नजरिया बदलना होगा

दलित राजनीति के समक्ष दलित नेतृत्व का निषेधवादी रवैया आत्मघाती कदम साबित हो रहा है। दलित नेत्रत्व ने दलितों के आधिकारों के लिए संघर्ष करनेवाले सामाजिक बौद्धिक नेताओं, कार्यकर्ताओं को मनुवादी, ब्राह्मणवादी कहकर इतना अपमानित किया कि उनकी सक्रियता कम होकर उदासीनता में बदलने लगी इस से दलित आन्दोलन की धार संकीर्ण हुई और दलित मुक्ति का प्रश्न सिर्फ दलितों का प्रश्न बन गया। दलित नेताओं का अपना स्वार्थ था। स्वार्थ नेत्रत्व अपनी सुविधाएँ बटोरने का तथा प्रगतिशील गैर दलित और चेतनशील दलित के बीच दूरियाँ बढ़ाकर दलित नेताओं ने भले अपना स्वार्थ साध लिया हो लेकिन उस से दलित का ही नुकसान हुआ। इस संदर्भ में गेल ओमवेट का मानना है कि- “दलित आन्दोलन जो पहले पूर्व अछूत जातियों पर आधारित था, अब कही दक्षिणी तथा तटीय क्षेत्रों की गैर ब्राह्मण जातियों को शामिल कर और भी व्यापक रूप ले रहा है। हाल के वर्षों में इसने इस विचारधारा की चुनौती को हिन्दू धर्म के विरुद्ध में बड़ी मजबूती से प्रस्तुत किया है। वास्तव में हिन्दू धर्म के वर्चस्व तथा तार्किकता को चुनौती देने की प्रेरणा दलित राजनीति के बुनियाद में ही है।”[1] इनका मानना है कि दलित राजनीति को सशक्त बनाने के लिए हिंदुत्व की विचारधारा को समझना होगा उनको शामिल कर नेत्रत्व में विस्तार करना होगा। पर इन सबके बावजूद भी दलित समाज को सवर्णों की राजनीतिक दांव पेच का शिकार बनाया जाता है। ‘नरवानर’ उपन्यास में इश्वर इंगले जैसे व्यक्ति को गोली मार कर हत्या कर दी जाती है क्योंकि चुनाव में हारे हिन्दू राजनीतिक दांव बनाकर उसकी हत्या करते हैं। “इश्वर इंगले आपने आँगन में खड़ा था गोली चलने की आवाज आई। एक के बाद एक गोलियां दागी गई। पल भर में इंगले का शरीर छिन्न-भिन्न होकर गिर पड़ा। गोलियों से उसके शरीर को छलनी

[1] दलित दृष्टि - गेल ओमवेट - पृ.सं. 16

बना दिया गया। हत्यारे भाग खड़े हुए।"[1] इसी तरह गोपीचंद और मानिकचंद का शिकार तात्या कांबले बनता है (हिन्दू उपन्यास)। ऐसी घटनाओं पर हमारे कार्यकर्ता किस तरह चुप्पी साधे हुए है उसको हम देख सकते हैं- "मैं जीवित हूँ कि मृत? मैं कार्यकर्ता हूँ कि नंपुसक? तात्या कांबले की हत्या होने के बावजूद मैं इतना शांत कैसे हूँ? मैं उन नंगी तलवारों को देखकर भयभीत क्यों हुआ।"[2] इस भय के कारण को स्पष्ट करते हुए चंद्रकांत अभोरे- "भय के कारण इकट्टे आने का अर्थ है दीर्घकाल तक हिंसा की शरण में चले जाना।"[3] इस भय का दलित कार्यकर्ताओं को सामना करना होगा तभी दलितों को पूर्णतः राजनीतिक आजादी मिलेगी।

राजनीतिक आधिकार मिलने के बाद कोई दलित व्यक्ति उस आधिकार को पूर्णतः प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि उसमें भी सवर्णों की अलग राजनीति होती है। उनके दिखाने के दांत अलग और खाने के दांत अलग होते हैं। इसका उदाहरण 'जस तस भय सवेर' उपन्यास में चौधरी देविपाल के भाषण से पता चलता है यथा- "आज का दिन संपूर्ण राष्ट्र के लिए पर्व है। मैं इस अवसर पर बधाई देता हूँ। मुझे बेहद ख़ुशी है कि इस कार्यक्रम की अध्यक्षता एक दलित व्यक्ति मंगल पहलवानजी कर रहे हैं। हमें सबको साथ लेकर चलना है तभी राष्ट्र का भला तथा समाज का भला हो सकता है। मैं जाति-पाती का घोर विरोधी हूँ परन्तु दुर्भाग्यवश इन दिनों देश में ऐसी ताकते सिर उठा रही है जो समाज का विघटन करना चाहती है। उन्हें हमारी एकता फूटी आँख नहीं सुहा रही है। ये ताकते हरिजन एक्ट का दुरूपयोग कर रही है। आज हरिजन एक्ट के माध्यम से शरीफ और इज्जददार लोगों की इज्जत पर दिन दहाड़े और बड़ी ही बेशर्मी से डाका डाल रहे हैं। हमें ऐसी ताकतों से न केवल सावधान ही नहीं रहना है बल्कि हरिजन एक्ट के दुरूपयोग को रोकने के लिए आन्दोलन छेड़ना होगा। हम हरिजनों के खिलाफ नहीं है। परन्तु हरिजन एक्ट के कारण समाज में

[1] नरवानर - शरण कुमार लिम्बाले - पृ.सं. 66-67
[2] हिन्दू - शरण कुमार लिम्बाले - पृ.सं. 23
[3] हिन्दू - शरण कुमार लिम्बाले - पृ.सं. 24

भेदभाव और दुश्मनी बढ़ती जा रही है। देश जातियों में बटता जा रहा है जब कि हरिजन एक्ट से पूर्ण भेदभाव समाप्त हो गया था। तो साथियों इसके लिए हमें नया स्वतंत्र आन्दोलन छेड़ना होगा। और इसके लिए बड़े से बड़े त्याग के लिए भी तत्पर रहना होगा। आगे आप समजदार है साथियों। मैं अपनी बात यही समाप्त करता हूँ।"[1] एक तरफ इनका यह कहना है कि जात पात में मेंरा विश्वास नहीं है और देश में हरिजन एक्ट के आने से पहले ही भेदभाव समाप्त हो गया। तो दूसरी तरफ यह भी कहते है कि हमें बड़े से बड़े त्याग के लिए भी तत्पर रहना है।

इस तरह दलितों को राजनीति में आने पर भी अपने अधिकार पाने नहीं देते। इस कारण दलितों को विद्रोह करना पड़ता है। कायरों की तरह जीना छोड़कर अपने अधिकार हासिल करने के लिए लड़ने की जरूरत है- "तुम सब कायर हो। तुम्हारे साथ यहाँ कितना अन्याय होता है। पर तुम लोग जाने कौनसी धातु के बने हुए हो कि सब कुछ चुपचाप सहते रहते हो। आखिर तुम भी आदमी हो। अन्याय और शोषण के विरुद्ध आवाज उठाना तुम्हारा मौलिक अधिकार है। तुम यदि आपने अधिकारों के लिए लड़ते हो तो कोई गुन्हा नहीं करते। इसलिए एकजुट हो जाओं और संघर्ष करों, तुम्हारी जीत होगी। आखिरकार ये कोशिश करनेवाले लोग कितने है- मुट्ठीभर। और तुम्हारी तादात जानते हो कितनी है इनसे कई गुणा। किन्तु फिर भी इनके इशारे पर नाचते हो। तुम्हें लालत आनी चाहिए खुदपर।"[2] यहाँ लेखक अपने समाज को एक होकर जीने की राह बताते हैं। दलित राजनीति में फैले सन्नाटे को निकालने के लिए एकता की जरूरत है। बाबासाहब के पश्चात हमें ऐसा नेत्रत्व मिला नहीं उस नेत्रत्व की जरूरत है। तभी दलित राजनीति अपने समाज को न्याय दिला पाएगी। यही दलित राजनीति का मूल मन्त्र है। तभी दलित समाज का स्वप्न पूरा होगा।

---

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 96

[2] करुणा - जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं. 48

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हिंदी और मराठी दोनों भाषाओं के दलित उपन्यासों में सवर्णों के राजनीतिक दाव पेंच का शिकार दलित समाज होता रहा है। इसके पीछे के कारण अनेक हो सकते हैं जैसे राजनीति में अनुभव की कमी, आर्थिक रूप से दूसरों पर निर्भर। इस से दलितों को कई समस्याओं का सामना करना पड़ा है। इस कारण दलित राजनीति जितनी सफल होनी चाहिए थी उतनी हो नहीं पाई। इस के लिए हमें नया कुछ करने की जरूरत है वह है चुनाव का बहिष्कार तभी पता चलेगा दलित समाज का महत्व, इसलिए शरणकुमार लिम्बाले कहते हैं- "जनतंत्र से दलितों को राजनीतिक महत्त्व प्राप्त हुआ। दलितों को बहिष्कार के कारण अपने मतों की ताकत का पता चल गया। राजकीय पक्षों को भी पता चल गया की हर बार हर समय दलितों के मतों को ख़रीदा नहीं जा सकता।"[1] इसका तात्पर्य यह है कि तुम बिकाऊ मत बनों, अपने आप राजनीतिक सत्ता तुम्हारे पास चलकर आएगी। और यह शक्ति बाबासाहब ने हर एक के पास दी है इसका तुम सही समय पर उपयोग करो।

[1] नरवानर - शरण कुमार लिम्बाले - पृ.सं. 66

2.2.3 आज के राजनीतिक दौर में सामाजिक प्रश्न और मीडिया में दलितों की भूमिका

रमणिका गुप्ता के अनुसार- "दलित मीडिया दलित चेतना का प्रसारक है। दलित साहित्य के साथ-साथ बाबासाहब ने मीडिया को भी एक हथियार के रूप में अपनाया और अपनी पत्रिका तथा अखबार शुरू किया था। अनेक दलित लेखकों ने ऐसी दलित पत्रिकाओं का बहिष्कार ही नहीं किया बल्कि ऐसी पत्रिकाओं को जलाया भी जिन्होंने दलित लेखकों की या उनकी रचनाओं की उपेक्षा की। बाबासाहब ने दूसरे अखबारों में भी लिखा उन्होंने छोटी बड़ी पुस्तिकाएं लिखकर दलितों को जागरूक करने के अतिरिक्त पूरे भारतीय समाज को इस अमानवीय सामाजिक व्यवस्था से अवगत कराया जिसे उनके अनुयायियों ने भी जारी रखा। बाबासाहब की इस मुहीम ने कई लेखक पैदा किए जो अपनी लेखनी से दलित आन्दोलन को पुष्ट करने लगे।"[1]

इस तरह बाबासाहब के विचारों को मध्यनजर रखते हुए भारतीय समाज में सभी वर्गों के लिए न्याय और प्रतिनिधित्व का सवाल एक बहुत बड़ा मुद्दा है। इसके लिए समयानुसार अनेक लोगों, विद्वानों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने आवाज उठाकर स्थापित मानसिकता के सामने एक चुनौती पेश की और अपने इंसानी अधिकारों की मांग की। समाज का एक वर्ग क्यों अपमान सहे और एक वर्ग क्यों सन्मान पाए? इसके लिए हमने जातिगत धारणाएँ गढ़ी हुई है। कौन बहूसंख्यक है और कौन अल्पसंख्यक और किसको कितना मिलना चाहिए और कितना मिल रहा है? एक सवाल यह है कि जिस राजनैतिक सत्ता को समता मुलक समाज की संरचना के लिए अपने स्तर पर जो कार्य करने चाहिए थे, जो कार्य प्रणाली विकसित करनी चाहिए थी, वह न हो पाई है जिसकी वजह से आज समाज में प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर गहरे मतभेत कायम है। संपन्न वर्ग कहता है कि विपन्न एवं कमजोर वर्ग को मिलने से मेंरा परम्परागत अधिकार छीन जाएगा। और अयोग्य व दक्षता रहित लोग शासन

---

[1] दलित लेखन के अन्तर्विरोध - सं. डॉ. रामकली संर्राफ - पृ.सं. 87

प्रशासन और प्रबंध में आ जाएंगे। विपन्न वर्ग समझता है कि संपन्न वर्ग ने ही सदियों से सारे साधनों-संसाधनों, जमीन जायजाद, नौकरियों पर एकाधिकार कायम किया हुआ है और हमारा हिस्सा यही खा जा रहा है, इसलिए हमारा हिस्सा दिए जाने के लिए कानून बनने चाहिए। हम भी योग्य दक्ष है, और हमें प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। साहित्य जनमानस को जागरूक व संवेदनशील बनाने के लिए ऐसे विषयों को उठाता है जिससे समाज में चेतना का विस्तार हो। 'जस तस भय सवेर' उपन्यास प्रतिनिधित्व के इन्हीं प्रश्नों से टकराता है और हमें नई बहस की तरफ अग्रसर करता है। मण्डल कमिशन की रिपोर्ट अन्य पिछड़ा वर्ग को शिक्षा व सेवाओं में प्रतिनिधित्व प्रदान करने हेतु आई थी। 'आरक्षण पर राष्ट्रीय बहस होनी चाहिए' नामक मुद्दे पर मीडिया यानी सुविधा भोगी समाज द्वारा की जा रही रिपोर्टिंग में आरक्षण को अयोग्यता, राष्ट्रीय क्षति व सामाजिक तनाव व लांछन विषय बनाकर पेश किया जा रहा था और युवाओं में हिंसक उत्तेजना पैदा की जा रही थी। यही नहीं इस पूरे मामले को आरक्षण बनाव आत्मदाह बनाकर पेश किया गया जिससे देश में कई राज्यों में आराजकता फ़ैल गई। ऐसी अराजकता को रोकने के लिए एक साक्षात्कार में डॉ. एन सिंह के सवाल का जवाब देते बलवंत सिंह कहते हैं- "दलित उत्पीड़न रोकने लिए एक तो हमें दलित मीडिया की स्थापना करनी होगी। दलितों में बहुत से लोग धनवान है; उन्हें अखबार, पत्रिकाएँ और टी.वी. चैनल स्थापित करने होंगे।"[1]

इसी उपन्यास में राष्ट्रीय बहस के सवाल पर एक सांसद कहती हैं- "शोषण व्यवस्था परिवर्तन हेतु प्रयासरत लोगों का राष्ट्रीय बहस के नाम पर दमन और हनन द्वारा मुंह बंद कर दिया जाता है। राष्ट्रीय बहस सदैव व्यस्थ मानसिकता में ही संभव है जिसका हमारे यहाँ नितांत अभाव है और अभी तक जो नियम विनिमय विधि एवं विधाएँ बनाए गए और लागू भी किए गए क्या उनके संबंध में राष्ट्रीय बहस हुई

[1] हंस - सं.राजेन्द्र यादव - अगस्त 2004, पृ.सं. 227

थी।"[1] विवादास्पद कानून बताकर मंडल आयोग को लागू करने के खिलाफ उत्तर भारत में आत्मदाहों का एक विशेष मकसद था। इसके पीछे साजिश थी क्योंकि एक तरफ धर्माश्रित राजनीति थी तो दूसरी तरफ सामाजिक न्याय की राजनीति। ऐसी स्थिति में अयोध्या राजनीति का केंद्र बनता जा रहा था और इसे यह भय सताने लगा था कि कहीं आरक्षण का मुद्दा निर्विवाद रूप से आगे चला गया तो हमारे मुद्दे का क्या होगा? ठीक इसी वक्त रथ यात्राओं का दौर प्रारंभ हो गया आरक्षण और न्याय के लिए एक जुट हो रहे लोगों को उनके अधिकारों के मुद्दे से भटकाकर वे हिन्दू और मंदिर के संवेदनशील मुद्दे की तरफ मोड़ने की योजना में जूट गए। आरक्षण को विवादित विषय बनाने की साजिश और बहस करने की योजना पर उपन्यास चिंतन करता है- "कोई विधि स्वयं में विवादास्पद नहीं होती उसे बुद्धिबल से विवादास्पद बना दिया जाता है और कौनसे कानून को विवादास्पद बताया नहीं गया। कौनसे कानून को हमने सर्वसम्मति से अपनाया। बहूविवाह प्रथा व सती प्रथा समाप्ति, बाल विवाह निषेद, विधवा पुनर्विवाह, अस्पृश्यता उन्मूलन तथा अवर्णों एवं स्त्रियों को शिक्षा, समानता जैसे अन्य अधिकार प्राप्ति संबंधी विधियों को भी तब तक सर्व सम्मति से स्वीकार नहीं किया गया जब तक कि विधि द्वारा दंडनीय अपराध नहीं घोषित कर दिया गया। इस से पूर्व इन विधियों का जमकर विरोध किया गया और भयंकर उत्पाद मचाया गया। प्रत्येक युग में प्रत्येक समाज में विधि क्रियान्वय के पीछे विधि की दंडात्मक शक्ति कार्य करती रही है। अरे बंधू यह तो वह देश हैं यहाँ के कुछ निश्चित वर्ग के लोगों ने अपने स्वार्थवश स्वतन्त्रता संग्राम का भी विरोध किया था। क्योंकि उनके हित विदेशियों के संरक्षण में फल फूल रहे थे और मजेदार बात यह है कि वही आज स्वतन्त्रता का सर्वाधिक लाभ उठा रहे हैं।"[2] इस मामले में देश के प्रसार माध्यमों ने एक निश्चित विचारधारा से ग्रसित होकर कार्य किया है। मीडिया ने अपने सामाजिक दायित्व का भी वैसे उत्सुकता से निर्वहन नहीं किया जैसी भूमिका उससे

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 25
[2] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 25

अपेक्षित थी। प्रसार माध्यमों का परम दायित्व है कि वे सामाजिक भात्रत्व, सहिष्णुता के लिए समाचारों को तोड़ मरोड़कर प्रस्तुत न करें और सच्चाई को सामने लाए। जैसा कि उपन्यासकार ने इंगित किया है मंडल कमीशन को लागू करने के दौरान मीडिया की भूमिका एकांकी थी। आत्मदाहों की खबरों को सनसनी के साथ पेश करना भी मीडिया की परम्परागत मानसिकता का परिचायक था। मीडिया का नेत्रत्व कर रहे लोग उन लोगों के प्रतिनिधि नहीं थे जिन्हें इस रिपोर्ट से न्याय मिलने की संभावना थी। क्या इतने बड़े वर्ग को राष्ट्रीय विकास से बाहर करके राजकीय सेवाओं में अवसर दिया जाना गलत था? जब कि असलियत यह थी कि उनकी योग्यता दक्षता का मजाक बनाकर उनका हिस्सा चट करने की साजिश थी। जो मीडिया यह खबर देता है कि सरकार द्वारा अनुसूचित जातियों, जन जातियों के लिए हरिजन गिरिजन जैसे शब्दों का प्रयोग प्रतिबंदित कर दिया है वह मीडिया हर रोज अपने अखबारों व अन्य प्रकाशनों में इसी शब्द का प्रयोग करने से बाज नहीं आता है। इसका मतलब यह है कि वह जान बूझकर सरकारी आदेशों का उलंघन ही नहीं कर रहा है बल्कि उनका मजाक भी उडा रहा है।

ऐसे दौर में एक तरफ से आरक्षण को ख़त्म करने तथा दलितों को हस्तक्षेप न करने की साजिश है। इसको उजाकर करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं- “भूमंडलिकरण, आर्थिक उदारीकरण दलितों की विकास यात्रा को बाधित करने के लिए एक साजिश है। आरक्षण खत्म करने की एक साजिश है। दलित इस भंवर जाल में फस गए हैं। हजारों शिक्षित दलित युवक, युवतियाँ बेरोजगार घूम रहे हैं सरकारी संस्थानों की नौकरियां है नहीं गैर सरकारी संस्थानों उच्च वर्गीय अभिजात्य वर्ग के लोगों का वर्चस्व है। दलितों के प्रति उनका रूख नकारात्म पुरानपंथी है, रहन सहन में वह अमेंरिकन यूरोपियन हैं। लेकिन मानसिक रूप से घोर संकीर्ण ब्राह्मणवादी। उन्हें देश या संस्कृति से कोई मतलब नहीं। उन्हें सत्ता का वर्चस्व चाहिए जहाँ दलितों

के लिए No Entry है।"[1] 'जस तस भय सवेर' उपन्यास समाज में व्याप्त आरक्षण के विविध प्रश्नों पर एक बहस की शुरुआत करता है। एक पक्ष उसे अयोग्य कहकर ख़ारिज कर दे रहा है तो दूसरा पक्ष तथाकथित योग्य समाज द्वारा महत्त्वपूर्ण पदों पर कायम होने के बाद भी शासन प्रशासन में निरंतर बढ़ रहें भ्रष्टाचार और अराजकता के लिए जिम्मेदार मानता है। यदि आरक्षण विधियों की बात माने तो योग्यता क्रम में 85% अंकों वालों के सामने 80% व 75% अंक वाले अयोग्य है। क्योंकि प्रायः उन्हीं पर सवाल उठाते हैं जिनके अंक कम होते हैं जब कि वास्तविकता यह है कि सामान्य वर्ग की मैरिट और दलित पिछड़े वर्ग की मैरिट में मुश्किल में 5-7 प्रतिशत का अंतर होता है, कई बार तो लगभग बराबर होते हैं। साक्षात्कारों में आरक्षित वर्ग के अभ्यार्थियों को सामान्य वर्ग की अभ्यार्थियों के समकक्ष होने के बावजूद कम ही अंक दिए जाते है। डोनेशन के खिलाफ आज तक किसी ने आत्मदाह नहीं किया क्योंकि डोनेशन देने वाले प्रायः गैर आरक्षित वर्ग से ही होते है। योग्यता वाले शासन कर रहे हैं फिर भी अराजकता गुंडागर्दी क्यों है? सदियों से कायम आरक्षण के खिलाफ क्या किसी में आवाज उठाने का साहस है? यदि है तो उसे मंदिरों में पुजारियों, धर्माचारियों, शंकराचार्यों के नियुक्ति में आरक्षण, जमीनों पर कायम आरक्षण, उद्योगों पर कायम आरक्षण, महत्त्वपूर्ण राजनैतिक पदों पर कायम आरक्षण के पदों पर भी सवाल उठाने चाहिए? यहाँ सवाल इसलिए नहीं उठाए जाते क्योंकि यहाँ नियुक्ति पानेवाले लोग आरक्षित पदों से नहीं होते? मंदिरों में देवदासियों के साथ किया जा रहा दुर्व्यवहार दर्शाता है कि हमारे संस्कृति में स्त्रियों के प्रति कितना सम्मान है। जिस ईश्वर की पूजा करते हैं वही पर पुजारी घृणित कार्य करते हैं। "स्त्रियों विशेषकर इन स्त्रियों का तो कोई मान सम्मान ही नहीं था। तो यह है हमारी विभेदकारी एवं विषमता वर्धक और देश की एकता व अखंडता की जड़े खोखली करनेवाली सामाजिक व्यवस्था जिसका निर्माण समाज के सुविधाभोगी और मान्यता प्राप्त योग्य दक्ष व्यक्तियों ने किया था। इस घृणित निन्दित एवं कुत्सित विकृत

[1] कथादेश - सं. हरिनारायण - मार्च 2005 पृ.सं. 63

विचारधारा पर आधारित कुव्यवस्था का परिणाम देश को भुगतना पड़ रहा है। यह है हमारी अद्भूद योग्यता और दक्षता।"[1]

इसी उपन्यास में राजकीय सेवाओं को मुख्य अर्थव्यवस्था एवं सेवाओं की प्रतियोगिता में 'फिटएस्ट विल बी सरवाइव' अर्थात् सामर्थ्यवान ही जिन्दा रहेगा सिद्धांत को लागू करने की मांग उठानेवाले प्रोफ़ेसर नाथ कहते हैं- "जब परिवार का कोई सदस्य लम्बे समय तक बीमार रहे तो स्वस्थ होने तक हमें उसे अतिरिक्त सुविधाएँ देनी ही पड़ती है अन्यता उसे परिवार ही नहीं कहा जा सकता। जिसकी टांग हमने उद्देश्य पूर्ण तोड़ दी हो, उसकी टांग पर प्लास्टर चडाने के तत्काल बाद हम उसे अवसरों की समानता का नारा लगाकर वर्षों से खा पीकर अभ्यास में जुटे धावक के साथ दौड़ने के लिए कहेंगे तो सारी दुनिया हमारी मूर्खता पर हसेंगी ही। यदि फिर भी हम ऐसा करते हैं तो यह हमारा बौद्धिक दिवालियापन होगा। ...अतः केवल सामान्य परिस्थिति एवं अवसरों की उपलब्धता की स्थिति में ही मुक्त अर्थ व्यवस्था, मुक्त प्रतिस्पर्धा, का समर्थन किया जा सकता है।"[2] इस सन्दर्भ में वीर भारत तलवार ने बहुत ही सटीक टिप्पणी की है- "असल में भारतीय दलित की दुर्दशा केवल हिन्दू के बूरे बर्ताव का नतीजा नहीं है बल्कि यह हिन्दू धर्म व्यवस्था में शामिल है। सवर्ण लेखक सहानुभूतिवश दलित के प्रति सवर्णों के विवेक को तो झकझोरता है, लेकिन इससे आगे बढ़कर उस दमन को चुनौती देने से कतरा जाता है जो दलित की दुर्दशा का मूल श्रोत है। वर्ण और जातिभेद हिन्दू धर्म की सिर्फ आध्यत्मिक व्यवस्था ही नहीं है। यह संपत्ति और उत्पादन के साधनों के भौतिक वितरण की भी व्यवस्था है। बाबासाहब अम्बेडकर की विचारधारा के मुताबिक़ दलित प्रश्न को सामाजिक लोकतंत्र के सवाल से जोड़कर दुसाद लिखते हैं 'वर्ण व्यवस्था हजारों साल से एक आरक्षण व्यवस्था के रूप में क्रियाशील रही है जिस में दलितों को राष्ट्र की संपदा, ज्ञान संस्थाओं इत्यादि में रत्ती भर भी भागीदारी न दी गई' इस में समान और

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 57
[2] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 67,68

लाभवाले जितने पेशे थे- अध्ययन-अध्यापन, पुरोहिती, वैद्यकी, भूस्वामित्व और व्यवसाय सब द्विजों के लिए आरक्षित रखे गए और दलितों को वंचित रखा गया। आज भी दलित मंदिर, तालाब इत्यादि से बहिष्कृत है तो शहरों में वे फिल्म, मीडिया, टी.वी., उद्योग और व्यवसाय आदि से लगभग बहिष्कृत है। इस अन्याय को दूर करने के लिए राजनीतिक लोकतंत्र ही काफी नहीं, सामाजिक लोकतंत्र भी चाहिए सामाजिक लोकतंत्र कायम करने के सिलसिले में दुसाध चंद्रभान प्रसाद डायवर्सिटी के सिद्धांत की चर्चा करते हैं जिसके मुताबिक राष्ट्रीय संपदा के सभी क्षेत्रों और संस्थाओं में समाज के सभी समुदायों, वर्गों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। इस सिद्धांत के अमल के जरिए दुसाद फिल्म, प्रिंट मीडिया, इलेक्ट्रोनिक मीडिया, व्यवसाय, उद्योग और सेवा क्षेत्र सभी में दलितों की उपस्थिति करना चाहते हैं। कहने की जरूरत नहीं कि आज के संदर्भ में दलितों को ताकतवर बनाने के लिए यह महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है जिस पर विचार करने की जरूरत है।"[1] जिस तरह वीरभारत तलवार ने कहां है इस पर विचार करने की जरूरत है, सवर्ण समाज इस पर विचार कर रहा है पर इस तरह का नहीं जिस तरह हम सोच रहे है। 'जस तस भय सवेर' उपन्यास में आजादी के वर्षगांठ के अवसर पर चौधरी देविपाल और हरसन्न भगत, मंगल पहलवान की अध्यक्षता में गाँव में आयोजित ध्वजारोहण कार्यक्रम में बुद्धिजीवियों और नेताओं को आमंत्रित करते हुए कहते हैं- "हमें सबको साथ लेकर चलना है। तभी राष्ट्र का भला हो सकता है, समाज का भला हो सकता है। मैं जाति-पाती का घोर विरोधी हूँ परन्तु दुर्भाग्यवस इन दिनों देश में ऐसी ताकते सिर उठा रही है जो समाज का विघटन करना चाहती है। उन्हें हमारी एकता फूटी आँख नहीं सुहा रही है। ये ताकते हरिजन एक्ट का दुरूपयोग कर रही है।"[2] इनके वक्तव्य में उनके अल्पज्ञान की दो बाते ख़ास है, पहली है कि हरिजन शब्द के प्रति विशेष जातियों के लिए उनका उपयोग और हरिजन एक्ट का कोई भी कानून देश में नहीं है।

---

[1] हंस - सं.राजेन्द्र यादव - अगस्त 2004 - पृ.सं. 75

[2] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 96

दूसरी पीड़ित वर्ग में जागी अधिकार बोध चेतना ये तथाकथित नेता जातिवाद कहकर ये अपनी सामन्ती मानसिकता का प्रदर्शन करने में ज़रा भी नहीं शरमाते। मंच पर उपस्थित लोगों ने अपने विचार रखे। प्रोफ़ेसर दत्त के अनुसार- "मेंरा यह अटूट विश्वास है कि सेवाएं प्रशासनिक हो अथवा तकनीकी का एक मात्र आधार योग्यता एवं दक्षता ही होना चाहिए। ...आरक्षण की राष्ट्रीय क्षति तो यह है कि दायित्व अयोग्य व्यक्ति को प्राप्त होता है।" ...प्रोफ़ेसर व्योयोम राय ने कहा- "आरक्षण होना ही नहीं चाहिए। अगर हो तो भी जातिगत आधार पर तो कदापि नहीं होना चाहिए। जाति विशेष में जन्म लेने से किसी को आरक्षण का अधिकार नहीं मिलना चाहिए। ...जातीयता और साम्प्रदायिकता फैलानेवालों से सावधान रहे और उनके खिलाफ संघर्ष छेड़ दे।" ...वरिष्ठ संपादक शैलेशनाथ ने राय व्यक्त की- "दुनिया के किसी भी देश में ऐसी मूर्खतापूर्ण व्यवस्था नहीं की गई है। परन्तु हमारी सरकार वोटों की राजनीति के तहत न केवल नीति निर्धारित कर रही हैं बल्कि उसे निरंतर चलाए जा रही है। ...साथियों हमें एक जुट हो के संस्कृति की रक्षा करते हुए रामराज्य की स्थापना करनी है ...अवर्ण और सवर्ण का भेद मिटाना है।" डॉ. शिवराम ने प्राचीन संस्कृति की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा- "हमारी संस्कृति में सदैव योग्यता और दक्षता को सम्मान की दृष्टि से देखा गया है। ...मैं आरक्षण को पूर्णता नकारता हूँ। ...चूँकि आरक्षित वर्ग को जन्मजात सुविधाएँ मिल रही हैं अतः राष्ट्र व समाज के प्रति अपना दायित्व भी नहीं समझते ...पुनः आरक्षण के माध्यम से जाति-धर्म, सवर्ण-अवर्ण का जहर फैलाया जा रहा है। यही कारण है कि समाज में वैमनष्यता बढ़ रही है।"[1] अधिकतर वक्ताओं ने आरक्षण का विरोध करते हुए इसे राष्ट्र की क्षति, अयोग्यता का प्रतीक, वोट की राजनीति, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, वैमनष्य फैलानेवाली व्यवस्था कहकर परिभाषित किया। लेकिन वे गरीब व आभाव ग्रस्त लोगों के विकास का रास्ता सुलझाने तथा अवर्ण-सवर्ण का भेद समाप्त करने के लिए कोई योजना प्रस्तुत नहीं करते, लेकिन रामराज्य की स्थापना करना चाहते हैं।

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ. सं. 96-99

इसका अर्थ है दलित पिछड़ों के अधिकारों का दमन कारना है। आरक्षण की व्यवस्था रामराज्य की व्यवस्था से कही अधिक बेहतर व आधुनिक है। आरक्षण जातिवाद नहीं बढाता बल्कि यह तो सदियों से अधिकार विहीन लोगों को अधिकार देकर सामाजिक भेदभाव को समाप्त करने का एक सशक्त माध्यम है। 'जस तस भय सवेर' उपन्यास का शिवदास सभा में पारित प्रस्ताव को एक तरफा करार देते हुए दूसरे पक्ष को भी सुने जाने की सार्थक बहस करता है- "उत्तर वैदिक काल में समाज को चार वर्णों में विभाजित कर के असामाजिक कर दिया गया जिसका वर्णन यजुर्वेद में यूँ मिलता है- 'ब्रह्मणे ब्राह्मण क्षत्राय राजन्यम मरुदडयों वैश्यं तपसे शूद्र तमसे तस्करं नारकाय'। इस प्रकार वेदों में शूद्रों की उत्पत्ति ब्रह्मा के पैर से बता कर कर्म पर जन्म की गहनता स्थापित भी गई और किसी पर दोषारोपण भी न हो इसलिए वेदों को अपौरुषेय अर्थात् कथित ईश्वर कृत रचना बताकर आम आदमी को गुमराह किया गया। कालांतर में शूद्र शिक्षा से भी वंचित कर दिए गए। जब यहाँ इज्जत जातीय आधार पर मिलती है तो आरक्षण क्यों नहीं। किसी के पूर्वजों ने पढ़े थे कथित चार वेद परन्तु पीढ़िया चाहे बहुत ही अनपढ़ रही हों, बन गई चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी। क्या यह जाति के आधार पर आरक्षण नहीं है। ...साथ ही देश के करोड़ों मंदिरों में पुजारियों, शैवायातों, मठाधीशों, महंतों और शंकराचार्यों के पद पर भर्ती का एक मात्र आधार निश्चित जाति और सवर्णता ही तो है। यहां एक जाति अथवा वर्ग विशेष के पक्ष में आरक्षण कर दिया गया है। परन्तु कोई विरोध नहीं होता क्योंकि वह समर्थ और मान्य प्राप्त लोग है। ...हमारे देश अथवा संस्कृति में हमेंशा योग्यता एवं दक्षता का सम्मान किया गया है। तो मैं जानना चाहता हूँ कि महर्षि शम्बूक की योग्यता और दक्षता में क्या कमी थी। रामचंद्र द्वारा उनकी हत्या मात्र इसलिए कर दी गई क्योंकि वह दासों दासियों, शोषितों, अछूतों और स्त्रियों की शिक्षा और अधिकार विहीनों को अधिकार देने की मांग करते थे। ...महात्मा की योग्यता और दक्षता में किसी को संदेह था? एक रोगी के बाद में जन्मांध को भी राजा बनाना स्वीकार किया गया परन्तु योग्य व दक्ष नीति निष्पाप महात्मा को सिंहासन से दूर रखा गया क्योंकि वे दासी

पुत्र थे। ...फिर महाधनुर्धर कर्ण की योग्यता में खोट थी। धनुर्धर एकलव्य को तो विद्या देने से इनकार कर दिया गया। अपने बुद्धि बल और परिश्रम से उसने स्वयं विद्या सीख ली तो गुरु ने प्रशंसा की बजाय गुरु दक्षिणा की आड़ में उसका अंगूठा कटवाकर उसे सदैव के लिए विकलांग बनाकर अति साधारण धनुर्धर अर्जुन का मार्ग निष्कंटक कर दिया। बलि हत्या तो छुपकर की गई। इद्रजीत मेंघनाथ को भी निशस्त्र कर के छलपूर्वक और पूजा करते हुए हत्या की गई। रावण हत्या भी छलनीति से ही संभव हुई। कहा चली गई थी योग्यता और दक्षता।"[1] आज खिलाडियों को सम्मानित करने के लिए अर्जुन पुरस्कार और प्रशिक्षकों को द्रोणाचार्य पुरस्कार दिए जाते हैं क्या सरकारों को एकलव्य कही पर भी खड़ा दिखाई नहीं देता? क्या इन्हें महर्षि वाल्मीकि वेदव्यास, शम्बूक, विदूर, कबीर, रविदास, महात्मा ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले, वीरांगना झलकारीबाई, सर छोटूराम और डॉ. भीमराव आम्बेडकर भी कहीं नजर नहीं आते? राष्ट्र उत्थान के लिए इन महान विभूतियों की जरा भी परवाह इन सरकारों को नहीं है। आर्थिक क्षेत्र के बड़े-बड़े और राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को नष्ट करनेवाले कौन लोग हैं? क्या कभी सोचा है? क्या कभी किसी राष्ट्रीय अखबार ने कभी इस पर बहस शुरू करवाई। योग्यता दक्षता किसी जाति विशेष की पूंजी नहीं है। "जब तक हम अपनी गली सड़ी मानसिकता आरक्षित वर्गों के प्रति पूर्वाग्रहों, दूराग्रहों, शोषक सामन्तवादी एवं मनुवादी प्रवृत्तियों को त्याग न दे तब तक आरक्षण की महत्ती आवश्यकता है। जातिगत आरक्षण को समाप्त करने का एक उपाय यह भी है कि जाति विहीन समाज की स्थापना की जाए। पहले हमें सच्चे भारतीय बनना होगा ...हमें सरकार पर दबाव नए विद्यालयों की स्थापना, रोजगार के नए अवसरों का सृजन, मंहगाई भष्ट्राचार एवं रिश्वतखोरी तथा कालाबाजारी के संदर्भ में बनाना चाहिए न कि ईर्षा व द्वेष उत्त्पन्न करने के लिए।"[2] अपने वक्तव्य के दौरान सामाजिक सच्चाई, समानता व न्याय की मांग उठानेवाले शिवदास पर हमला

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 100-101

[2] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं.104-106

कर दिया गया। दलितों पिछड़ों गरीबों के दमन का यह बड़ा उदहारण है। स्पष्ट है कि जब जातिवादी व सामन्ती ताकतों में विपन्न समाज का दुःख सुनने की हिम्मत तक नहीं है तो आप उनके नेत्रत्व में न्याय, अधिकार और स्वाभिमान की लड़ाई कैसे लड़ सकते हैं? यदि कही लड़ भी रहे हैं तो उससे कुछ भी हासिल नहीं होगा। अनेक प्रतिभावान दलित पिछड़े उच्च जातीय सामाजिक सत्ता के दुर्व्यवहार अत्याचार तो सहते ही है साथ ही प्रशासनिक सत्ता भी उनके प्रति कोई कम अत्याचार नहीं करती। ऐसी सामाजिक जातीय सत्ता एवं प्रशासनिक सत्ता में होनेवाले अत्याचारों को उठाने के लिए हमें मीडिया में प्रतिनिधित्व की अत्यंत आवयशकता है।

ऐसे सामाजिक प्रश्न को सुलझाने के लिए एक व्यापक तौर पर प्रयत्न तो कर रहे हैं फिर भी हम उनकी जड़ों तक नहीं पहुँच पा रहे हैं। क्यों? ऐसे ही कुछ सवाल वीरभारत तलवार करते है- “एक सजग दलित पत्रकार की दृष्टि मेंहनतकश जनता के व्यापक हिस्से के हितों से जुड़ी होनी चाहिए, साथ ही उस दृष्टि को आलोचनात्म होना चाहिए। मौजूदा राजनीतिक परिदृश्य में मेंरे जैसे गैर दलित पाठक के मन में दलित राजनीति को लेकर कुछ सवाल उठते हैं जिन्हें मैं दलित पत्रकारों के सामने रखना चाहता हूँ। सवाल यह है कि अगर दलित राजनीति का मकसद एक ज्यादा बेहतर समता पर आधारित सुंदर समाज बनाना है, तो फिर दलित संगठनों और उसकी राजनीति का अपना विशिष्ट क्रांतिकारी स्वरूप क्यों नहीं दिखाई देता? क्यों दलित राजनीतिक दल भी दूसरे दलों की तरह जोड़-तोड़ करनेवाले सिद्धांत हीन गठबंधन के जरिए किसी तरह सत्ता में आनेवाले और भ्रष्टाचार में डूबे दिखाई देते हैं? क्यों सामाजिक लोकतंत्र की मांग करनेवाले दलित संगठन के अपने अंदर कोई लोकतंत्र नहीं दिखाई देता और उसके सदस्य अपने नेताओं के तानाशाही रवैये की शिकायत करते हुए उस से अलग होते रहते हैं? क्यों दलितों में सामूहिक नेत्रत्व विकसित नहीं हो पा रहा हैं? क्यों दलित नेता भी पैसे के खेल में डूबे हुए है और

उन्होंने खुद को भ्रष्ट पूंजीवादी जनतंत्र के ढाँचे में पूरी तरह से ढाल लिया हैं।"[1] जब तक हमें इन सारे सवालों के जवाब नहीं मिल जाते तब तक दलित समाज का वह सपना पूरा नहीं होगा जो बाबासाहब ने देखा था। दलितों की मीडिया में भी भूमिका हो सकती है पहले उसे राजनीति में परिवर्तन लाना होगा। राजनीति जब अपने हाथ में आ जाएगी तभी सभी समस्याओं का हल हो जाएगा जिसके लिए दलित राजनीति को एक क्रांतिकारी रास्ता अपनाना होगा।

[1] हंस - सं.राजेन्द्र यादव - अगस्त 2004 - पृ.सं. 77

तृतीय अध्याय

3. हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में आर्थिक संघर्ष

3.1 भारतीय समाज में दलित जीवन का वास्तविक चित्रण : आर्थिक दुर्बलता

3.2 आर्थिक दुर्बलता के कारण सामंती व्यवस्था का शिकार होती दलित स्त्रियां

3.3 दलितों में बाल मजदूरी की समस्या

3.4 वेश्यावृत्ति : एक आर्थिक समस्या

3.5 सुनहरे भविष्य के मुरझाते सपने और उगता विद्रोह

3. हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में आर्थिक संघर्ष

आज के परिप्रेक्ष में देखा जाए तो कुछ हद तक तथाकथित समाज अनुसूचित जातियों के पुनरुत्थान का समर्थन करता है। ग्रामीण क्षेत्र में भी यह भावना है, लेकिन वह राहत कार्यों तक सीमित है। जिससे कि इन अभागे लोगों के कष्टों में तनिक कमी कर दीया जाए। हमें आशा है कि जब इन जातियों की स्थिति सुधर जाएगी तो वे भले मानव के समान जीवन व्यथित करेंगे। अपने को समाज के बाकी अंगों के समान मानेंगे और इस बात पर बल देंगे कि उनके साथ बराबरी का व्यवहार हो। परन्तु जब भी इस तरह की प्रवृति प्रकट हुई हैं, इन अभागों को और भी अधिक दमन और परेशानी का सामना करना पड़ा है। इस दमन के लिए वही लोग जिम्मेदार है जिनके बारे में एक समय ऐसा लगता था कि वे नए विचारों को अपना चुके हैं। इसमें हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन्होंने अनमने मन से ही यह विचार स्वीकार किया था। जब तक जाति विरोधी आन्दोलन कुछ दलित और शोषित लोगों के लिए अस्थाई रूप से कुछ कर सकने की इच्छा तक सीमित रहेगी, तब तक इसे सहन किया जाता रहेगा और तथाकथित उदारमना लोग इसके माध्यम से अपने दया भाव को प्रकट कर सकेंगे। ज्यों ही यह आन्दोलन सामाजिक विशेषाधिकारों पर कुठाराघात करने को उठता है, इसके रास्ते में नाना प्रकार की बाधाएँ उत्त्पन्न की जाती है।

यहाँ पर जाति व्यवस्था के सामाजिक तथा आर्थिक मूल का विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं है। मैं केवल इतना कहूँगा कि इस बारे में अधिकाधिक दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। एक दृष्टिकोण तो यह है कि जाति व्यवस्था विशेष रूप से कुछ जातियों को बहिष्कृत करने की प्रवृत्ति आर्थिक शोषण के साधन मात्र है और इस आर्थिक शोषण को सामाजिक और विचार परक आधार देने के लिए धार्मिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। दूसरी ओर यह विचार प्रकट किया जा सकता है कि जाति व्यवस्था मूल रूप से धार्मिक और सामाजिक घटना है। जो समय के साथ बदलते हुए आर्थिक शोषण का एक सुविधा बन गई है। परन्तु आप इन दोनों में से किसी भी

दृष्टिकोण को अपनाएं, इस यथार्थ से मुंह छिपाना असंभव है छुआछूत और जातिभेद आर्थिक शोषण के अत्याधिक शक्तिशाली साधन हैं। यदि ऐसी बात नहीं है तो क्या कारण है जो आज भी हम अनुसूचित जातियों की बात करते हैं, तो हमारे मन में कृषि मजदूरों या गाँव के कारागीरों का चित्र उभरता है और उनके दैनिक मजदूरी में वृद्धी करने के अवसरों या उन्हें स्वयं अपना रोजगार चलने योग्य बनाने के साधन प्रदान करने की न तो चेष्टा की जाती है और न ऐसी योजना बनाई जाती है। इस प्रकार लोग सदा रोजगार ही बने रहेंगे। उन्हें कही-कही कृषि भूमि दी गई है लेकिन उन्हें वहाँ भी परेशान किया जाता है और बहुत दफा मारपीट की जाती हैं, जिससे की खेती न कर सके। इसका कारण यह है कि यदि अनुसूचित जाति के मजदूर किसान बन जायेंगे तो शोषक वर्ग को सस्ता श्रम वर्ग नहीं मिलेगा। जो आधे पेट खाकर उनका काम करें और उनकी आर्थिक स्थिति को बनाए रखने में सहायक हो। इस बारे में बहुत सी बातें की जाती है कि उन्हें मकान बनाने के लिए भूमि दी जाए, यह कहना कठिन है कि इस दिशा में कितनी प्रगति हुई है इस काम में भी नाना प्रकार के रोड़े अटकाए जाते हैं। जिनकी भूमि पर वे झोपड़े बनते हैं, वे भी दमनकारियों के चंगुल से नहीं बचते।

इस बात से हमें यह अभास मिलना चाहिए कि दलित समाज की समस्या वास्तविक रूप में क्या है। अनेक विद्वानों की वैचारिक दृष्टि अलग रही होगी पर इस समस्या की जड़ हमारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में ही है। इस संदर्भ में डॉ. आम्बेडकर के विचारों को देखा जा सकता है- “मेंरी राय में इसमें कोई संदेह नहीं है कि जब तक आप अपनी सामाजिक व्यवस्था नहीं बदलेंगे तब तक कोई प्रगति नहीं होगी। आप समाज को रक्षा या अपराध के लिए प्रेरित कर सकते हैं। लेकिन आप जाति व्यवस्था की नींव पर आप कोई निर्माण नहीं कर सकते : आप राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते, आप नैतिकता का निर्माण नहीं कर सकते। जाति व्यवस्था की नीव

पर आप कोई भी निर्माण करेंगे वह चटक जाएगा और कभी भी पूरा नहीं होगा।"[1] इस समस्या का हल इसी प्रकार किया जा सकता कि है सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का पुनर्गठन क्रांतिकारी ढंग से किया जाए।

हमने पहले ही कहा है यह यह समस्या तभी हल होगी जब सामाजिक तथा आर्थिक संबंधों की व्यवस्था में अमूलचूल परिवर्तन किया जाएगा। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि विचारधारा में परिवर्तन करना अत्यंत अव्यश्यक है। परन्तु यह परिवर्तन इतना नहीं होना चाहिए कि लोगों को इस बात की प्रेरणा दी जाए कि वे अपने 'अभागों भाई बहनों' पर तरस खाएं। विचारधारा में परिवर्तन करते समय उन मूलभूत सामाजिक और आर्थिक बुराइयों का पर्दाफाश करना पड़ेगा जिसके कारण छुआछूत और जातिगत शोषण होता है और यह जातिगत शोषण एक बीमारी की तरह सारे भारत को खाए जा रहा है। दलितों की दृष्टि से न सही सारे देश की दृष्टि से देखे तो इस नग्न सत्य से मुंह छुपाना असंभव होगा कि हमारी जनता का एक बहुत बड़ा अंश समूची सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति में साझीदार नहीं बन पाया है। यह बात बड़ी अजीब लगती है, परन्तु है यह सच। भारत की अर्थव्यवस्था में सबसे निर्धन वे लोग है जो संपत्ति का उत्पादन करते है और समाज के लिए अनिवार्य सेवाएँ प्रदान करते हैं। वास्तव में देखा जाए तो उत्पादक और किसान वही है लेकिन लाभ उन लोगों की जेबों में चला जाता है जिनके हात में शक्ति है। गरीब मजदूर और कारीगर तो पहले से ही समान वंचित रहते हैं। उन्हें जानवरों जैसा जीवन बिताने पर विवश होना पड़ता है, क्योंकि वे अत्यंत निर्धन है। इस कारण वे अपना विकास करने के साधन प्राप्त नहीं कर पाते। सामाजिक अन्याय के कारण उनकी रचनात्मक योग्यता कुंठित हो जाता है इसलिए वह अपनी प्रगति नहीं कर पाते। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जाति के आधार पर शोषण तभी समाप्त किया जा सकता है जब उसे सभी प्रकार के उन्मूलन के आन्दोलन का अंग बना लिया जाए। सबसे पहले उन

[1] बाबासाहब अम्बेडकर संपूर्ण वाड़मय - पृ.सं. 89

व्यक्तियों की निर्धनता दूर करनी पड़ेगी जो समाज के लिए परमावश्यक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। यह बात तो निश्चित रूप से अव्यश्यक है कि अनुसूचित जातियों एवं अन्य कमजोर वर्ग को आज की परिस्थिति में कुछ विशेष सुविधाएँ देनी होगी। जिससे की उन सामाजिक बाधाओं से मुक्ति पा सके, जो उन्हें रोजगार या शिक्षा प्राप्त करने के सामान्य साधनों से वंचित करती है। अनुसूचित जातियां और जनजातियां ही सबसे अधिक इस स्थिति में है कि उन्हें भूमि और मकान के अधिकारों से अन्यों की अपेक्षा अधिक वंचित रखा गया है। इसलिए यह उचित ही है उनके लिए प्रबंध किए जाए।

यह शोषित लोग शताब्दियों से पिछड़े रहे हैं और उन्हें समाज के अन्य स्तर तक पहुँचने के लिए सेवाओं में आरक्षण सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति के विशेष कार्यक्रमों और शिक्षा के लिए विशेष सुविधाओं की आवश्यकता है। इस बात के बावजूद सेवाओं में आरक्षण प्रदान किया गया। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के बहुत से युवक आज भी बेरोजगार है क्योंकि उनके पास ऐसे साधन नहीं है और न उनका प्रभाव है कि वे नौकरियाँ प्राप्त कर सके। ऐसे शिक्षित व्यक्तियों के लिए सरकारी क्षेत्र के और गैर सरकारी कारखानों में भी रोजगार की व्यवस्था नगण्य है। इसलिए यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि अनुसूचित जातियों में शिक्षित बेरोजगारों का प्रतिशत उन जातियों की अपेक्षा कम है जो शिक्षा के क्षेत्र में आगे हैं। यह बात औए भी अधिक आवश्यक है कि अनुसूचित जातियां स्वयं उन शताब्दियों पुराने पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाने के लिए सतत संघर्ष करते रहे जिन्होंने उनकी प्रगति को अवरुद्ध रखा है। लम्बे समय तक प्रगति के अवसरों से वंचित रहने के परिणाम स्वरूप असाहयता और परावलंबन की जो भावना है उस से छुटकारा पाना पड़ेगा। अनुसूचित जातियों को यह नहीं समझना चाहिए कि जो विशेष सुविधाएँ उन्हें दी जाती हैं; वे उनके प्रति दिखाए गए अनुग्रह का प्रतीक है। यह तो उनका अधिकार है जो शताब्दियों तक नहीं दिया गया है और उन्हें वन्चितावस्था में

रखा गया है। मैं चाहता हूँ कि सवर्ण हिन्दुओं की अपेक्षा अनुसूचित जातियों के लोग इस बात को महसूस करें कि वे उस सामाजिक और आर्थिक शोषण के प्रतीक हैं, जो हमारे समाज में चल रहा है। इसलिए उन्हें न केवल ऐसे आन्दोलन का साथ देना चाहिए जिसका उद्देश्य शोषण की व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेकना है बल्कि ऐसे आन्दोलन का नेत्रत्व भी करना चाहिए।

रही बात सामाजिक भेदभाव तथा जातिव्यवस्था मिटाने की इसका भी उत्तर आर्थिक दुर्बलता से जुड़ा है। ज्यादातर हिंदुत्ववादी विचारधारा से जुड़े विद्वानों का मानना है कि उनके लिए अलग से घर तथा अलग से मंदिर बनवा दो। अनुसूचित जातियों के लोग इस बात को बिल्कुल पसंद नहीं करते कि उनके लिए अलग बस्तियाँ तथा मंदिर बनाए जाए। ऐसी बस्तियाँ तथा मंदिर बनाने से जातिगत भेदभाव और स्थाई हो जाते हैं।

इसी के संदर्भ में डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने जब मंदिरों में अछूतों के प्रवेश के लिए आन्दोलन चलाया तो हिंदूवादी चिन्तको ने अछूतों के लिए अलग मंदिर बनाने का प्रस्ताव रखा था। इसका कड़ा विरोध करते हुए डॉ. आंबेडकर ने कहा था- "नए मंदिर की कल्पना सुन्दर है, पर अस्पृश्यता दूर करने के उपाय के रूप में यदि वह अस्तित्व में आएगा तो उस से अस्पृश्यता दूर नहीं होगी। अस्पृश्यों को यदि मंदिर में जाना है तो उन्हें केवल स्पृशों के समान अपना हक्क जताना होगा अलग व्यवस्था करने यदि अस्पृश्य लोग स्पृश्य होते है तो अछूत मातंग चमार बस्तियाँ अनादिकाल से आज तक अलग रही है पर उसका परिणाम क्या हुआ।"[1] अम्बेडकर इन सबके खिलाफ थे। परन्तु इस के बावजूद ऐसी बस्तियाँ बसाई जा रही है। कई बार तो ऐसा लगता है कि सवर्ण हिन्दू की शुद्धता के लिए परिरक्षण मात्र के उद्देश्य से यह बस्तियाँ बस रही है।

[1] दलित राजनीति की समस्या - सं. राजकिशोर - पृ.सं. 142

अनुसूचित जातियों में कुछ ऐसी जातियाँ हैं जिनके व्यवसाय को समाज तिरस्कार की दृष्टि से देखता है और उसका परिणाम यह होता है कि उन्हें छुआछूत का शिकार होना पड़ता है। मुझे यह देखकर बहुत दु:ख हुआ की महाराष्ट्र में महार तथा मातंग और उत्तर भारत में भंगी का काम करनेवाली जातियों में साक्षरता और शिक्षा का प्रसार बहुत ही कम हुआ है। इसके कारण स्पष्ट है। यदि ये लोग अछूत न होते तो श्रमिक नेता उन्हें संगठित करते और उन्हें वैसी ही सुविधाओं कि व्यवस्था की जाती है जो मजदूरों के लिए की जाती है। ऐसे अनेक सवाल दलित समाज के हैं जिनकी जड़ आर्थिक दुर्बलता है। यही राय शरणकुमार लिम्बाले की भी है- "दलितों के प्रश्न केवल सामाजिक नहीं है, वे आर्थिक भी है। दलितों के प्रश्नों का स्वरूप केवल आर्थिक अथवा केवल सामाजिक दृष्टि से अलग-अलग दिखने पर भी दलितों के प्रश्नों का आर्थिक पक्ष नकारा नहीं जा सकता। आज अछूतों पर अत्याचार होते हैं। उसका प्रमुख कारण आर्थिक दुर्बलता। जीने के लिए अहं की हिफाजत करनेवाले वर्ग पर उन्हें निर्भर रहना पड़ता है। आज का दलित भूमिहीन है, खेत मजदूर है। उसका स्वयं का व्यवसाय नहीं है। उत्पादन के भी अपने साधन नहीं है। जब तक वह खुद अपने पैरों पर खड़ा नहीं रह सकेगा तब तक उसे अनिवार्यतः लाचारी में गन्दा कार्य स्वीकारना पड़ेगा। उसके लिए आर्थिक सामाजिक विषमता के विरुद्ध तीव्रता से संघर्ष करना होगा, यानी की वर्ग संघर्ष और वर्ण संघर्ष दोनों ही लड़ाईयां साथ-साथ लड़नी होंगी। वर्ण व्यवस्था में से मुक्त हुआ दलित आर्थिक विषमता के बंधन में से कैसे मुक्त होगा? दलित केवल अछूत है ऐसा नहीं है। वह गरीब भी है। उसकी अस्पृश्यता समाप्त होनी चाहिए, उसके साथ उसकी गरीबी ही समाप्त होनी छाहिए। केवल छुआछूत नष्ट होने से दलितों की गुलामी समाप्त नहीं होगी। इसके लिए वर्ग संघर्ष करना महत्त्वपूर्ण है।"[1] उनका मानना है कि सामाजिक विषमता को मिटाने के लिए वर्ण संघर्ष से काम नहीं चलेगा उसके साथ-साथ हमें आर्थिक संघर्ष की लड़ाई भी लड़नी होगी। तभी चलकर सामाजिक विषमता की जड़ को ख़त्म कर सकते हैं। इस तरह इस अध्याय में हम

[1] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - शरणकुमार लिंबाले - पृ.सं. 82

उपर्युक्त विद्वानों को मध्य नजर रखते हुए हिंदी एवं मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में दलित जीवन से जुड़े उन संघर्ष को देखेंगे जो आर्थिक रूप से कमजोरहै। हम उन तमाम बिन्दुओं पर चर्चा करने का प्रयास करेंगे जो आर्थिक संघर्ष से जुड़े हैं।

3.1 भारतीय समाज में दलित जीवन का वास्तविक चित्रण :आर्थिक दुर्बलता

भारतीय गांवों की रचना तथा समाज रचना देखने के बाद यह आश्चर्य होता है कि यहाँ के गाँवों की तथा समाज की रचना इतनी एक जैसी कैसी है। शहरों में ऐसा चित्र नहीं है लेकिन गाँवों की रचना एक जैसी ही है चाहे महाराष्ट्र हो या मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश या अन्य प्रदेशों में भी। गाँवों की वैचारिक पहचान अलग होगी लेकिन रचना अलग नहीं है। यहां जाति के आधार पर गांव की रचना होती है। मुख्य गाँव में सवर्ण और अवर्ण गाँव के बाहर रहते हैं। सवर्णों के घर मजबूत आकर्षक व अवर्णों के घासफूस के होते हैं।

जय प्रकाश कर्दम के उपन्यास में मातापुर गाँव का चित्रण इसी का उदाहरण है। उपन्यासकार ने गाँव को केंद्र में रखकर सभी भारतीय गाँवों का चित्रण किया है। विषमता से मनुष्य के ही एक रूप को आधार बनाया जाता है। गाँव के उच्च स्थान पर सवर्ण और निचले स्थान पर दलित, यह गाँव की असली सच्चाई है। गाँव में ब्राह्मण, ठाकुर, पुरोहित बड़े होते हैं और अपने से बड़ा कोई नहीं होना चाहिए इसलिए वह धर्म शास्त्र का आधार लेकर गरीबों दलितों को डरा धमकाकर राज करते हैं। वे भूस्वामी होने के कारण आर्थिक संपन्नता उनका मजबूत पक्ष होता है। और आर्थिक दरिद्रता के कारण दलित लाचार होते हैं। मजबूरन उनके कायदे कानून को स्वीकारना पड़ता है यह हजारों सालों से चलता रहा है। रही मेंहनत करने की बात तो दलित समाज दिन रात मेंहनत करता है। इस पर उपन्यासकार कहता है- “रही काम की बात सो दिन रात कमर तोड़ मेंहनत करके भी दो जून की रोटी मय्यसर नहीं हो पाती ठीक से बीस-तीस रूपए का काम कराकर मालिक छह सात रुपए देता है दिहाड़ी के भूखा पेट क्या करे जो मिल जाए उसी से संतोष करना पड़ता है। ज्यादा दिहाड़ी की बात करे भी कैसे, क्या पता कल को उस से भी हात धोना पड़ जाए। केवल मेंहनत मजदूरी के बल पर जिन्दा रहनेवाले इन लोगों की विवशता है कि सब

कुछ सुनकर और बर्दास्त करके भी उन्हें वही पर काम करना पड़ता है। एक बेबसी सी छाई रहती है उनके चेहरों पर हमेंशा।"[1]

इसी निर्धनता में जीता हुआ दलित समाज ('थमेंगा नहीं विद्रोह') अपने सामर्थ्य से पांच बीघे का मालिक होने के ऐवज में अपने आप को अन्य दलित परिवारों से उच्च मानकर अपनी रोटी की भूख को पूरा होते देख धर्म कर्म और भक्ति के क्षेत्र में फड़फड़ाता है जिसका परिणाम वह दूसरे दलित समाज से टक्कर लेकर उनसे संबंध बिगाड़कर गाँव में अपनी जमीन पर एक मंदिर का निर्माण करवाता है। काबिलेगौर है कि उसके पूर्वज मजदूर व शिल्पी थे। लेकिन उनकी मेंहनत से वह भू मालिक बना। उस जमीन के टूकडे ने उसे चैन से जीने नहीं दिया। फलतः वह अपने पैत्रक संपत्ति में वृद्धि करने के बजाय उसी को तहस नहस कर डालता है और बन जाता है वही मजदूर का मजदूर। अपने अहं की पूर्ति के चक्कर में वह अपने जातीय भाईयों से भी दुश्मनी मोल लेता हैं मगर गाँव के गैर दलित लोग उसे हीन ही समझते हैं। इस चक्कर में वह पूरे परिवार को बर्बादी तक पहुंचाता है। इस तरह लेखक ने भारतीय समाज में करोड़ों की संख्या में रहनेवाले इन अभाव ग्रस्त एवं सामाजिक व्यवस्था द्वारा हीन बनाए गए लोगों को परंपरागत जातीय धर्म द्वारा दी गई प्रताड़ना का एक उदाहरण ही पेश किया है । जब कि ऐसे लोग गली-गली चौराहे-चौराहे पर देखे जा सकते हैं जो अपने कार्यों की वजह से कम तथा व्यवस्थागत अपमानों, तिरस्कारों एवं घृणाओं के शिकार अधिक है। लेखक उन्हें एक रास्ता दिखाते हुए बताना चाहता है कि यदि परंपरागत सोच में बदलाव नहीं करोगे तो तुम्हारे प्रति व्यवहारों में बदलाव आ पाना बड़ा मुश्किल है। लेकिन शिक्षा रोजगार के नए क्षेत्रों में पदार्पन करोगे और संघर्ष करने के लिए तत्पर रहोगे तो सभी दकियानुसी विचार, व्यवहार अत्याचार निश्चित रूप से दफन होंगे। आर्थिक समस्या के कारण समाज का एक ऐसा हिस्सा जो अपने आप को बाज़ार में बेच देता है जिसे

[1] छप्पर - जय प्रकाश कर्दम - पृ.सं. 11

भारतीय समाज में वेश्या कहा जाता है। अचानक शहर में कर्फ्यू लगने के कारण सुमित वेश्यालय में अपनी जान बचाने के लिए जाता है। जब वेश्याओं को देखता है तो उसे वे सामान्य गृहस्थ औरतें दिखाई देती है। “परिस्थिति वश आज वह स्वयं वेश्याओं के बीच था। पर लगता नहीं था कि राष्ट्र की उन बेटियों में वेश्यावृत्ति भाव थे। भारतीय परिवारों में होता है वैसा ही पुरुषहीन इस परिवार में भी उसने महसूस किया था।”[1] वेश्याओं के जीवन की इस साधारणता और अन्य निर्धन परिवारों से समानता को लेखक इस तरह बयान करता है -“सुबह होने के बाद एक आम दिनचर्या उन कोठों पर भी होती चकले घरों में तब्दिल करने का प्रयास करने लगते हैं।”[2] लेखक ने वेश्याओं की गरीबी और लाचारी के कुछ मर्मस्पर्शी यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत किए हैं। एक बानगी देखिए -“शुक्र है आज बिना दूध की चाय नसीब हो गई। जैसे धूप चढ़ने लगी थी उनके पेट में भूख से कुलबुलाहट होने लगी थी। गैस पहले ही ख़त्म हो गई थी मिट्टी का तेल भी ख़त्म हो गया था। पड़ोस के कोठे से मांगने का मन नहीं हुआ। मांगते भी क्या। सभी कोठों पर खाने पिने की चीजे ख़त्म हो रही थी। पहले आटे के कनस्तर खाली हुए फिर मिट्टी का तेल, नमक मिर्च भी ख़त्म होने लगी। कोठो पर अभाव परसने लगा था और अभाव में तिलमिलाहट उभरने लगी थी।”[3]

वेशाएँ भी दूसरे समाज की तरह वंचित ही हैं गरीबी, दुःख, लाचारी और अत्याचार से पीड़ित इसलिए प्रतिकार का रास्ता भी सांझा संघर्ष ही हो सकता है। ऐसी समस्याओं को समग्र भारत में देख सकते हैं एक तरफ किसान मजदूरों की समस्या है तो दूसरी तरफ स्त्रियों की। जिस तरह हिंदी दलित उपन्यासों में हमने देखा कि ज्यादा तर दलित बस्तियाँ गाँव के बाहर हैं वैसे ही महाराष्ट्र में भी देखा जा सकता है। केशव मेंश्राम भी 'हकीकत और जटायु' में इसी तरह का चित्रण करते हैं। उनके ही शब्दों में- “मिल के बाजू में बसनेवाली वह बस्ती, एक छोटासा गाँव महार

[1] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 5
[2] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.13
[3] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 14

मातंगों का। सामाजिक वर्णव्यवस्था में जो पिछड़ी समझी जानेवाली ऐसी वसाहत। दादा दादी और हम सब उसी बस्ती में के थे।"[1] इस तरह समग्र भारत में देखा जाए तो दलितों की समस्या समान रूप से दिखाई दे रही है। इन सब के पिछे एक मात्र कारण आर्थिक दुर्बलता रही है। यह बात तो स्पष्ट है कि सामाजिक आर्थिक दृष्टि से ये लोग भारतीय जनसंख्या के सबसे छोटे अंग है। जो बात स्पष्ट नहीं है वह यह है कि इन के कष्ट मानव आत्मा के उस गंभीर रोग के लक्षण है, जो शताब्दी पहले हमारे समाज को लगा जो आज तक करोड़ों भारतवासियों के मस्तिष्क और उनके आचरण पर छाया हुआ है। यह सब इस बात के बावजूद यहां पर महात्मा बुद्ध जैसे सुधारक हुए और अब एक प्रबुद्ध राज्य की स्थापना हो चुकी इन दलितों की समस्या जितनी नैतिक और अध्यात्मिक है उतनी ही आर्थिक।

[1] हकीकत और जटायु - केशव मेश्राम - पृ.सं. 21

3.2 आर्थिक दुर्बलता के कारण सामंती व्यवस्था का शिकार होती दलित स्त्रियां

समाज में आज दलित स्त्रियों की दुरावस्था है आए दिन उनके साथ हत्या बलात्कार उत्पीड़न की त्रासद घटनाएं घटती रहती हैं। इसके पीछे जितना संवेदन शून्य जन समाज रहा है उस में कम उत्तरदाई हमारे प्राचीन शास्त्र रूढ़िवादी विचारधाराओं के पोषक व्यक्ति भी रहे हैं। इसी का परिणाम आज की दलित स्त्री भोग रही है। नीरा परमार का मानना है- "शास्त्रों ने स्त्री की अस्मिता, गरिमा और स्वतंत्रता को नकारते हुए अपने गंदे वसूलों से उसका कद छोटा ही किया है। कोई भी लड़की जब जन्म लेती है तब वह संपूर्ण व्यक्ति होती है। जैसे-जैसे वह बड़ी होती है उसे शास्त्र, रीति-रिवाज, लिंग, भेद के खांचों में कसकर औरत बनाया जाता है। यह मत करो, यह मत कहों, ऐसे मत उठो-बैठों, ऐसे मत बरतो की धाराएं फैलते-फैलते स्त्री मनुष्य की विकास यात्रा से बहुत दूर छिटक जाती है। हमारे धर्म और शास्त्रों ने स्त्रियों का शोषण योजनाबद्ध रूप से किया है। जब-जब स्त्रियों का दमन करना होता ऐसे ही ग्रंथों का हवाला देकर उसकी अस्मिता को कुचल ने का प्रयास किया जाता रहा है। हमारे धर्म ने स्त्रियों का आत्मसम्मान और आत्मविश्वास को कुंठित कर दिया है।"[1] इसलिए परंपरागत व्यवस्था में स्त्री को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। इस कारण स्त्री का दमन शोषण होता रहा है।

भारतीय समाज में कई ऐसी परम्पराएँ हैं जो अपनी विकृति के कारण आज अभिशाप बन गई है। दहेज़ भी एक ऐसी ही कुरीति है जिसके कारण प्रतिवर्ष हजारों स्त्रियाँ इसकी बलि पर चढ़ जाती हैं। विवाह एक धार्मिक अनुष्ठान है जिसमें प्राचीन काल से ही सभी पिता पूरी सामर्थ्य से अधिकाधिक धन, वस्तुएँ आदि अपनी विवाहित पुत्री को देते आएं है ताकि उसका भावी जीवन समृद्ध शाली हो सके व उपहार के रूप में शुरू हुई यह दहेज़ की परम्परा आज एक अनिवार्य रूप से समाज

---

[1] दलित अस्मिता - जून 2013- सं.विमला थोरात - पृ.सं. 28 अप्रैल

का अंग बन गई है। प्राचीन काल से चली आ रही यह परम्परा आज के आर्थिक युग में व्यक्ति की स्वार्थी महत्त्वाकांक्षाओं के बोझ तले तब गई है। दहेज़ अकेला ऐसा नासूर है जिसके कारण भारतीय समाज में कन्या का जन्म होने पर अधिकरत परिवार खुशियाँ नहीं मनाते हैं। कन्या जन्म को अभिशाप माना जाने लगा। कन्या के जन्म के साथ ही माँ बाप उसके विवाह की चिंता करने लगते हैं। 'थमेंगा नहीं विद्रोह' उपन्यास में देवी की जात लगाने के लिए हजारों के कर्जदार बनकर खेतों में बेगारी करते है। देवी के ख़ुशी के नाम पर अपने परिवार का सत्यानाश करके आर्थिक मज़बूरी में बड़ी बेटी भागों का विवाह एक तपेदिक के मरीज से करते है। मां द्वारा इस बेमेंल विवाह पर सवाल उठाने पर पुरुष अहंकार गालियाँ देकर पिटाई करते हुए उसे ही बेटियां पैदा करने का दोष देता है। "धडाधड हुआ कोठारी में घुसा और दो तीन चपेड लगाकर सोना को चुप कर दिया, लौंडिया ही लौंडिया की लैन लगा दी जन-जन कै, जब ना सोची यू बात, कै इनके ब्याह भी करनै पडौगो चुप हराम जादी जो एक ही सबद मूं सू लिकाडौ तौ।"[1] इस तरह आर्थिक मज़बूरी में भागों का विवाह करना पड़ता है।

इस के बाद दलित स्त्री को इस सामन्ती व्यवस्था में गाँव के भू मालिको एवं संपन्न वर्ग द्वारा जुल्म व दुर्व्यवहार झेलना पड़ता है। जिस में अबोध चावली, रामबती, गंगा की बहू आदि। इनके साथ दुष्कर्म भी होता है और एखाद हत्या भी कर दी जाती है। इस तरह अपराध जगण्य और क्रूरतम अपराध है। ऐसे विभिन्न कारणों से महिलाओं को इन अपराधो का सामना करना पड़ता है। कई बार बलात्कार करने के बाद अपनी पहचान छिपाए रखने के लिए बलात्कारी पीड़ित स्त्री की हत्या कर देता है। इसका उदाहरण हम 'जस तस भय सवेर' उपन्यास में देख सकते हैं। चौधरी देविपाल गाँव के सामंती वर्ग का प्रतिनिधि है। घांस लेने देविपाल के खेतों में गई रामरती, घुसिया, सन्नों बारिश में भीगने से बचने के लिए झोपड़ी में चली आई

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 144

उनका पीछा करते हुए वह वही पहुँच जाता है। चौधरी देविपाल इन्हीं महिलाओं को डरा धमकाकर उनका यौन शोषण करता है। आपसी एकता के अभाव में घुसिया दोनों स्त्रियों को अकेला छोड़कर भाग आती है इस पर लेखक कहते हैं- 'घुसिया पूरी शक्ति लगाकर प्रतिरोध करती रही, बेबस अवस्था में वह रोती कलपती रही, चिकती चिल्लाती रही। जैसे जी में आई गालियां भी बकती रही परन्तु कोई वहा उसकी पुकार सुननेवाला नहीं था क्योंकि वह नारी तो थी परन्तु थी तो दलित ही।'[1] इसके बाद घुसिया का बलात्कार कर उसे छोड़ देता। लेकिन बलात्कार करते समय उसका मुन्ना देख लेता हैं 'तभी उसी दंशती से चौधरी ने मुन्ना की गर्दन कुएं की मन पर रख कर काट दी।'[2] इस तरह चौधरी देविपाल दलित महिलाओं पर अत्याचार करता है। ऐसी विकृत मानसिकता से जुडे व्यक्ति पर टिप्पणी करते हुए निशांत सिंह कहते हैं- "कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही विकृत मानसिकता के होते हैं दूसरों को सताकर उनको दुःख पहुंचाकर ऐसे व्यक्तियों को अजीब सा सुख मिलता है, संतोष मिलता है। कुछ व्यक्तियों की मानसिकता इतनी विकृत होती है कि वे चिकती चिल्लाती स्त्री से बलात्कार करना पसंद करते हैं।"[3] यह पुरुष द्वारा किया जानेवाला सबसे घिनोना तथा अमानवीय कू कृत्य है। इसका विरोध करते हुए सुमेंधा कहती है ऐसे जगण्य अपराध को खत्म करना ही होगा तभी दलित महिलाएं सर उठाकर जी सकेगी। "वर्षा और धीरे-धीरे मिट्ठी बहकर उस खाई में बह जाएगी वह तो युगों-युगों की कहानी है। जीवन अनित्य है कल किसने देखा। इसलिए आज ही इस खाई को करवट बदलनी होगी और जिस दिन यह खाई निश्चय पूर्वक करवट बदलेगी उसी दिन पडौस के उच्चे टीले को अपने में आत्मसात कर लेगी अर्थात जब मेंहनत कश वर्ग इस कटु सत्य को समझेगा कि अर्थात निर्धन के साथ कथित रूप से समान रोटी-बेटी व्यवहार करनेवाले उसकी महिलाओं की इज्जत, अबरू, शील और लज्जा को अपनी वासना पूर्ति व वासना तृप्ति का साधन समजनेवाले उसका पेट काटकर उसका शोषण

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 13
[2] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 49
[3] औरत अस्मिता और अपराध - डॉ. निशांत सिंह - पृ.सं. 50

करनेवाले, उसे कीड़ें-मकौडों जैसी जिंदगी देनेवाले ये सुविधाभोगी, सामन्तवादी एवं शोषक तथा कथित योग्य और दक्ष एशोआराम कर रहा है उसका पेट काटकर रंगरेलियां मनाई जा रही है। कुत्तों को मक्खन उसके मेंहनत से खिलाया जा रहा है। जिस दिन गरीबी की परिभाषा बदल जाएगी उसी दिन निर्धनता का दुष्चक्र टूट जाएगा। उसी दिन मेंहनतकशों का शोषण बंद होगा। इसके लिए उनमें इच्छा शक्ति जागृत करनी होगी, मार्क्स ने तो कहा भी था कि दुनिया के मजदूर एक हो जाओं क्योंकि तुम्हारे पास गुलामी की जंजीरों के अलावा खोने के लिए कुछ है ही नहीं।"[1] इसलिए दलितों को अब ज्ञात हो रहा है कि ऐसी सामन्ती व्यवस्था का विरोध करना है तो इसके लिए हमें संगठित होना ही होगा।

ऐसा ही 'मिट्टी की सौगंध' उपन्यास में देख सकते हैं सामाजिक न्याय के पक्षधर और उपन्यास के नायक विजेंद्र सिंह के साथ हरिया सूरज और अंकुर है। मदन सिंह अत्याचारों के खिलाफ दलित इन्स्पेक्टर जगजीवनराम को शीला के साथ बलात्कार की गवाही देते और मदन सिंह के जुल्मों को ख़त्म करने के लिए मिट्टी की सौगंध खाते हैं। उपन्यास का आरंभ गाँव के जमीदार ठाकुर मदन सिंह से होता है शीला अपने माँ के साथ घर बैठी कुछ काम कर रही है, ठाकुर मदन सिंह आता है और उसकी माँ के सामने ही जबरदस्ती बलात्कार करता है। दोनों चीख-चिल्लाकर उसका विरोध करते हैं पर उसकी मदत करने के लिए कोई नहीं आता। शीला की इज्जत लुट जाती है और उसकी असाहय माँ कुछ नहीं कर पाती। अपनी बेटी के साथ हुई इस दुखद घटना का बड़ा अघात लगता है। परिणाम कुछ ही दिनों बाद माँ की मृत्यु हो जाती है। पिता का साया तो पहले ही उठ चुक था अब माँ भी नहीं रही। वह बिल्कुल अनाथ हो जाती है। उसकी दूर की मौसी से सहारा ले लेती है। वही उसे आगे जीने के लिए प्रेरित करती है। और ठाकुर मदन सिंह से बदला लेने के लिए उकसाती है- "मैं तेरा दर्द समझती हूँ बिटियां लेकिन तूने हिम्मत हारी तो कल को दूसरी शीला

---

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 47

की इज्जत भी लुट जाएगी। किसी से बदला लेने के लिए अपने अन्दर ताकत इक्कटा करनी होती है। तू इस जमात तक पढ़ी है इस से तू टकरा सकती है उस ठाकुर रूपी कुत्ते से।"[1] शीला जमुनी मौसी से सहमत है इसलिए ठाकुर से बदला लेने का मन बना लेती है। इस गाँव में शीला ही ऐसी अकेली लड़की नहीं है जिसके साथ बलात्कार हुआ है। ऐसी कितनी स्त्रियाँ है जो इस तरह के अत्याचारों से गुजरती है। इस संदर्भ में वीरेन्द्र सिंह यादव का कहना हैं कि- "शीला जैसी अनेक लड़कियां, गंगा, रधिया, शीला की मौसी जमुना इसी बलात्कार की शिकार है। उपन्यास कार ने जुल्मी ठाकुर के खिलाफ उसी के लड़के विजेंद्र सिंह को खड़ा किया जो दलित युवती शीला के सारे कष्ट उठाकर भी शादी करता है। इस के माध्यम से उपन्यासकार ने जाति बंधन तोड़ने की भी बात की है, लेकिन खतरे भी होते है यह भी नहीं भूला। किस तरह शीला और उसके गर्भ में पल रहे बच्चे को ख़त्म करने की ठाकुर मदन सिंह एवं उसकी माँ विजेंद्र सिंह की दादी माँ प्रयास करते हैं। और इंस्पेक्टर जनजीवन पर कातिलाना हमला करते हैं।"[2] इस तरह शीला को न्याय दिलाने विजेंद्र सिंह खड़ा हो जाता है। ऐसा कम ही देखने को मिलता है जो अपने ही परिवार के खिलाफ जाता हुआ। ऐसे लोग कम ही मिलते है लेकिन ऐसे लोगों की भी कमी नहीं जो न्याय के पक्षधर है। उनमें 'छप्पर' उपन्यास की कमला को भी देखा सकते हैं। कमला के संदर्भ में माताप्रसाद का कहना है- "लेखक ने इस उपन्यास में कमला के माध्यम से बलात्कार और उत्पीड़ित जाति की दलित लड़कियों की करुण गाथा को उकेरा है। वही समाज को भी यह सन्देश दिया है कि ऐसी बेबस ललनाओं के साथ सहानुभूति रखकर उन्हें अपनाया जाए। उपन्यास में सामंत हरनाम सिंह की सुशिक्षित लड़की रजनी के असमानता के विरुद्ध आक्रोश फिर से दूर करने के लिए स्वयं भी उस संघर्ष में कूद पड़ना एक क्रांतिकारी कदम है जो समाजवाद की तरफ ले जाने में सहायक होता है। इस में हरनाम सिंह अपनी भूमि गरीबों में बाट देना आर्थिक समस्या का एक समाधान

[1] मिट्टी की सौगंध - प्रेम कपाड़िया - पृ.सं. 70
[2] दलित विमर्श के विविध आयाम - वीरेन्द्र सिंह यादव - पृ.सं. 254

प्रस्तुत करता है।"[1] इस तरह सामाजिक संतुलन बनाने के लिए क्रान्ति के साथ-साथ सवर्णों की मानसिकता में भी परिवर्तन होना जरूरी है तब जाकर महिलाओं पर अत्याचार होना बंद होगा।

जिस तरह हमने अत्याचार को हिंदी उपन्यासों में देखा उसी प्रकार मराठी उपन्यासों में भी कोई कमी नहीं है हम 'हाडकी हाडवला' को उदाहरण के रूप में देखे तो सामन्ती व्यवस्था का शिकार यहाँ भी अनेक महिलाएं हो चुकी हैं। बायजा का पति अपने घर की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण काम की तलाश में मुंबई जाता है और काम मिलने पर कुछ पैसे घर भेजते रहता है। लेकिन भेजे हुए पैसे से घर पूर्ण रूप से नहीं चलता। यही सोचते हुए बायजा अपने बेटे सावला को भूखा तडपता हुआ नहीं देख सकती। इसलिए वह बाजू के खेत में सब्जी लाने जाती है तभी किसी ने आवाज दी- "ये...तेरी माँ का भोसड़ा क्या करती है उधर" तर्रर से उसके ऊपर आता है यह सब देखकर बायजा घबरा जाती है और कहती है- "कुछ नहीं पटेल थोड़ी सी सब्जी ले रही थी"। तभी घुस्से से वह कहता है 'तेरे माँ के पति ने रखा है क्या'? ऐसे कहते ही उसके दोनों हातों को पकड़कर जमीन पर लेट दिया। ऐसे अचानक प्रहार से बायजा डरने लगी। यह सब सावला देख रहा था। उसे रहा नहीं गया और अपने हाथों में पत्थर उठाकर उसे मारने लगा। यह पत्थर किसको लग रहें थे इसकी उसे चिंता नहीं थी पर माँ पर होने वाले अत्याचारों का विरोध कर रह था। बायजा चिकने-चिल्लाने लगी पर सावला के अलावा उसकी आवाज सुननेवाला कोई नहीं था। सावला को रहा नहीं गया एक बड़ा सा पत्थर उठाकर उसके सिर में जोर से डाल देता हैं तभी सिर से खून बहने लगता है। यह देखकर बायजा को हिम्मत मिलती है और उसकी चंगुल से छुट जाती है। उसके बाद बायजा ने ही उसे पत्थरों से मारना चालू किया तभी बायजा और सावला दोनों को उस से छुटकारा मिला।"[2] इस तरह स्वाभिमानी बायजा अपनी इज्जत बचाती है। बायजा के व्यक्तित्व पर टिपण्णी करते

---

[1] दलित अभिव्यक्ति संवाद और प्रतिवाद - जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं. 62

[2] हाडकी हाडवला - नामदेव ढसाल - पृ.सं. 22

हुए डॉ. हनमंत रामचन्द्र पोल का कहना है- “नामदेव ढसाल ने ‘हाडकी हाडवला’ में एक स्वाभिमानी स्त्री की कथा को कहा है।”[1] एक दलित स्त्री जानबूझकर अपनी इज्जत गवाना नहीं चाहती। चाहे वह बायजा हो या शीला, या अन्य स्त्री। वह आर्थिक मज़बूरी के कारण सामंतों के खेतों में जाते हैं और समय आने पर बायजा जैसा प्रतिकार भी करती हैं।

इस तरह दोनों भाषाओं के दलित उपन्यासों में सामन्ती व्यवस्था का शिकार होती दलित महिलाओं को देखा जा सकता है। ऐसा नहीं कि सामन्ती व्यवस्था में सारे सामंत बूरे है कुछ अच्छे भी है जो दलित समाज के दर्द को समझ सकते हैं और उनको सहारा देते हैं। इसको हम अन्ना भाऊ के उपन्यास फकीरा में देख सकते हैं। जब रानोजी जोगनी का कटोरा लेकर गाँव आया था तभी उसकी जान जाती है अब घर का कर्ता व्यक्ति चले जाने के कारण उसकी पत्नी मजदूरी करने लगती है उसको देखकर रावसाहब पटेल को लगता है कि गाँव के खातिर उसने अपनी जान गवाई है और उसी के घर वाले मजदूरी कर रहे हैं। यह कैसा न्याय, तभी रावसाहब पटेल कहता है- “राधा मजदूरी कर रही है, ऐसा जब रानोजी को पता लगेगा तो वह मेंरा सीर काट डालेगा। इसको कभी मजदूरी के लिए भेजना नहीं, घर में अनाज नहीं है यह ले कितना चाहिए एक दो तीन ...और कितना चाहिए ले जा।”[2] इस तरह समाज में रावसाहब, वीरेंद्र सिंह, कमला आदी जैसे लोग भी है जो सामाजिक समता के पक्षधर है। इसलिए जयप्रकाश कर्दम को भी लगता है कि- “सजा कोई समाधान नहीं रजनी। सजा देने की बजाय व्यक्ति की सुधार का प्रयास होना चाहिए। हिंसा का जवाब अहिंसा से दिया जाना चाहिए हमारा संघर्ष न्याय और समानता के लिए है। अतीत में हमारे साथ कैसा सलूक किया गया है, हम उस पर जाना नहीं चाहते क्योंकि उस से अच्छा परिणाम निकलने की आशा नहीं है, हम विरोध नहीं सामंजस्य

[1] आस्मितादर्श - सं. डॉ. गंगाधर पानतावणे - वार्षिक वेशेषांक 2013 : वर्ष 46, अंक 3, पृ.सं. 17
[2] फकीर - अन्ना भाऊ साठे - पृ.सं. 21

चाहते है।"[1] इस से स्पष्ट होता हैं कि हम सामाजिक न्याय के पक्षधर तो है पर हिंसा के पक्षधर नहीं। इसलिए दलित साहित्य बुद्ध के विचारों से प्रेरित है।

[1] दलित अभिव्यक्ति संवाद और प्रतिवाद - डॉ. जयप्रकाश कर्दम - सं. रूपचंद गौतम – पृ.सं. 61

3.3 दलितों में बाल मजदूरी की समस्या

दलित समाज में आर्थिक मजबूरी के कारण बाल मजदूरी की बड़ी समस्या है। इस आर्थिक मज़बूरी से दलित समाज के ज्यादा तर लड़के-लड़कियाँ बाल मजदूरी करते दिखाई देते हैं। इनकी इस मज़बूरी के पीछे ज्यादा तर इनके परिवार का बहुत बड़ा हाथ होता है। यह इसलिए कि दलित समाज में अज्ञानता तथा शिक्षा का महत्त्व पता न होने के कारण ये मजदूरी करते हैं। शिक्षा का व्यक्ति पर गहरा असर पड़ता है शिक्षा न होने के कारण इन बच्चों में अपराध बोध निर्माण होता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए निशांत सिंह कहते है- "मजदूर बस्तियों झुग्गी झोपड़ियों में अपराध अधिक पलते हैं क्योंकि वहाँ शिक्षा की कमी होती है। इसका कारण व्यक्ति की आर्थिक स्थिति को भी माना जा सकता है। यदि व्यक्ति उच्च शिक्षित होगा तो सामान्यतः उसकी आर्थिक स्थिति भी अच्छी होगी अच्छा पेशा या अच्छा रोजगार होगा। इसके विपरीत यदि व्यक्ति शिक्षित नहीं होगा या कम शिक्षित होगा तो उसके पास अच्छा रोजगार होने की संभावना कम ही होगी।"[1] उनका मानना है कि बाल मजदूरी को रोकने के लिए आर्थिक स्थिति मजबूत होनी जरूरी है और यह शिक्षा से प्राप्त हो सकती है। इसलिए डॉ. आम्बेडकर ने दलितों को शिक्षित बनों कहा था तभी समाज की सारी समस्याएँ दूर हो सकती है।

इन बाल मजदूरों के माता-पिता अपने घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए देहात की मुसीबतों से छुटकारा पाने के लिए शहरों की तरफ भागते हैं, यहाँ भी उनका दुर्भाग्य पीछा नहीं छोड़ता, गन्दी बस्तियों और झुग्गी झोपड़ियों में रहना पड़ता है यह सब उन्हें शहर जाने पर पता चलता है। जयप्रकाश कर्दम के हवाले से माताप्रसाद कहते हैं- "शहर में भी थोड़े से लोग सुखी और संपन्न है, शेष लोग अभाव और उत्पीड़न का जीवन जीते हैं। आदमी को यहाँ भी पेट की क्षुधा से लड़ना पड़ता है, तन ढकने के लिए मशक्कत करनी पड़ती है, झुग्गी झोपड़ियों में रहने को विवश

[1] औरत अस्मिता और अपराध - डॉ. निशांत सिंह - पृ.सं. 37

होना पड़ता है। बहुत से लोगों के पास झुग्गी झोपड़ी तक नहीं होती है उन्हें फुटपाथ पर पड़े रहकर जीवन बिताना पड़ता है।"[1] इस तरह उन गरीब माता-पिताओं की स्थिति है। इन स्थितियों में माता-पिता अपने घर की हालात सुधारने के लिए अपने बच्चो को मजदूरी करने भेज देते है। इन सभी समस्याओं को उजागर करनेवाला अरुण साधू का उपन्यास 'झिपय्या' को देख सकते है। इस उपन्यास में शहर में रहने वाले उस दलित समाज का चित्रण है जिस को दो जून की रोटी मयस्सर नहीं। यशोदा और उसका परिवार इसी समस्या का शिकार है। यशोदा को दो बच्चे है लीला और झिपय्या। लीला भी बाल मजदूर है जो दूसरों के घर जाकर कपडे एवं बर्तन मांजती है। झिपय्या का व्यवसाय बूट पॉलिश का है। हर दिन सुबह उठकर वह रोज मुंबई के लोकल ट्रेन में बूट पॉलिश करता है। उसके साथ उसके अन्य मित्र भी है जिसमें पिंगल्या, नाया, असलम ये सभी रोज मजदूरी करते हैं इनका एक मात्र दोष यह है कि इनके परिवार की आर्थिक स्थिति कमजोर है। इस कारण अपना पेट भरने के लिए रोज मजदूरी तथा काम करना पड़ता है। एक दिन असलम जब लोकल ट्रेन में पॉलिश के लिए जोर-जोर से बोल रहा था तभी बाजू के किसी व्यक्ति ने उसे डाटा तो उसका जवाब देते हुए असलम कहता हैं- "माफ़ करना साब ... माफ़ करना! भौत बड़ी गलती हुई माफ़ करना! मय ऐसा चिल्लाना नहीं चाहता। मगर क्या करूँ! यह निक्कमा पेट, यह पापी पेट चिल्ला चिल्ला के कहता है कि असलम उठ अपने दोनों हाथों से काम कर। इस दुनिया के लोग पाँव में जूते चडाते हैं, उन जूतों की धूल निकाल, उन जूतों को साफ कर। अपने दिल के माफिक साफ़ कर। उन्हें चमका दें। तेरी एक टैम की रोटी मिल जाएगी। लेकिन साब क्या करूँ ये पेट भी बड़ा जिद्दी हय कि अय असलम, मर जाओं पर भीख नहीं मांगना। कहता हय कि अपने खुद के पसिने से कमाई रोटी स्वर्ग होती है और भीख की रोटी नरक। भूखा मर जा असलम लेकिन भीख नहीं मांगना क्या करूं साब मजबूर हूँ, लेकिन तकलिब के लिए माफ़ करना।"[2]

---

[1] दलित अभिव्यक्ति संवाद और प्रतिवाद - सं. डॉ. रूपचंद गौतम - पृ.सं. 60

[2] झिपय्या - अरुण साधू - पृ. सं. 114

इस तरह दलित समाज के लड़के आर्थिक मज़बूरी के कारण मेंहनत मजदूरी कर कमाई की रोटी खाना पसंद करते हैं।

इतनी छोटी उम्र में भी वह अपने घर परिवार को चलाने के सपने देखते हैं, आर्थिक रूप से बड़े होने के सपने देखते हैं। एक दिन फुटपाथ पर बैठे असलम और झिपय्या को कोई ग्राहक न मिलने पर झिपय्या कहता है- "ये ऐसा कैसा पंटर? जो सबसे गरीब उसे कोई पूछता तक नहीं। अल्ला तो छोड़ों साला कुत्ता भी नय पूछता, फिर वह बड़ा कैसे हो सकता हय? उसे खाने को भी कुछ नहीं मिलता, फिर वह अल्लाह का प्यारा कैसे? यह तेरी बात ठीक नहीं है। मैं तो भय अमीर बनना चाहूँगा, अरे सारे पॉलिशवाले लड़के को एक एक घर दे दूंगा।"[1] इस तरह अमीर बनने के सपने झिपय्या देख रहा था। वह अपनी आर्थिक स्थिति से उब गया था। लोग जिस तरह से शानो शौकत से जीते है ऐसा ही सपना देख रहा था। ऐसी बात नहीं है कि लेखक ने इस समस्या का समाधान नहीं दिया हैं, लेखक इस समस्या का समाधान भी देते है। जिस घर में लीला काम करने जाती है उस घर की मालकिन यानी की पार्सिन को मिलने जब झिपय्या जाता है तब उसे पूछती है कि तुम क्या करते हो? झिपय्या का जवाब था मैं बूट पॉलिश करता हूँ। तभी पार्सिन लीला को बुलाती है और मास्टर जी के पास ले जाकर स्कूल में दाखिला कराती है। इस समस्या का हल शिक्षा से ही हो सकता है इस ओर लेखक संकेत करता है। झिपय्या के शिक्षा का पूरा खर्च पार्सिन उठाती है और लीला को भी घर बैठकर पढ़ाती है। इस तरह से सभी समस्याओं का मूल कारण यही है। अगर हम शिक्षा प्राप्त करते हैं तो हर समस्या पर विजय पा सकते हैं। इसी बात को समझकर हिंदी उपन्यास 'छप्पर' में सुक्खा और रमिया अपने बेटे को दरिद्र अवस्था में भी पढाई के लिए शहर भेजते हैं। ताकि वह पढ़ लिखकर अच्छी नौकरी कर सके, सम्मान प्राप्त कर सके। चन्दन जब पढ़ लिखकर सम्मान प्राप्त करता है तो इस पर टिप्पणी करते हुए रजत रानी मीनू कहती हैं- "चन्दन इस मोहल्ले में

---

[1] झिपय्या - अरुण साधू - पृ. सं. 115

दलितों के नंगे गंदे और आवारा घूमते बच्चों के लिए स्कूल खोलकर उनमें शिक्षा रूपी मंत्र फूंकता है और उनमें गुलामी का अहसास कराता है। उनके मन में मानवीय चेतना के प्राण संचारित करता है।"[1] इस तरह हम देख सकते हैं कि आर्थिक स्थिति को बदलना है तो हमें उस सूत्र को याद रखना पड़ेगा जो बाबासाहब ने दिया था यथा- शिक्षित बनों। जब तक दलित समाज का हर बच्चा शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाएगा तब तक समाज में बाल मजदूरी की प्रथा बनी रहेगी। इसलिए हमें चाहे जितने भी कष्ट आए सुक्खा और रमिया की तरह हमें बच्चों को पढ़ाने से पीछे नहीं हटना है तभी जाकर हमारे समाज में हजारों चन्दन पैदा होंगे।

[1] दलित अभिव्यक्ति संवाद और प्रतिवाद - सं.डॉ.रूपचंद गौतम - पृ.सं. 80

3.4 वेश्यावृत्ति : एक आर्थिक समस्या

वेश्यावृत्ति यह एक ऐसी समस्या है जिसकी कोई परिधि निर्धारित नहीं की जा सकती। वस्तुतः वेश्यावृत्ति संसार के प्रत्येक हिस्से में तथा सभी देशों में व्याप्त है। तथ्य बताते है कि वेश्यावृति को रोकने के जितने भी प्रयास किए गए वे सभी पूर्णतः असफल रहे। इसे जितना भी दबाने का प्रयत्न किया गया यह उतनी ही फलती फूलती रही है। कानून की नजर से देखे तो धन कमाने के उद्देश्य से किसी स्त्री द्वारा पुरुषों को अपने साथ सहवास करने की अनुमति देना ही वेश्यावृत्ति है। वेश्यावृत्ति एक नैतिक अपराध है लेकिन अधिकतर वेश्याएं इसे अपना पेशा बताती है इसे व्यापार मानती है। वेश्याओं के पास आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उनका ग्राहक होता है। उसी व्यक्ति को अपना तन बेचकर धन कमाती है। वास्तव में वेश्यावृत्ति ने आज एक व्यापार का ही रूप ले लिया।

वेश्यावृत्ति हर काल में हर युग में समाज शास्त्रियों और विद्वानों के लिए एक चिंता का विषय रही है। और इसे रोकने के उपाय भी यदा कदा किए जाते रहे हैं। प्राचीनकाल में नगर की सुंदर लड़कियों को नगर वधु बना दिया जाता था। ये नगर वधुएँ वेश्याओं का ही एक रूप थी। इस के बाद हमारे देश में देवदासी प्रथा गरीब दलित लड़कियों को वेश्यावृति में धकेलने का एक जरिया थी। इसे कानूनन बंद कर दिया गया फिर भी यह प्रथा अभी भी जारी है। वेश्यावृत्ति को कानूनन जुर्म बना दिए जाने के बाद भी उसका प्रचलित रहना समाज की दोगली और पाखंडी मानसिकता का परिचायक है। इस संदर्भ में डॉ. निशांत सिंह का मानना है कि- "कुछ धार्मिक परम्पराएँ भी वेश्यावृत्ति को बढ़ावा देती रही है और धर्म के नाम पर वेश्यावृत्ति करना-करवाना केवल प्राचीन भारत में ही नहीं था वरन् कही विदेशी सभ्यताओं में भी उदाहरण मिलते हैं। प्राचीन मंदिरों में पुरोहित वर्ग वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन और संरक्षण देते थे व इसी प्रकार दक्षिणी भारत के मंदिरों में कन्याओं को यक्षम्मा देवी को समर्पित कर देने की प्रथा और पण्डे पुजारी उस कन्या के शरीर से अपनी

शारीरिक प्यास बुझाते थे। वेश्यावृत्ति का यह रूप 'देवदासी प्रथा' कहलाती थी और दुर्भाग्य से दक्षिणी भारत के कुछ मंदिरों में आज भी यह प्रथा धड़ल्ले से चल रही हैं।"[1]

निशांत सिंह का मानना है कि भारत में ऐसी कुछ जातियाँ हैं जो पूर्णतः वेश्यावृत्ति पर निर्भर है- "हमारे यहां ऐसी ही कुछ जातियां भी हैं जो वेश्यावृत्ति द्वारा ही अपना पेट भरती है। उत्तर भारत तथा मध्य भारत में बेडिया नामक एक जनजाति निवास करती है जिसका पुश्तैनी पेशा ही वेश्यावृत्ति है। इस जाति में कन्या के जन्म पर खूब खुशियाँ मनाई जाती क्योंकि जवानी की अवस्था में कन्या ही परिवार का एक मात्र साधन होती है। इस जाति में 14-15 वर्ष की आयु से ही कन्याओं को देह व्यपार के धंदे में धकेल दिया जाता है और पूरा परिवार कन्या के जिस्म को बेचकर ही अपना रोटी-पानी का जुगाड़ करता है।"[2]

वेश्यावृत्ति के कारण

कोई स्त्री क्यों और कैसे वेश्यावृत्ति के धंदे में उतरती है इसके अनेक कारण हो सकते हैं। वेश्यावृत्ति के पीछे विभिन्न आर्थिक सामाजिक कारण है लेकिन इतना सत्य है की कोई स्त्री मात्र अपनी शारीरिक हवस मिटाने के लिए इस धंदे में नहीं आती। विभिन्न पारिवारिक समस्याएं, पतिद्वारा दुर्व्यवहार, विवाह पूर्व स्थापित अवैध शारीरिक संबंध, तथा कथित प्रेमी द्वारा किया गया विश्वासघात और परिजनों, प्रेमियों आदि द्वारा स्त्रियों को बाजार में बेच देना ऐसे कारण है, जो किसी स्त्री को कोठे तक पहुंचा देते हैं। वेश्यावृति के धंदे में आने वाली अधिकतर स्त्रियां आर्थिक कारणों के चलते इस पेशे को अपनाती है। तथ्य बताते हैं कि बिहार जैसे तथा उड़ीसा जैसे गरीब राज्यों में बहुत सी युवतियाँ भुखमरी से बचने के लिए देह व्यापार को अपना पेशा बनाती है। इसके अलावा स्त्रियों की खरीद-फरोख्त भी वेश्यावृति का एक

[1] औरत अस्मिता और अपराध - डॉ. निशांत सिंह - पृ.सं. 112,113
[2] औरत अस्मिता और अपराध - डॉ. निशांत सिंह - पृ.सं. 113

प्रमुख कारण है। कई बार देखा गया है कि कुछ पुरुष किसी अबोध युवती को अपने प्रेम जाल में फसा लेते है और एक ऐश्वर्यशाली सुखद जीवन का सपना दिखाकर वे उन्हें भगा ले जाते हैं। ऐसे मामलों में कुछ दिनों तक तो पुरुष, युवती को किसी दूर के शहर या महानगर में रखकर उसका जी भर दैहिक शोषण करता है और मन भर जाने के बाद युवती को किसी कोठे पर बेच देता है। इस प्रकार झूठे प्रेम जाल में फसाकर युवती घर की दहलीज से कोठे के बिस्तर तक पहुँच जाती है।

तलाकशुदा और विधवा महिलाएँ भी अक्सर अपने बच्चों का पेट भरने के लिए अपना जिस्म बेच देती है। अधिकतर महिलाएँ आर्थिक मज़बूरी के चलते ही इस पेशे को अपनाती हैं लेकिन धीरे-धीरे यह पेशा ही उसको अपना लेता है और वह चाह कर भी इस भंवर जाल से बाहर निकल नहीं पाती। स्त्रियों को उनकी अस्मिता उनकी जान से भी बहुत प्यारी होती है लेकिन फिर भी यदि कोई महिला अपना जिस्म बेचने को मजबूर होती है तो उसकी मज़बूरी उसकी विवशता को समझा जा सकता है।

अब तक हमने समाज में वेश्याओं की क्या स्थिति रही है और क्या कारण रहे है इस पर विचार किया। अब हमें साहित्य में वेश्याओं की क्या स्थिति है और लेखको ने वेश्याओं को किस रूप में प्रस्तुत किया इस पर नजर डालते है। लेखकों ने सामान्यतः वेश्याओं को या तो बेहद चकाचौंध भरा जीवन जीनेवाली, कला संगीत नृत्य में कुशल कलाकार के रूप चित्रित किया या अपनी कुटिल चालबाजियों द्वारा शरीफ जमीदारों को लूटनेवाली और उनकी भोली-भाली पत्नियों की गृहस्थी को चौपट करनेवाली दुष्टाओं के रूप में ही प्रस्तुत किया है, जब कि दोनों ही रूप में वे जमीदार और अपराधियों के मन बहलाव का साधन थी। मेंरा यह मानना है कि इस रूप में वेश्याओं को या स्त्री को चित्रित करना लेखकों की मानसिकता का पूर्वाग्रह से ग्रसित होना ही है।

हमें कुछ साहित्यिक स्रोतों का विश्लेषण करते समय इस बात पर धान देना होगा कि स्त्री के प्रति अपनाया गया दृष्टिकोण किस तरह का था। सकारात्मक या नकारात्मक। देखा यह गया है कि प्राचीन साहित्य से इस संबंध में विरोधी विचार मिलते हैं, जिन्हें आधार बनाकर स्त्री की सामाजिक स्थिति को उच्च या निम्न दोनों रूपों में आसानी से विश्लेषण कर सकते हैं और अपनी इच्छा नुसार स्त्री को देवी या दासी के खांचे में फिट कर सकते हैं। औपनिवेशिक काल से आज तक प्राचीन साहित्य के इस तरह के तमाम उद्धहरणों का इस्तमाल किया जाता रहा है। जरूरत है इन संदर्भों और उद्धहरणों के तुलनात्मक अध्ययन की जिससे समाज में स्त्री की वास्तविक स्थिति तय की जा सके। तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट रूप से उजागर होता है कि प्राचीन भारतीय समाज स्त्री को दोयम दर्जे का नागरिक मानता था। गृह लक्ष्मी की उपमा, 'यत्र नार्यास्तु पुजन्ते रमन्ते तत्र देवता:' जैसे उद्धहरणों से सिर्फ भ्रम की स्थिति पैदा होती है जो वास्तविकता से भटकाव पैदा कराती है।

उपर्युक्त बातों से यह ज्ञात हो जाता है कि साहित्य में एक आम स्त्री का दर्जा दोयम था तो वेश्याओं की क्या स्थिति रही इससे अंदाजा लगाया जा सकता है। आगे चलकर उन्नीसवी सदी के शुरुआत में हमारे देश में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से नए विचारों का प्रसार हुआ और हमें पाश्चात्य संस्कृति से रूबरू होने का मौका मिला। इस के साथ ही यूरोप के यथार्थवादी और प्रगतिशील साहित्य से परिचित होने का मौका मिला तो हमारे साहित्यकारों का नजरिया भी बदलने लगा। कुछ साहित्यकारों ने इस विषय में कलम चलाई लेकिन समस्या की जड़ तक नहीं जा पाएं। इस संबंध में कार्लमार्क्स ने 1844 की दर्शन और अर्थशास्त्र संबंधी पांडूलिपियों में बताया है कि लन्दन में ज्यों ज्यों औद्योगीकरण का विकास हुआ है समाज में वेश्याओं की संख्या बढ़ने लगी। समाज में व्याप्त असमानता बढती बेरोजगारी के साथ-साथ बड़ी संख्या में चोरी छूपे वेश्यावृत्ति करनेवाली स्त्रियों की संख्या में भी काफी इजाफा हुआ वे कम्युनिष्ट घोषणा पत्र में लिखते हैं- "हमारे बुर्जुआ इसी से संतोष न करके वे अपने

मजदूरों की बहू बेटियों का अपनी मर्जी के मुताबिक इस्तेमाल कर सकते हैं, सामान्य वेश्याओं की तो बात ही क्या एक दूसरे की बीवियों पर हाथ साफ करने में विशेष आनंद प्राप्त करते हैं।"[1]

मार्क्सवाद को मानने के बावजूद अपने ब्राह्मणवादी हिंदू संस्कारों के चलते भारत के मार्क्सवादी लेखक जाति और स्त्री समस्याओं के विषय में कोई उल्लेखनीय रचना नहीं दे सकें। जैसा कि डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'हिंदुत्व का दर्शन' में दिखाया है, यह विचारधारा स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारे के पूर्ण खिलाफ है। जैसा मार्क्स ने कहा है शासक वर्ग के विचार ही समाज के विचार बन बैठते हैं वैसे ही सामन्ती, पूंजीवादी हिन्दू विचारधारा समाज की विचारधारा बन बैठी इसे चुनौती दीए बिना और हिन्दू संस्कारों से छुटकारा पाए बिना मार्क्सवाद को समझना और अपनाना बहुत मुश्किल है। इसका मुकाबला किए बिना शासक वर्ग का मुकाबला करना संभव नहीं।

यह काम भारत में आम्बेडकर और आम्बेडकरवादी लेखकों ने किया है। इस संदर्भ में बजरंग बिहारी तिवारी से बातचीत करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं- "दलित आन्दोलन ने स्त्री समस्याओं को अपने सरोकारों में हमेंशा शामिल रखा है, स्त्री पीड़ा को अपनी पीड़ा के साथ जोड़ने की कोशिश की है। यह परम्परा दलित आन्दोलन को ज्योतिबा फुले से विरासत में मिली है। उस समय जब हिन्दू धर्म में स्त्री शिक्षा विधवा विवाह की कल्पना भी नहीं थी, बल्कि इन विषयों का विरोध होता था, तब महात्मा फुले ने इन विषयों को अपने आन्दोलन का हिस्सा बनाया उन्हें इस में सफलता भी मिली। डॉ. अम्बेडकर ने भी अपने आन्दोलन में स्त्री समस्याओं को प्रमुखता से रखा। गोदी कामगारों में स्त्री कामगारों की दयनीय और अपमानजनक स्थितियों के विरुद्ध आवाज उठाई। आन्दोलन किया। स्त्री अस्मिता के पक्ष में अनेक

[1] कार्ल मार्क्स - कम्यूनिष्ट घोषणा पत्र - पृ.सं. 52

नियम बनाएं।"[1] डॉ. आंबेडकर ने हिन्दू विचारधाराओं के दुष्प्रभावों शासित वर्ग की एकता को तोड़ने में उसकी भूमिका को और समाज में स्त्री विरोधी मानसिकता के प्रसार में उसकी भूमिका की सही पहचान की और उसे जबरदस्त चुनौति दी। डॉ. बाबासाहब आंबेडकर 'बुद्ध और कार्लमार्क्स' में लिखते हैं- "भगवान् बुद्ध चक्कवति सुत्त में भिक्खुओं को उपदेश देते हुए कहते हैं (15) और बंधुओं, इसलिए दीन-हीनों, दरिद्रों से वस्तुएं माल न दी जाने से निर्धनता फैली, उसका विस्तार हुआ चोरी, हिंसा, हत्या, झूठ, बुराई करना आदि जैसी बाते प्रचुर मात्रा में बढ़ गई। (16) झूठ बोलने से जार में कर्म वृद्धि हुई। (17) इस प्रकार दीन-हीनों को माल वस्तु न दिए जाने के कारण निर्धनता... चोरी... हिंसा... झूठ... चुगलखोरी... अनैतिकता फैली, उसका विस्तार हुआ। (18) बंधुओं उनके बिच तीन चीजों की वृद्धि हुई। ये थी कौटुबिक व्यभिचार, अनियंत्रित लालच तथा विकृत लोभ।"[2] यानी की डॉ. अम्बेडकर वेश्यावृति और व्यभिचार के लिए निर्धनता और असमानता को ठीक ही जिम्मेदार बता रहे हैं।

इसी तरह जार्ज स्टुअर्ट मिल ने मार्क्स-एंगेल्स का हवाला देते हुए कहां है- "ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्व दृष्टिकोण से मार्क्स-एंगेल्स ने सभी सामाजिक आर्थिक संरचनाओं और सांस्कृतिक विधिक नैतिक अधिरचनाओं की व्याख्या करते हुए नारी प्रश्न के वर्गमूलों और इतिहास पीठिका को उद्घाटित किया और यह स्पष्ट किया कि निजी सम्पति पर आधारित सामाजिक संबंधो-संस्थाओं-मूल्यों के अस्तित्व में आने के साथ ही स्त्री समुदाय की दासता की शुरुआत हुई। उन्होंने बताया है कि बेबस स्त्रियों और बच्चों की सस्ती श्रमशक्ति की लूट पूंजीवादी समृद्धि की अट्टालिका की एक महत्त्वपूर्ण आधारशिला है। पूंजीवादी समाज में मेंहनत कश स्त्रियाँ निकृष्टतम कोटि की गुलाम होने के साथ ही यौन आधार पर शोषण उत्पीड़न का शिकार होती

[1] कथादेश - सं. हरिनारायण - मार्च 2005 पृ.सं. 62
[2] डॉ. बाबासाहब संपूर्ण वाङ्मय - भाग - 6, 1998 अप्रैल - पृ.सं. 365

है।"[1] इनका मानना है कि पूंजीवादी व्यवस्था में स्त्री का शोषण आर्थिक आधार पर ही हुआ। अम्बेडकरवादी दर्शन बताता है कि स्त्रियों के साथ अत्याचारों का गहरा संबंध जातिवाद से है और जातिवाद का गहरा संबंध हिंदूवादी विचारधारा से अतः हिंदूवादी विचारधारा को चुनौती दिए बिना देश में समतावादी विचारधारा के आधार पर समाज व्यवस्था बनाना संभव नहीं है इस के लिए जरूरी है कि सभी उत्पीडित, अति उत्पीड़ितों के नेत्रत्व में संघर्ष करे। इसी संघर्ष की पहल भी डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने की। मोहनदास नैमिशराय कहते हैं- "बहुत कम लोगों को मालूम है कि जनवरी 1928 में मुंबई में महिला मंडल की स्थापना हुई। डॉ. बाबासाहब आंबेडकर की धर्म पत्नी रमाबाई अम्बेडकर उसकी अध्यक्ष थी। 1930 में नागपुर में 'डिप्रेस्ड क्लासेज' सम्मेलन के समय महिलाओं की ओर से अलग सम्मेलन में भाग लेकर लौटे तो कामठी की सभा में सैकड़ों महिलाएँ आयी थी इनमें ऐसी महिलाएँ भी थी। बाबासाहब ने विशेष उन महिलाओं की वेश्यावृत्ति छुड़वाकर नेक जीवन जीने के लिए प्रेरित किया था। उस समय उनके बीच वेश्यावृत्ति उन्मूलन नाम से एक संगठन की स्थापना की गई थी।"[2] इस तरह डॉ. आम्बेडकर स्त्री उद्धार के लिए जीवन भर कार्य करते रहे। उनकी स्थापनाओं से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वेश्यावृत्ति का प्रमुख कारण आर्थिक स्थिति से है।

जिस तरह डॉ. बाबासाहब ने वेश्यावृत्ति को समाप्त करने के लिए अनेक सुझाव दिए इसी तरह ऐसी समस्या पर आधारित मोहनदास नैमिशराय का उपन्यास 'आज बाज़ार बंद है' भी सुझाव देता है। स्त्रियों के प्रति अन्याय और अत्याचार का सबसे विकृत रूप वेश्यावृत्ति है। लेखक ने वेश्याओं का न केवल यथार्थवादी चित्रण किया है, बल्कि वेश्यावृत्ति को खत्म करने का रास्ता भी बताया है। वे उपन्यास की भूमिका में बताते हैं कि डॉ. बाबासाहब आम्बेडकर के धर्म परिवर्तन आन्दोलन के समर्थन में 16 जून, 1936 को देवदास ठाकुर हाल में बम्बई की वेश्याओं ने एक सभा

---

[1] स्त्रियों की पराधीनता - जार्ज स्टुअर्ट मिल - पृ.सं. 17
[2] दलित पत्रकारिता भाग 1 - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 65,66

की थी इस सभा में देवदासी पत्राजे, भूते, आधारी और जोगति पंथ से संबंधित स्त्री-पुरुषों ने बड़ी संख्या में भाग लिया था। इस सभा में डॉ. आम्बेडकर ने कहा था- “आप हमारे साथ धर्म परिवर्तन करें अथवा न करें यह मेरे लिए अधिक महत्त्व का विषय नहीं है, परन्तु मैं आग्रह करता हूँ कि यदि आप हमारे आन्दोलन में रहना चाहती है तो आपको यह अपमानित जीवन त्यागना चाहिए।”[1] बाबासाहब अम्बेडकर का मानना था कि सामाजिक सुधार के लिए स्त्रियों का योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मोहनदास नैमिशराय के उपन्यास ‘आज बाजार बंद हैं’ में वेश्याओं का जो चित्रण हुआ है उसने ज्यादातर गरीबी लाचारी और आर्थिक अभाओं का जीवन देखने को मिलता है। वेश्याएं अपराधी नहीं लाचार है इसलिए उनका जीवन भी अन्य निर्धन परिवारों की तरह आभाव में दिखाई देता है ऐसे कई उदाहरण इस उपन्यास में देखने को मिलेंगे। वेश्याएं भी समाज के दूसरे वंचितों की तरह ही गरीब, दुःखी, लाचार और अत्याचार से पीड़ित हैं। इसलिए लेखक एक मात्र रास्ता दिखता है वह हैं प्रतिकार का। जब तक प्रतिकार नहीं करेंगे तब तक शोषण होता रहेगा इसलिए अब तुम्हें ऐसे जीवन को त्यागना है तो प्रतिकार करना ही पड़ेगा। अंततः वेश्याएं अपनी स्थिति से मजबूर होकर विरोध प्रदर्शन करती है। लाठी की चोट से शरीर तो घायल होता है पर उनका आत्मसम्मान नहीं। शबनम बाई मरते हुए भी आजादी की कामना से कहती हैं- “याद रखों, तुम सभी इस पेशे से मुक्त होना है।”[2] इस तरह आर्थिक लड़ाई भी सामाजिक लड़ाई बन जाती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के कारण आर्थिक लड़ाई के साथ साथ सामाजिक लढाई लढने को विवश हो जाता है इसी का उदाहरण हम इसी उपन्यास में देखते हैं। इस समस्या को आधार बनाकर लिखा गया दूसरा उपन्यास नहीं होने के कारण इस बिंदु पर तुलना का कोई औचित्य नहीं। पर इस बात की तुलना तो जरूर हो सकती है कि समाज में वेश्यावृत्ति कहां तक जायज है और इसके पोषक कौन हैं। आज जिस तरह वेश्याओं का जीवन हम देख रहे हैं

---

[1] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - भूमिका
[2] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 150

इसका सबसे बड़ा कारण आर्थिक दुर्बलता है। एक जगह डॉ. बाबासाहब आम्बेडकर ने कहा था कि पहले सामाजिक लढाई खत्म करों फिर अपने आप आर्थिक लढाई खत्म हो जाएगी। इसलिए हमें इस बात पर जोर दे कर कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि वेश्यावृत्ति एक सामाजिक समस्या होते हुए भी मूलतः आर्थिक समस्या है।

3.5 सुनहरे भविष्य के मुरझाते सपने और उगता विद्रोह

हरिराम मीणा का मत है कि दलितों का आर्थिक शोषण होता रहा है। उनके ही शब्दों में- "जहाँ तक श्रम का सवाल है बहूसंख्यक व्यापक लोक का निश्चित रूप से आर्थिक शोषण होता रहा है लेकिन इस श्रम सम्मत वर्ग में जो आदमी गैर-शूद्र वर्णों के थे उन्हें दोयम दर्जे का इंसान होने का दुख नहीं भोगना पड़ा। इसके विपरित शूद्रों को यह त्रासदी भोगनी पड़ी। यहा हमें अंतर करना पडेगा शोषित और शोषित दमित का। शूद्र का शोषण तो हुआ ही उसका दलन व दमन भी हुआ। मनुष्य के रूप में शूद्र के लिए मूलभूत नागरिक अधिकारों का नकार उसकी व्यक्तिगत गरिमा, अस्मिता, मर्यादा का नकार, समाज में उसकी मनुष्य के रूप में स्वीकृति का नकार, समाज में सदस्य के रूप में उसकी पहचान का नकार यह सब केवल शूद्र के लिए हुआ। परंपरागत शूद्र ही आधुनिक दलित अवधारणा है। दलित के साथ सबसे बड़ा बंधन था उसका जाति विशेष में जन्म लेना, जिससे उसका छुटकारा तक संभव नहीं जब तक कि जाति व्यवस्था पूरी तरह टूटे नहीं। ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था के रहते यह कतई सम्भव नहीं। शिक्षित व साधन सम्पन्न दलित भी एक सीमा तक इस त्रासदी से मुक्त नहीं हो पाता है। दूसरी ओर शिक्षित सवर्ण वक्ति भी इस पूर्वाग्रह से आगे नहीं जा पाता।"[1] उक्त सभी प्रश्न आज के परिप्रेक्ष्य में उमराव सिंह जाटव का उपन्यास 'थमेंगा नहीं विद्रोह' भी प्रस्तुत करता है।

इस उपन्यास में भी वही परिस्थितियाँ हैं जो ऊपर कही गई हैं। लेखक ने गायब होती हरियाली के स्थान पर उगते कंकरीट के जंगलों को दिखाता है जिस में गांव का वातावरण पूर्ण रूप से बदल गया। अब पहलेवाले पारिवारिक एवं सामाजिक संबंध नहीं रहें संबंधों में लाभ-हानी की स्थिति जुड़ गई, सड़कें बदल गई, दुकाने बदल गए, दफ्तर बदल गए, रिश्ते बदल गए और रिश्तेदारों की पहचान भी धीरे-धीरे गायब होती जा रही है। आज गांवों में बढता रोजगार का संकट, गरीबी की

[1] दलित अस्मिता - सं. विमल थोरात - पृ .सं .24

दलदल और सामंती मानसिकता द्वारा मेंहनतकशों पर अत्याचार आदि वातावरण को देखते-देखते लेखक गांव की स्मृतियों में खो जाता है। हम उम्र रिक्शा चलानेवाले महेश जाटव, बलदेव सुनार का घर, बशीर सक्का, जयचंद बौद्ध के तर्क, ठुल्ले भक्त के मंदिर के खण्डहर, दल्ले गपोड़ी, ताऊ मथुरा, भागो बहिन के गीत, माँ की याद, नीम के पेड़, पिता और भाइयों की याद, भुस्सी की अम्मा, ताई ज्ञानों, हरु का पैन चुराना और उसकी पिटाई करना खेतों में घुसना इत्यादि प्रकरण रह-रहकर उसको याद आने लगते हैं।

किसानों की जमीन बिक चुकी है इस कारण अब वह मज़दूरी करने को अभिशप्त है लेकिन दलितों से अच्छी जिंदगी जी रहे हैं। मगर दलित पहले भी मजदूरी करते थे और जब मजदूरों की फौज इस मोहल्ले में भरी पड़ी तो मजदूरी के अभाव में शहरों की तरफ पलायान कर रहे हैं। गाँव में नशाखोरों, जुआखोरों की फौज अपने काम में लगी है, लम्बे चौड़े परिवार मगर साधनविहीन, रोजगारहीन जाटव मोहल्ले की नई पौध बदल गई है, उसमें किसी संदेह की गुन्जाईस नहीं। एक गहरी सोच लेकर उसने सोचा- "हाँ सचमुच में ही बदल गया लेकिन सुखद और सकारात्मक बदलाव आया इस दरियापुर के जाटव मोहल्ले में और इसकी नई पौध में, केवल उसमें निःस्पृहता यदि न आई होती तो कितना अच्छा होता तब। आज इस जाटव मोहल्ले में दसियों तो अधिकारी बन गए, अध्यापक, प्रधानाध्यापक, बैंक अधिकारी, डाक्टर, इंजीनिअर, पुलिस और सेना में बीसियों थानेदार-हवालदार छोटे-मोटे व्यवसायी तथा राजनीतिज्ञों और छुटभईये नेताओं की पूरी फौज की भरमार है अब तो।"[1] गरीब मोहल्ले में गरीबी का साम्राज्य है, सूद खोर उनका मनमाना शोषण करते हैं। सुबह जल्दी उठकर घर का काम निपटाकर महिलाएँ काम के लिए भागती नजर आती हैं। कड़ी धूप में जी तोड़ मेंहनत करने के बाद ये लोग पांच-छह माह का अनाज इकट्ठा करके परिवारों को कम से कम रोटी की चिंता से मुक्त करने का प्रयास

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 293,294

करते हैं। 'नहाने धोने के लिए इस माह फुर्सत किसी के पास नहीं। ... यह अन्नार्जन पर्व हैं, नहाने धोने को भूलना होगा। खाट पर पड़ते ही एक गहरी बेहोशी भरी नींद और भोर से भी पहले, शुक्र तारे के उगते ही फिर वही मशीनी प्रक्रिया इस पूरे माह में जारी रहेगी।'[1] इतनी मेंहनत करने के बावजूद भी उन्हें पूर्ण रोजगार नहीं मिलता तो चारों तरफ एक ही शब्द सुनाई देता हैं काटो...काटो...काटो। 'पूर्ण कालिक रोजगार के अभाव में हमीद लुहार भी इस समय दरांती बनाने के काम से ही कुछ आस पाले हुए है। सुबह से शाम तक आस लेने की फुरसत नहीं उसे भी। उसके लिए भी यह अन्नार्जन पर्व है।'[2]

गांवों का सामाजिक माहौल गरीबी के पक्ष में नहीं है। यहां भूपतियों का आतंक और गरीब, मजदूरों को जन्मजात नौकर समझने की मानसिकता हावी है। साथ ही साधन विहीन लोगों में बढती शिक्षा ने एक प्रतिकार को जन्म दिया। गाँवों में इसाई मिशनरी स्कूल व अस्पताल लोगों की शिक्षा व स्वास्थ्य के प्रति जागरूक कर रहे हैं। गांवों की भाषा, बोली, पहनावे, के साथ-साथ श्मशान भूमि भी जातिवार है। गाँव छोड़कर मजदूरी के लिए शहर भागते लोग सामाजिक आर्थिक व्यवस्था से दुखी है। ग्रामीण जीवन में मरते मिटते लोगों को शील की जरूरत नहीं, वे स्वयं शीलवान है। बल्कि जरूरत उनको है जो शील हीन है, जमींदार हैं, अत्याचारी हैं, समानता के विरोधी हैं, दलित बच्चों के साथ स्कूलों में भेदभाव करते हैं और रातों-रात अपनी बहू-बेटियों की भ्रूण हत्याएँ करवाने के लिए मारे-मारे फिरते हैं। 'फिर से आधा मुहल्ला वहाँ इकट्ठा हो गया फिर से वही पूछताछ इतने-इतने दिनों तक दरियाव गांव की और मुंह तक भी क्यों नहीं करता? मेंरे बेटे ने एम. कॉम कर लिया है, नौकरी नहीं मिलती, मिल तो जाए रिश्वत देने की औकत नहीं है, कही काम धंधे पर लगा दो, न हो तो दिल्ली में कही चौकिदारी पर ही रखवा दो, जैसे बाजार लगा दो किसी महाराजा का, जवाबी प्रतिवेदन की भीड लग गई- मेंरा बेटा, मेंरा भाई, मैं

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 32
[2] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 35

स्वयं बी.ए. बी.एस.सी. एम.एस.सी. एल.एल.बी. इत्यादि हूँ, कही नौकरी लगवा दो, बाबू चपरासी पुलिस में सिपाई, सेना में सिपाई, कुछ न हो सेना में पुलिस में नाई, धोबी ही लगवा दो, दिहाडी मजदूरी करता फिरता हूँ। जबरदस्ती ब्याह कर दिया है बाप ने और तीन बच्चे भी हो गए है। बगल के नोएडा शहर में फैक्टरियों में दिहाड़ी मजदूरी करने के लिए सुबह सबेरे सैकड़ों की संख्या में सायकिलों पर, रेलगाड़ी से, बसों में भर-भर कर कतार की कतार इस दरियापुर के जटवाड़े से केवल हजार पन्द्रह सौ की कमाई को अवकाश के दिनों में खाली पड़े रहकर जुआ में फूकते हैं ...ताऊ मथुरा जीवित होता तो सौ-सौ आसू रोता इन पढ़े-लिखे जुआ खेलते, मजदूरी करते, अपने पत्नियों से अब भी मजदूरी कराते टिप्पणी करते दरियापुर के इन जाटवों को देखकर।'[1]

गांव से निकलकर शहरों में जा बसे मगर अपने परिवार को भूल गए, इसलिए उपन्यासकार कहता है- "उन बीसियों-तीसियों पुलिस अधिकारी, बैंक अधिकारी, प्रधानाध्यापक, शिक्षक, वकिल, सेना में, पुलिस में भरे पड़े लोगों ने पलटकर क्या दिया है इस मुहल्ले को, इस जाति को? पढ़े-लिखे बने बेरोजगार लोगों का हुजूम। इन्होंने केवल अपने झोपड़ों को घर बनाने को ही जीवन का चरम एवं परम उद्देश्य तथा इति समझ लिया है। जो पिछड़ गए हैं, जो छूट गए हैं उनके दर्द का कोई बोझ इनकी आत्मा पर नहीं है।"[2] इसी समाज में जन्मे शिक्षित एवं रोजगार प्राप्त युवाओं द्वारा अपने पीछे छूटे समाज की अनदेखी की है। इन अधिकार संपन्न दलितों को इन अधिकार विहीन दलितों के लिए रास्ता बनाना चाहिए था। जो आरक्षण था, वे इन्हीं अधिकार विहीन लोगों के लिए दिया गया था लेकिन इस से इन्हें अधिक का लाभ नहीं हो पा रहा है। इस का कारण है सम्पन्न दलितों द्वारा सब कुछ हजम कर जाना, सरकार द्वारा पदों को समाप्त कर के विभागों का निजीकरण व ठेकेदारी प्रथा लागू

---

[1] थमेगा नही विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं.311

[2] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 312

किया जाना। अधिकार विहीन पिछड़ते जा रहे लोगों के प्रति हो रहे राजकीय गैर राजकीय सामाजिक सांस्कृतिक राजनैतिक भेदभाओं के खिलाफ चेतनशील समाज को सोचना होगा और इस से ही नया सवेरा आएगा। भारतीय गाँवों में कायम अज्ञानता, अंधविश्वास, कुपोषण, बेरोजगारी, जातिवादी व्यवहार और सामाजिक भेदभाओं से निकलनेवाले सच का सामना करते-करते बेचैनी पैदा होने लगती है। 'चारों ओर दयनीय चेहरे, बाबासाहब ने आदेश दिया था 'शिक्षित बनों' बन गए। अब क्या करे ये लोग बस यही नहीं समझ पा रहे हैं...? कौन उबारेगा इन्हें? क्या कोई और भी रास्ता था जिसे बताना बाबासाहब भूल गए थे।'[1] आगे उपन्यासकार कहते हैं- "यह दरियापुर कैसा है? किसका है? दरियाव की सांस घुटती सी लगी। उसे लगा यदि यहाँ से न भागा तो उसका दम घुट जाएगा। पांच-पांच बच्चे सब अनपढ, गवार, काम के नाम पर मजदूरी, फिर भी सब के बाल बच्चे लगता तो यही है कि यह भी अनपढ़ गवार ही रह जाएंगे और मजदूरी करेंगे। झपटमारी करेंगे। अकेले जयचंद के घर में ही यह हालत नहीं हैं। त्राहिमाम... हे... बाबासाहेब... त्राहिमाम। तुम इन्हें क्या बनाना चाहते थे क्या बन रहे हैं साहेब।"[2]

ऐसी समस्या पर सटीक टिप्पणी करते हुए डॉ. महेंद्र कुमार मिश्रा ने बहुत ही सरलता से इसका उत्तर दिया है- "भारतीय समाज में परम्परागत रूप से जो जातियाँ दलित, वंचित एवं पिछड़े वर्ग से संबंधित है, उनको आर्थिक दृष्टि से भी कमजोर माना गया है। जाति व्यवस्था के साथ एक भावना यह रही है कि जो निम्न है उसे कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। निम्न जातियों की कार्यों कि प्रकृति भी निम्न रही है। फलस्वरूप दलित और वंचित वर्गों में जिन जातियों का उल्लेख है वे अपनी आय, संपत्ति एवं अन्य आर्थिक उपलब्धियों की दृष्टि से पिछड़ी रही है। स्पष्ट है कि आर्थिक आधार पर उच्च जातियाँ उच्च रही और निम्न जातियाँ निम्न रही। धन व श्रम का असमान वितरण और सामाजिक न्याय की असमानता ही जातिगत असमानता को

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 312
[2] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 319

दर्शाता है।"[1] इनके मत से बात स्पष्ट हो जाती है कि जातिगत विषमता के कारण ही आर्थिक विषमता भारतीय समाज में है। इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए उमराव सिंह जाटव कहते हैं- "ये बावले हो गए हैं, गरीबी से बावले हो गए हैं।"[2] इनके बावलेपन का इलाज है अधिकार , रोजगार जमीनों में हिस्सा, सरकारों में हिस्सा, संसाधनों में हिस्सा, राजनैतिक नेत्रत्व और सत्ता।

संविधान प्रदत्त अधिकारों को लागू करने को लेकर सरकारों द्वारा कोई निश्चित पद्धति न अपनाए जाने से सामाजिक आर्थिक क्षेत्र में विद्यमान असमानता समाप्त होने के बजाय निरंतर बढ़ी है। उच्च शिक्षित होकर भी रोजगार नहीं मिलते, रोजगार है तो इनके लिए रिश्वत का प्रबंध नहीं। चारों तरफ डिग्रियों की भरमार के बीच देखते हैं कि साधन विहीन युवा व कमजोर वर्ग के लोग शिक्षित होकर भी मजदूर ही बन रहे हैं। कारण यह नहीं है कि रोजगार नहीं है, रोजगार तो है, लेकिन वह मिलते उसको हैं जिनके पास योग्यता चाहे कम ही हो लेकिन प्रबंध जरूर हो। रिश्वत शिफारिश भाई-भतीजावाद के पायदानों की तलाश में रह-रहकर सवाल करते हैं कि हमें रोजगार दिलाओं! कही दिलाओं!! आज आवश्यकता है युवाओं के खाली हाथों में सरकारी एवं गैर सरकारी क्षेत्र में रोजगार देने की क्योंकि बेरोजगार और अभावग्रस्त लोगों की फौज हमारे सामने मुंहबाहे खड़ी है। उनके लिए सामाजिक आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना राज्य का दायित्व है। 'नौकरियाँ तो हैं नहीं पढ़कर क्या करोगे' यह वाक्य गरीब और असहाय परिवारों की पीढ़ियाँ बर्बाद करने के लिए काफी है। इन लोगों का कोई एक रास्ता हो सकता है तो यह है बेहतर तकनीकी व रोजगार परक शिक्षा यदि व इस दिशा में आगे बढ़ेंगे तो निश्चित रूप से उनको सामाजिक सम्मान मिलेगा। थमेंगा नहीं विद्रोह उपन्यास सवाल उठाता है कि अब अगला रास्ता कौन सा है? यह रास्ता वंचित त्रस्त लोगों को कहाँ तक ले जाएगा यह चिंता की बात है। यही सारी चिंताए एकत्रित होकर एक दिन विद्रोह में बदलेगी और

---

[1] सामाजिक समस्याएं और उनके संमाधान - डॉ. महेंद्र कुमार मिश्रा -पृ.सं. 74

[2] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 313

उस विद्रोह को कोई भी सामाजिक सत्ता या प्रशासनिक सत्ता दबा नहीं पाएगी। हद हो चुकी है, पीड़ित लोगों को न्याय नहीं मिल रहा है। वे गरीबी की दलदल में चिल्ला-चिल्लाकर अपने हक्क माँग रहे हैं लेकिन उनकी आवाज संसद, विधानसभाओं के कानों तक, धर्म के कानों तक नहीं जा रही है। बीच में ही रोक दी जाती है, दबा दी जाती है, लेकिन इसका अंत होगा, जरूर होगा और वह होगा सामूहिक लोकतांत्रिक, अस्मितावादी चेतना से पैदा होनेवाली ताकत से, जो निश्चित रूप से इस समाज की बिगड़ी व्यवस्थाओं का लोकतान्त्रिक तरीके से नवनिर्माण करने में सफल होगी।

इसी तरह की समस्याएँ मराठी के उपन्यास में भी देख सकते हैं। दलित समाज के सुनहरे सपने जातिगत गुलामी तथा आर्थिक समस्या के कारण मुरझा जाते हैं। उनको इस तरह के कार्य करने पड़ते जो परम्परागत रूप से चले आ रहे हैं अगर वे छोड़ना भी चाहते है तो वे छोड़ नहीं सकते क्योंकि अगर वे छोड़ते हैं तो सवर्ण उन्हें गाँव के बाहर निकालने तथा दाना पानी बंद करने की धमकी देते हैं। इसका उदाहरण 'हाडकी हाडवला' उपन्यास में देख सकते हैं- "इनकी शादी में लकड़ियाँ तोड़ने का काम, कोई मर गया तो पचास-पचास मील की दूरी पैदल यह खबर गाँव-गाँव तक पहुँचाने का काम महार करते हैं। चाहे घर में त्यौहार ही क्यों ना हो फिर भी ऐसे कार्य करने पड़ते हैं। इनके खेतों में जानवर जाते तो भी महारों को ही हकालकर गाँव की कोठारी में लाना होता था इनके घर में कुत्ते या बिल्ली मर जाने पर महारों को ही बाहर निकालना पड़ता था।"[1] इस तरह के घिनौने कार्य दलित समाज को करने पड़ते थे अगर वे नहीं करते तो उनके साथ जबरदस्ती पंचायत बुलाकर गाँव के बाहर जाने का आदेश देते। इसलिए दलितों के सुनहरे सपने मुरझा जाते हैं। ऐसा ही कार्य 'हकीकत और जटायू' में भी देख सकते हैं- "अगर कोई मर गया तो उसे जलाकर मिलनेवाली आमदनी से घर चलाया जाता है। साथ ही श्मशान में

[1] हाडकी हाडवला - नामदेव ढसाल - पृ.सं. 33

गड्ढे खोदने का कार्य ज्यादातर दलित समाज या महारों को ही करना पड़ता था।"[1] इस तरह दलित समाज को हद से गिरकर कार्य करने पड़ते थे। उनके जो सपने हैं हमेंशा के लिए गायब हो जाते हैं। अब बचता है उनके पास विद्रोह, यही विद्रोह दलित समाज को नई राह, नई दिशा देने का कार्य करता है। एक जगह डॉ. बाबासाहब आम्बेडकर ने कहा भी था 'गुलामों को गुलामी का अहसास करा दो वह अपने आप विद्रोह करेगा' यह वाक्य आज दलितों के लिए कितना सार्थक और सिद्ध हुआ है आज के दलित आन्दोलन और दलित समाज को देखकर समझ सकते हैं।

[1] हकीकत और जटायु - केशव मेश्राम - पृ.सं. 58

चतुर्थ अध्याय

4. हिंदी एवं मराठी के दलित उपन्यासों में सांस्कृतिक एवं धार्मिक अस्मिता की पहचान का तुलनात्मक विवेचन

4.1 सांस्कृतिक अस्मिता और दलित बस्तियाँ

4.2 सांस्कृतिक अस्मिता व सशक्ति के सामाजिक संघर्ष में नए पड़ाव

4.3 मंदिर निर्माण की सार्थकता यानी वंचितों की बर्बादी

4.4 धर्म पोषित गुलामी में उलझे लोग और समाधान की तलाश

4. हिंदी एवं मराठी के दलित उपन्यासों में सांस्कृतिक एवं धार्मिक अस्मिता की पहचान का तुलनात्मक विवेचन

तथाकथित दलित समाज धर्म के कारण किस तरह सर्वांगीन विकास से दूर रहा इसका विवरण हम बुद्ध शरण हंस के शब्दों देख सकते हैं। वे लिखते हैं- "भारत देश में ब्राह्मणों ने ब्राह्मण ग्रथों शास्त्रों के जरिये इस देश के बहूजनों के विरोध में अनेक तरह के फतवे जारी किये थे यथा- शिक्षा प्राप्त नहीं करना, धन संग्रह नहीं करना, गन्दा पेशा करना, बेगार करते रहना, घर में जो कुछ सुंदर और सुखदायक पैदा हो जाए यथा- सुंदर स्त्री, दुधारू गाय, फल-सब्जी, सोना-चांदी या अन्य कोई भी सामान, इन सब चीजों पर उनके चाहने पर ब्राह्मणों को पूज्य मानकर देते रहना। सम्मान पूर्वक नहीं रहना, सम्मान जनक बात व्यवहार भी आपस में नहीं करना, गंदे तौर-तरीके से रहना, जूठे अन्न खाना, ब्राह्मण के शरीर से उतारे फटे-पुराने कपड़ों को पुण्य मानकर पहनना, ब्राह्मण जब भी मांगे उसे दान देते रहना। ब्राह्मणों के इस बहूजन विरोधी विचार और अभियान से बहूजनों की आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, वैचारिक, और धार्मिक इतनी हानी हो गई जिसकी भरपाई देश की आजादी के आज पचपन साल के बाद भी नहीं हो पाई है।"[1]

हजारों सालों से चली आ रही ब्राह्मणवादी विचारधारा भारतीय समाज के नस-नस में समा गई थी। ऐसी विचारधारा को जड़ से उखाड़ फेकने के लिए असरदार दवा की जरूरत थी इस दवा का जन्म 14 अप्रैल 1891 (महू) में हुआ और उसका नाम था डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर। अम्बेडकर ब्राह्मणवादी जहरीले इंजेक्शन का खात्मा बनकर आये थे। फिर भी बुद्ध शरण हंस कहते हैं- "बाबासाहब अम्बेडकर ने ब्राह्मणवाद के इस जहरीले इंजेक्शन को जाना और पहचाना। बाबासाहब को यह जानकर बहुत पीड़ा और घबराहट हुई कि ब्रह्मणों द्वारा बहूजनों के मन में दिया जा रहा ब्रह्मणवाद का जहरीला इंजेक्शन इतना घातक और असरदार है कि बहूजनों को

---

[1] अंबेडकरवादी विचारधारा और समाज - सं. तेज सिंह - पृ.सं. 171

इतना भी सोचने की शक्ति नहीं है कि वे सब भी मनुष्य है और एक इन्सान के नाते उन्हें भी सम्मान और सुख पूर्वक जीने का हक्क है। बाबासाहब अम्बेडकर को यह भयानक समस्या समझ में आ गई। अब उन्हें इसका माकूल समाधान खोज निकालना था। मार्ग दाता बाबासाहब अम्बेडकर ने इसी खोज की धुन में संसार के मार्गदाताओं के दर्शन को पढ़ा, समझा और उस पर मंथन किया।"[1] इस तरह हम सब जानते हैं कि इस समस्या का हल एक मात्र बाबासाहब अम्बेडकर और उनकी विचारधारा ही है। ब्राहमणवादी विचारधारा एक फतवे की तरह सब पर थोपी गई इसलिए समाज का विकास नहीं हो पाया। इस पर विमला थोरात का मानना है कि- "धर्म की अधिसत्ताएँ जब सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का छद्म नाम लेकर राजनीतिक सत्ता तक पहुँचती है तो उसकी मूलभूत संकीर्ण सोच की प्रबलता का प्रदर्शन देश के धर्मनिर्पेक्ष सिद्धांत को चकना चूर कर देता है। असहिष्णुता, क्रूरता बर्बरता की प्रवृत्तियाँ प्रधान होकर देश में धार्मिक उन्माद को और मजबूती देती हैं और अन्य संस्कृति, धर्म सम्प्रदायों का सह अस्तित्व उसके लिए असहनीय हो जाता है। एक धर्म, एक सम्प्रदाय, एक गौत्र में रक्त की शुद्धता की पौराणिक परम्परा को प्रमुखता देकर जनमानस में अलगाववाद, जातिवाद और संप्रदाय की भावना को उकसाया जाता है। देश के संविधान के धर्मनिर्पेक्षता, सहिष्णुता, समता, स्वाधीनता, न्याय और भाईचारे के उदात्त तत्वों की प्रधानता का विरोध तब संविधान को बदलने तक के कट्टर तालिबानी फैसलों तक पहुँचता है।"[2] धार्मिकता का आधार लेकर कोई राजनीतिक पार्टी सत्ता में आती है तो वह तालिबानी फतवे जारी करना शुरू कर देती है। इसलिए मानव आधिकार यहाँ ख़त्म हो जाता है। इस अर्थ में इस धरती पर पहले ऐसे व्यक्ति रहे होंगे जो अपने विचार किसी पर थोपने के बजाय विचार स्वतंत्र पर बल दिया, वह है बुद्ध। इस संदर्भ में तेज सिंह का कहना है कि- "गौतम बुद्ध दुनिया के ऐसे दार्शनिक चिन्तक है जिन्होंने अपने विचारों को किसी पर थोपने के बजाय

[1] अंबेडकरवादी विचारधारा और समाज - सं. तेज सिंह - पृ.सं. 171

[2] दलित अस्मिता - सं. विमला थोरात - अप्रैल-जून2013 पृ. संपादकीय

विचार स्वतंत्र पर बल दिया और अपने अनुयायियों से कहा कि जीव जगत को समझने के लिए वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाएँ। 'कालामसुत्त' में कालामों को दिया गया बुद्ध का उपदेश इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित है कि किसी बात को इसलिए मत मानो की बड़े लोग या विद्वान लोग कहते हैं; किसी बात को इसलिए मत मानो कि ग्रथों में ऐसा लिखा हुआ है; प्रत्येक बात को अपनी अनुभूति से परखने के बाद ही मानना चाहिएं।"[1] सवाल यह उठता है कि प्रत्यक्ष अनुभूति को ही श्रेष्ठ क्यों कहां है? निश्चित तौर पर बुद्ध के मन में यह आशंका रही होगी कि उनके बाद उनके विचारों को लोग तर्क और प्रत्यक्ष अनुभूति पर परखने के बजाय अंधश्रधा के साथ अनुसरण करते चले जायेंगे। इसलिए बुद्ध ने लोंगो से कहाँ कि अपना दीपक आप बनों। यही वजह है कि उन्हें विचार स्वातंत्र के अपने वैचारिक उदबोधन को 'अत्त दीपो भव' के सिद्धांत में प्रतिपादित करना पडा। इस दृष्टि से 'कालामसुत्त' में कालामो को दिया गया बुद्ध का उपदेश विश्व में मानव विचार स्वातंत्र का पहला ज्ञानोदयी विचार है। इस आधार पर 'कालामसुत्त' को मानव स्वतंत्र्य के ज्ञानोदय का पहला घोषणा पत्र भी कहा जा सकता है। विचार स्वातंत्र्य की दृष्टि से बुद्ध का यह 'अत्त दीपो भव' का सिद्धांत दुनिया के मनुष्यों के लिए प्रेरणा स्त्रोत बन गया है।

आगे चलकर डॉ. अम्बेडकर ने ऐसे विचारों से प्रेरणा पाकर विचार स्वातंत्र के सिद्धांत को अपने चिंतन का आधार बनाया और ब्राह्मणवादी विचारधारा की गुलामी से मुक्ति के लिए मानसिक स्वतन्त्रता को महत्त्वपूर्ण माना। 31 मई, 1936 को मुंबई में धर्मान्तर के प्रश्न पर विचार करने के लिए आयोजित महार परिषद् के अधिवेशन में डॉ. अम्बेडकर ने स्पष्ट शब्दों में ब्राह्मणवादी विचारधारा से मुक्ति के लिए आव्हान करते हुए कहा कि शारीरिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ मानसिक स्वतन्त्रता की भी जरूरत है। जिसका मन स्वतंत्र नहीं है वह स्वतंत्र हो कर भी गुलाम है। जिसक मन स्वतंत्र नहीं, वह कैद में न होकर भी मृत व्यक्ति के समान है। मन की स्वतन्त्रता ही जीवंतता की निशानी है। डॉ. अम्बेडकर ने व्यक्ति के मन की स्वतन्त्रता

---

[1] अम्बेडकरी विचारधारा और समाज - सं. तेज सिंह - पृ.सं. 33

को विचार स्वातंत्र से जोड़ा। इसी संदर्भ में उन्होंने दलित वर्ग से प्रश्न किया कि क्या आप मानसिक रूप से स्वतंत्र है? उनकी दृष्टि में वही व्यक्ति मानसिक रूप से स्वतंत्र है जिसके पास विचार करने के लिए तर्कबुद्धि और विवेक है, कार्य कारणता की सोच है और जो परिस्थियों का दास नहीं है, जो परिस्थितियों पर काबू पाने में समर्थ है, जो रुढियों का गुलाम नहीं है, जो किसी का अन्धनुयायी नहीं है, जो दूसरे द्वारा नियंत्रित नहीं है, जिसमें स्वाभिमान है और जिसकी चिंतन शक्ति ख़त्म नहीं हुई है; सारांश यह है कि जो पूरी तरह स्वाधीन है वही व्यक्ति स्वातंत्र्य है। इस तरह जो व्यक्ति स्वाधीन नहीं है वह स्वतंत्र भी नहीं हो सकता। व्यक्ति की स्वातंत्र्य के साथ स्वाधीनता जुड़ी हुई है। उनकी दृष्टि में- "जिस तरह पानी की बूंद समुद्र में गिरकर अपना अस्तित्व उसमें विलीन कर देती है, उस तरह व्यक्ति समाज में रहकर उसमें अपना अस्तित्व नहीं खो देता। व्यक्ति का जीवन स्वतंत्र है। वह समाज की सेवा करने के लिए पैदा नहीं हुआ है वरन् अपने आत्म विकास के लिए उसका जन्म हुआ है यही एक कारण है कि विकसित देशों में कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दास नहीं बनाता है। पर जिस धर्म में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है वह मुझे स्वीकार नहीं है। हिन्दू धर्म व्यक्ति के महत्त्व को मान्यता नहीं देता इसलिए वह मुझे स्वीकार नहीं है। मैं उस धर्म को स्वीकार नहीं करता, जिसमें सिर्फ एक वर्ग को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार हो, दूसरे वर्ग को केवल हथियार चलाने का हो, तीसरे वर्ग को व्यापार और चौथे वर्ग को केवल सेवा करने का अधिकार हो। हर व्यक्ति धन चाहता है, जिस धर्म का मकसद कुछ ही लोगों को शिक्षित करना और शेष समाज को अंधकार में रखता हो, वह धर्म नहीं है, बल्कि वह साजिश है। जो धर्म एक वर्ग को शास्त्र धारण करने की इजाजत देता है और दूसरे वर्ग को ऐसा करने से रोकता है, वह धर्म नहीं है, वरन् वह दूसरे लोंगो को निरंतर गुलामी में रखने का षड्यंत्र है। जो धर्म कुछ लोगों को संपत्ति कमाने का मार्ग खोलता है और बाकी लोगों को जीवन की दैनिक जरूरतों के लिए भी उन दूसरे लोगों पर निर्भर रहने के लिए बाध्य करता है, वह धर्म नहीं है, वरन् पागलपन है। भारत में इसी धर्म को 'चातुर्वर्ण' कहा जाता है। इस संबंध में मैंने अपने

स्पष्ट विचार रख दिए है। अब यह आपको सोचना है क्या हिन्दू धर्म आपके लाभदायक है या नहीं। एक व्यक्ति के उत्थान के लिए तीनों चीजो की जरूरत होती है- सहानुभूति, समानता और स्वातंत्रता। क्या आप अपने अनुभवों से यह कह सकते हैं कि यह तीनों चीजें आपके लिए हिन्दू धर्म में मौजूद हैं।"[1]

इसलिए डॉ. अम्बेडकर स्वाधीनता की कसौटी पर व्यक्ति की स्वातंत्र्यता को कसते हैं। हिन्दू धर्म और समाज की व्याख्या की और बताया कि हिन्दू धर्म में किसी को भी विचारों की स्वातंत्र्यता नहीं हो सकती। जो भी व्यक्ति हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज व्यवस्था में रहेगा, उस हर व्यक्ति को अपने विचार स्वतंत्रता की तिलांजलि देनी ही पड़ेगी। डॉ. अम्बेडकर ने इसका कारण यह बताया है कि हिदू धर्म और हिन्दू समाज में व्यक्ति को हर हालत में वेदों में लिखित विचारों के अनुसार आचरण करना होता है। और वेदों में ऐसी आज्ञा न हो तो स्मृतियों की आज्ञानुसार चलना होता है। यदि स्मृतियों में वैसी आज्ञा न हो तो हिन्दू धर्म के अनुसार सर्वाधिक संपन्न जाति के या हिन्दू समाज व्यवस्था के प्रमुख लोगों और उनके द्वारा तय किये गए सामाजिक बंधनों का अनुसरण करना पडता है। अगर पुनः डॉ. अम्बेडकर के शब्दों का सहारा ले तो कह सकते हैं कि हिन्दू धर्म में व्यक्ति के बुद्धिविवेक का कोई मूल्य नहीं है क्योंकि उसमें विचार स्वातंत्र्य नाम की कोई चीज नहीं है। इसलिए डॉ. अम्बेडकर ने दलित वर्ग को सचेत करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था कि अगर आपको वेदों सहित हिन्दू धर्म-ग्रथों की गुलामी से और उनके विचारों ने मुक्ति चाहिए तो इस कथित हिन्दू धर्म को त्यागना पड़ेगा क्योंकि जब तक आप हिन्दू धर्म में है और इस हिन्दू समाज व्यवस्था के अंग के रूप में है तब तक आपको किसी भी प्रकार के विचार स्वातंत्र्य की प्राप्ति असंभव है। इस तरह अम्बेडकर की दृष्टि में विचार स्वातंत्र्य ही व्यक्ति स्वातंत्र्य है। भले ही डॉ. अम्बेडकर ने यह विचार दलित वर्ग के धर्मान्तरण के संदर्भ व्यक्त किये हो लेकिन व्यक्ति स्वातंत्र्य की दृष्टि से साहित्य और समाज के लिए उनके यह विचार आज भी उतने ही उपयोगी है जितने उस समय थे। जिस समाज में विचार स्वतंत्र्य

[1] समाजवादी अम्बेडकर - कँवल भारती - पृ.सं. 100

नहीं है उस समाज में व्यक्ति स्वातंत्र्य के लिए भी कोई जगह नहीं है। डॉ अम्बेडकर की दृष्टि में ऐसा समाज जो सोचने में नहीं अनुसरण में विश्वास रखता है। अनुसरण का अर्थ है- तर्क बुद्धि और विवेक को ताक पर रखकर जो धर्म ग्रथों में लिखा हुआ है जो साधु संतों सहित प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा कहा गया है का आँख मुंदकर अनुसरण करना और सोचने की प्रक्रिया को अवरुद्ध कर देना। इसलिए जिस समाज के लोग सोचने की बजाय सिर्फ अनुसरण को प्राथमिकता देते है; रूढ़िवादियों की तरह पवित्र धारनाओं पर अंधश्रधा रखते हैं; उन्हें हमेंशा ही यह डर लगा रहता है कि उनके आदर्श, मान्यताओं और परम्पराओं का विखण्डन हो जाएगा, जिनसे वे अभी तक चिपके हुए थे। यही वजह है कि एक हिन्दू स्वतंत्र सोच या विचार के बजाय अनुसरण पर अधिक विश्वास कर के रूढिवादी और परम्परावादी बना रहता है। जो आधुनिक व्यक्ति है और जो लोकतांत्रिक जनवादी मूल्यों और विचारों पर विश्वास रखता है, वह अनुसरण के बजाय स्वतंत्र्य सोच को अपने चिंतन का आधार बनाता है; क्योंकि उसके पास ज्ञान की एक तर्क प्रणाली होती है। दलित उद्धारक डॉ. अम्बेडकर ने दलित समाज को मानवीय अधिकार देने के लिए जाति-पाती के भेद भाव को मिटाने का अथक प्रयास किया। उनका मुख्य ध्येय दलितों के आन्दोलन को उनके स्वयं के आत्मनिर्णय द्वारा प्रभावशाली ढंग से चलाये जाने का था और दलितों पर लादी गयी सभी अयोग्यताओं को समाप्त करके दलित वर्ग में आत्मसम्मान और स्वाभिमान की भावना जगाना था। उन्होंने दलितों के लिए महान और क्रांतिकारी कार्य किये। दलित वर्ग को अज्ञान के अंधकार से और दरिद्रता की आग से मुक्ति दिलाने के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया। उन्होंने दलितों को सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक आधिकार दिलाने के लिए क्रांतिकारी कदम उठाए और उनको सफलता भी मिली।

अम्बेडकर दलितों को हर तरह के अंधविश्वास से बाहर निकालकर उनको जागरूक कर रहे थे उन्होंने थाना जिले के कसारा की एक कॉन्फ्रन्स में कहा था कि “आप आध्यात्मिकता की धर्मांध बातों में न फसे क्योंकि इन्हीं बातों ने आपको शोषित

बनाया है। आपके कष्ट और कठिनाईयाँ इसलिए नहीं है कि वे पूर्व निर्धारित है, बल्कि अन्य लोगों द्वारा किये गए अन्याय व शोषण के कारण है। अतः भाग्य में मत विश्वास करों अपनी शक्ति में विश्वास करों।"[1] और आगे 1 मार्च, 1933 की अन्य सभा में कहते हैं- "तुम्हें अपनी दासता स्वयं मिटानी है। उसके अंत के लिए ईश्वर या अति मानव पर निर्भर मत रहना। आपकी मुक्ति राजनीतिक शक्ति में निहित है न कि तीर्थ स्थानों में। तुम अपना संघर्ष जारी रखों और उन बुराइयों का त्याग करों जिनमें तुम बर्बाद हुए हों।"[2] इस तरह उनके समस्त चिंतन की प्रेरक शक्ति भेदभाव की समाप्ति तथा वंचित दलित समाज को समान नागरिक हक्क दिलाने की अदम्य इच्छा थी। ऊपर बुद्ध शरण ने जो बात ब्राह्मणवाद के संदर्भ में कही थी उसका खात्मा अम्बेडकरवादी विचारों में मिलता है। आगे हम अम्बेडकरवादी विचारों को समक्ष रखकर हिंदी और मराठी के उपन्यासों में सांस्कृतिक और धार्मिक अस्मिता को देखना है।

संस्कृति क्या है?

संस्कृति कहते ही भारतीय समाज में उत्सवधर्मी चेतना मूर्त हो जाती है। संस्कृति का एक स्थूल सा अर्थ त्यौहार, धार्मिक उत्सव, मिथकों व ईश्वर का प्रभा मंडल, कर्मकांड नैतिकताओं और आध्यात्मिकता के संदर्भ में समझा, समझाया जाता है। लेकिन क्या संस्कृति का दायरा मात्र इतना ही है? क्या संस्कृति केवल धर्म व अध्यात्म तक ही सीमित है? यदि हम संस्कृति और उसके कार्यों का अन्य अनुसंधान और वैचारिक सरणियों के जरिये देखे तो उसके अर्थ व परिभाषा बेहद विस्तृत हो जाती है।

ई. बी. टायलर ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि- "संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कलाएँ, नैतिकताएँ, विधि प्रश्न तथा अन्य और क्षमताएँ और आदतें है जिन्हें मनुष्य ने समाज के रूप में अर्जित किया है।"[3]

[1] हिंदी दलित साहित्य और चिंतन - डॉ. ललिता कौशल - पृ.सं. 98

[2] हिंदी दलित साहित्य और चिंतन - डॉ. ललिता कौशल - पृ.सं. 98,99

[3] अपेक्षा- सं.तेज सिंह, अक्तूबर - दिसंबर - 2013, पृ. सं. 52

स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति मात्र धार्मिकता नहीं है। वह अपने जटिलता में मनुष्य के संपूर्ण जीवन को समाहित किए हुई है। इसी प्रकार क्लाइड क्लुकहान संस्कृति को जीवन की समस्त गतिविधियों से जोड़ते हैं- "हर विशिष्ट संस्कृति में जीवन की समस्त गतिविधियों की एक रूपरेखा होती है।"[1] इसी प्रकार प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर संस्कृति को मानव विकास के साथ जोड़कर देखती है- "संस्कृति का अर्थ सबसे पहले स्वभाविक बुद्धि को बढ़ावा देना है। हाल के समय इस अर्थ का विस्तार हुआ है और यह मानव मन को विकसित करने का अर्थ देने लगा है। ...संस्कृति में सभी व्यवहार-प्रतिमानों और जीवन शैलियों को समेंट लिया गया है। ...संस्कृति से आराम व्यवहार प्रतिमानों से है, भाषा परम्परा रीति-रिवाज और संस्थाएँ इस में शामिल है।"[2] इस प्रकार संस्कृति को समाज से जोड़कर देखने के उपक्रम में मुक्तिबोध लिखते हैं- "जीवन जैसा है उसे अधिक सुंदर उदात्त और मंगलमय बनाने की इच्छा आरंभ से ही मनुष्य में रही है। यही इच्छा जब सामाजिक स्तर ले लेती है तब संस्कृति कहलाती है।"[3] स्पष्ट हो जात है कि संस्कृति का महत्त्वपूर्ण पक्ष जीवन को सुंदर व मंगलमय बनाना है लेकिन हम जब भारतीय (या हिन्दू) संस्कृति को देखते हैं तो पाते हैं कि उसमें (हिन्दू या ब्राह्मण संस्कृति) 15 प्रतिशत जनता के जीवन को तो सुन्दर व उदात्त बनाया है। लेकिन 85 प्रतिशत का जीवन यातना व शोषण से भर दिया। और ऐसा इसलिए हुआ कि संस्कृति को आज धर्म व नैतिकताओं विधि व नियमों तक सीमित कर दिया। जीवन को बेहतर बनाने वाली ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को गौण कर दिया तथा उसे कर्म फल, विधि विधान तथा भाग्यवाद के खाते में डाल दिया।

सार रूप में कह सकते हैं कि संस्कृति जो कि मानव जीवन के संपूर्ण को समाहित करती है। मानव ने मात्र जाति, धर्म अध्यात्म तक सीमित कर दिया है। संस्कृति का वास्तविक अर्थ प्रकृति समाज तथा जीवन जगत् को जानना व बेहतर

---

[1] अपेक्षा - सं.तेज सिंह, अक्तूबर - दिसंबर - 2013, पृ. सं. 52
[2] अपेक्षा - सं.तेज सिंह, अक्तूबर - दिसंबर - 2013, पृ. सं. 52
[3] अपेक्षा - सं.तेज सिंह, अक्तूबर - दिसंबर - 2013, पृ. सं. 53

बनाना है। वैज्ञानिक व तार्किक ढंग के दृष्टिकोण के आधार पर ऐसा किया जा सकता है। श्रम, समता तथा सह अस्तित्ववाली संस्कृति से जीवन बेहतर बन सकता है न कि यह पण्डे पुजारियों, ओझा सयानों द्वारा घालमेंलकर पैदा की गई अप संस्कृति से।

4.1 सांस्कृतिक अस्मिता और दलित बस्तियाँ

भारत में दलित बस्तियों की क्या स्थिति है हम सब जानते हैं। उत्तर भारत में जिन्हें चमार और डोम कहते हैं वही महाराष्ट्र में महारों के नाम से जाने जानीवाली दलित बस्तियाँ गाँव की सीमा के बाहर होती हैं। एक तरफ सवर्ण रहते हैं तो एक तरफ दलित। दोनों की संस्कृति और दुनिया अलग-अलग है। इसका चित्रण मोहनदास नैमिशराय के उपन्यास 'मुक्तिपर्व' में देखने को मिलता है। उपन्यास की कहानी एक दलित बस्ती की कहानी है, जहाँ के लोगों की लुगाई एक ही कमरे में है। वे सुबह ही घर से बाहर निकल पड़ते हैं और दिन भर खटने के बाद घर आते हैं। सभी गरीब है मुश्किल से दो वक्त की रोटी जुटा पाते हैं। लेखक ने जिस तरह से सामाजिक वातावरण का विस्तार से वर्णन किया है उस से दलित मुक्ति का संघर्ष एक चलचित्र की तरह पाठक के समक्ष चलता है। यह सब कुछ इतना सजीव है कि दलितों को वह आज भी अपने इर्द-गिर्द महसूस होता है, और गैर दलित पाठक भी दलित-सवर्ण के बीच मौजूद मौलिक अंतर को देख कर, दलित यातना को देखकर अनुभव कर सकते हैं। नैमिशराय वर्णन करते हैं- "चमार और डोम शहर की सीमा के इस तरफ थे। उस तरफ सवर्ण रहते थे तो इस तरफ दलित। दोनों की दुनिया अलग थी उधर बाग़ बगीचे थे तो इधर जंगल। उधर बाज़ार थे, पनघट थे, मंदिर थे, इधर श्मशान, कूड़ाघर, कलालों की दुकाने। दोनों तरफ के अपने-अपने संस्कार थे और अपनी-अपनी संस्कृति। जब वे एक दूसरे से टकराते थे तो मारकाट होती सवर्ण लाटियाँ बल्लम चलाते हुए गालियाँ देते, खुले आम पेशाब करते और अपनी उदंड संस्कृति का परिचय देते फिर भी वे शहर के सभ्य कहलाते।"[1] इस उदंड संस्कृति के धनी सिर्फ सवर्ण ही नहीं थे, वरन् उच्च वर्गीय मुसलमान भी थे। उपन्यास में नवाब अली वर्दी खां का जिक्र है उसी की हवेली में बंसी नौकरी करता है। नवाबी संस्कृति की अनेक झलकियाँ उपन्यास में है। ऐसी संस्कृति के सन्दर्भ में डॉ. तेज सिंह कहते हैं- "मेंरी

[1] मुक्तिपर्व - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 65

निश्चित धारना है कि समाज में जिन सामाजिक वर्गों का वर्चस्व होता है, सत्ता भी उन्हीं सामाजिक वर्गों के हाथों में केन्द्रित होती है और उनकी असली लड़ाई सत्ता पर काबिज होने के लिए ही होती है ता कि समाज पर अपना सांस्कृतिक-वैचारिक वर्चस्व कायम किया जा सके। ऐसी स्थिति में सत्ता की अवधारणा का महत्त्व असंदिग्ध है। सत्ताएँ तीन तरह की होती हैं- एक ज्ञान सत्ता, दूसरी राजसत्ता और तीसरी धर्म सत्ता। जिस सामाजिक वर्ग के पास ये तीनों सत्ताएँ होती है, वही वर्ग प्रभुत्वशाली होता है और अपना सांस्कृतिक वैचारिक वर्चस्व कायम करता है।"[1] जिस संस्कृति की तरफ तेज सिंह इशारा कर रहे हैं ये वही उदंड संस्कृति है जो नवाब अली में देख सकते हैं। लिहाजा आज इस तरह की संस्कृति को ही ज्यादातर रूप में देखा जा सकता है।

एक दूसरा उपन्यास 'थमेंगा नहीं विद्रोह' उमराव सिंह जाटव का है इस में दलित संस्कृति को देख सकते हैं। इस उपन्यास में जो तथ्य आये है संभवतः 2000 ई.स. के आस पास के है क्योंकि उपन्यास के अनुसार यह जागृति उनमें स्वर्गीय बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर द्वारा दिए गए अमोघ मंत्र 'शिक्षित बनों, संगटित हो, संघर्ष करो' के कारण है। अम्बेडकर के कारण ही जाटव मोहल्ले में किसी बौद्ध विहार और किसी बौद्ध भंते के अभाव में ये लोग बुद्धधर्म के स्वतः अनुयायी है। लेकिन असंख्य देवी-देवताओं का पूजा-पाठ करते हैं। शीतलामाता, भुमियामायी माता, अहोई माई, छट पीर, चामुंडा माई आदि उनके जीवन में केन्द्रीय महत्त्व रखते हैं और ये लोग लांगुरिया के गीत गाते हैं ज्वालाजी और हिंगलाज की जात लगाते हैं सैकड़ों कोस भटकते हैं।

इसी को मध्ये नजर रखते हुए अरुण साधू का उपन्यास झिपय्या में जिस संस्कृति को बताया गया है उसमें शायद स्वतंत्रता के इतने सालके बाद भी कोई परिवर्तन नहीं आया। लेखक के शब्दों में ही- "पच्चीस पैसे का दो चम्मच दूध और चार चम्मच शक्कर लेकर झिपय्या भागता हुआ वापस आया। तब तक माँ ने मिट्टी के चूले

---

[1] प्रतिरोध की बहुजन संस्कृति - डॉ. तेज सिंह - पृ.सं. 05

पर पानी से भरा एल्युमिनियम का बर्तन रख दिया था और चूले को जलने के लिए कागज़ के टुकड़े, बढई की दूकान से लाए लकड़ी के छोटे टुकड़े और भूसा, धज्जियां - जो भी उसके हाथ लगता था सब डाल रही थी और चूले को फूंकते हुए अभी भी गहरी नींद में खोई लीला पर बरस रही थी, "उठ ओ घोड़े, उठ! इत्ती बड़ी हो गयी पेड़ के माफिक फिर भी यहाँ खर्राटे मारती सो रही है। उठ और उस ब्लाउज को ठीक कर ले। इत्ती बड़ी हो गई है फिर भी जरा भी लाज शर्म नहीं है मुई को। दिन तो इतना निकल आया, अब लाइन पर कब जायेगी तू। आं...? अब उठती है या दू एक लात कमर पे?"[1] उक्त विवेचन के बाद यह कहा जा सकता है कि दलितों की अपनी संस्कृति होती है। लिहाजा उनकी अपनी अस्मिता है। इसलिए दलित बस्तियों में होते हुए भी दलित समाज अपनी अस्मिता बनाये रखता है।

भारतीय गावों की रचना तथा समाज रचना देखने के बाद यह आश्चर्य होता है कि यहाँ के गाँवों की तथा समाज की रचना इतनी एक जैसी कैसे है? शहरों में ऐसा चित्र नहीं है। लेकिन गाँवों की रचना एक जैसी ही है। चाहे महाराष्ट्र हो या मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश या अन्य प्रदेशों में भी गाँवों की वैचारिक पहचान अलक होगी लेकिन रचना अलग नहीं है। यहाँ जाति के आधार पर गाँव की रचना होती है। मुख्य गाँव में सभी सवर्ण रहते हैं। अवर्ण गाँव के बाहर रहते हैं। गाँव में जाति के अधार पर गलियाँ बनती है जैसे- ब्राह्मण गली, राजपूत गली आदि। यह एखाद गाँव में अथवा राज्य में होता तो समज सकते हैं। परन्तु पूरे भारतीय गांवों की रचना इस पद्धति की ही हैं। सवर्ण के घर मजबूत, आकर्षक तो अवर्ण के घर घास-फूस के होते हैं गाँव तथा घर मानव निर्मित है इस कारण ऐसा भेदभाव है। छप्पर में मातापुर भी ऐसा ही एक गाँव है। यह पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आता है। मातापुर की रचना भी तमाम भारतीय गाँवों जैसी ही है। 'गंगा के तट पर बसा पश्चिमी उत्तर प्रदेश का एक छोटा सा गाँव मातापुर। अन्य भारतीय गाँवों की तरह मातापुर में भी थोड़े से सुखी और संपन्न शेष दीन और दरिद्र है। सुखी संपन्न लोगों में सवर्ण कहलाने वाले ब्राह्मण, पुरोहित,

---

[1] झिपय्या - अरुण साधू - पृ.सं. 15

ठाकुर, जमींदार तथा लाल-साहूकार हैं। दूसरे गाँवों की तरह सवर्ण लोग ऊपर की तरह तथा अवर्ण कहे जानेवाले गंगा की ओर नीचे में बसें हैं। नीचे की ओर गंगा के इस छोर का आखिरी घर सुक्खा का है और फिर कुड़ी-बिठौड़े शुरू हो जाते हैं।'[1] इस तरह इन उपन्यासों की तुलना करने के बाद जिन बस्तियों का जिक्र हुआ है इससे साफ़ हो जाता है कि दलितों की संस्कृति और सवर्णों की संस्कृति में कितना अंतर है। इस संदर्भ में तेज सिंह कहते हैं- "इस दृष्टि से संस्कृति के दो रूप उभरकर सामने आ जाते हैं एक, सामान्य तो दूसरा विशिष्ट। सामान्य रूप में संस्कृति जनता की संस्कृति यानी जन संस्कृति होती है, जिसमें समाज के विभिन्न समुदायों की आदतों-रुचियों, रीति-रिवाजो, प्रथाओं, विश्वासों, धारणाओं और विचारों में कुछ समानता होती है तो दूसरी तरफ विशिष्ठ रूप में संस्कृति वर्गीय संस्कृति होती है, जिसे वर्चस्ववादी संस्कृति कहना जादा ठीक है उसका सीधा संबंध राजसत्ता से होता है यानी वह राजसत्ता की चाकरी करनेवाली संस्कृति होती है जो धर्म सत्ता को लेकर साम्प्रदायिक रूप धारण कर लेती है। यह संस्कृति का सबसे विनाशकारी रूप होता है जिसमें एक विशेष समुदाय और धर्म का हित सर्वोपरि होता है।"[2] ऊपर युक्तउपन्यासों की तुलना के बाद दलितों की और सवर्णों की संस्कृति में कितना अंतर है यही दिखाने का प्रयास रहा है।

[1] छप्पर - जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं. 05
[2] प्रतिरोध की बहुजन संस्कृति - डॉ. तेज सिंह - पृ.सं. 09

4.2 सांस्कृतिक अस्मिता व सशक्ति के सामाजिक संघर्ष में नए पड़ाव

हमारे यहाँ संपन्न व शोषक वर्ग द्वारा कमजोर वर्ग को उजाड़ने की मानसिकता नई नहीं इसकी जड़े बहुत गहरी और पुरानी हैं। ये कहीं धर्म संस्कृति में फंसी है तो कहीं जातीय जंजालों में, ये कहीं आर्थिक तानेबाने में उलझी हैं तो कहीं इन्हें राजनीतिक सत्ताएँ आदान-प्रदान करती हैं। उमराव सिंह जाटव का उपन्यास 'थमेंगा नहीं विद्रोह' में दरियापुर गाँव दलितों के कुएं पर गूजर जाति द्वारा किया गया कब्ज़ा इसी मानसिकता का प्रतीक है। उनके पास दो कुएं और है लेकिन वे जाटवों के कुएं पर कब्जा करके उनके मूलभूत अधिकारों का हनन करते हैं। 'एक दिन मुंह अंधेरे ही जब जाटव पनिहारिने कुएं से मटके भर पानी लाने गयी तो पाया की बीसियों गूजर लाटी बल्लम लिए कुएं को घेरकर खड़े हैं। जाटवों के मोहाल्ले में हल्ला हो गया। बड़े-बूढ़े मोहल्ले के जाटव पंच भागे-भागे गए। गूजरो की चिरौरी की बिनती की, एक हाथ ने बूढ़े होते हुए भी लाठी थामें जवान गूजरो के 'गोडे' थामें की नबरदार ऐसा जुल्म ना करों।'[1] दलितों का प्रतिनिधि मंडल उनसे सहानुभूति रखवाने चंदा से मिलने गया तो उनका जवाब था- "औकात में रहो गूजर मालिक है और जाटव प्रजा। इसलिए शासकों के द्वारा पारित आदेश की खिलाफत हुई तो... घरों से निकाल निकाल कर पिटा जाएगा... बहू बेटियाँ भी सुरक्षित नहीं रह पाएगी। नबरदार रहम... नबरदार रहम... की गुहार करते जाटव अपने घरों को लौट जाए।"[2]

गरीब लोगों के कुएं पर ताकतवर लोगों का कब्जा करने की वजह से वे भोजन व पीने के लिए 'मुकन्ना' जोहड़ का गन्दा पानी प्रयोग करने को बाध्य हो गए। पंचायत ने विभिन्न दृष्टियों से सोचने के बाद यह निश्चय किया कि गूजरों से एक बार फिर मिला जाए लेकिन वह टस से मस नहीं हुए। तब निर्यानुसार बहू बेटियों को रिश्तेदारियों में भेज दिया गया। अब यह मामला केवल कुएं तक सीमित न रहकर आत्मसम्मान का विषय बन गया था। फलत: इस मामले में थाने में रिपोर्ट लिखवाई

---

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव पृ.सं. 66
[2] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव पृ.सं. 66

गई और बुलंद शहर की अदालत में मुकदमा लगवाया गया। उत्पीड़न के ऐसे माहौल में सामाजिक आर्थिक रूप से संपन्न लोगों के खिलाफ थाने और कचहरी में जाना तक बड़ी बात थी। इसी स्वाभिमानी संघर्ष में युवा दसोदी शहीद हो गया। मगर वे न्याय के लिए संघर्ष का बिगुल बजाते हुए अंततः ऐसे लोगों के सामने नहीं झुके। न्यायालय के हस्तक्षेप से कुएं से उनका कब्जा हटवा दिया गया जिसे सामाजिक आर्थिक रूप से संपन्न भूपतियों को मुंह की खानी पड़ी और विपन्न लोगो में आपसी एकता के बल पर नया आत्मविश्वास अन्याय के खिलाफ संघर्ष करने की हिम्मत पैदा हो गयी। यह संघर्ष ठीक बाबासाहब के महाड़ संघर्ष के समान था।

इसी दौरान उन्होंने दलितों को अपने खेतों में सौच के लिए जाने पर प्रतिबंद लगा दिया। गरीब लोगों को झुकाने के लिए संपन्न लोगों ने उन पर साम, दाम, दंड, भेद सभी हथकंडों का प्रयोग किया। इस मामले को समझौतावादी बनकर मिटाने के बजाय पंचायत ने एक अहम् फैसला लिया हम इनकी बैल गाड़ियों को अपने मोहल्ले से गुजरने नहीं देंगे और वे संभावित संघर्ष को देखकर बड़ी संख्या में अपने सिरों पर तवे बांधकर इस काम के लिए तैयार हो गए। लेकिन संघर्ष टल गया। ताऊ मथुराने मामले को नया मोड़ देते हुए कहा- पंचों मेंरा पहला मुद्दा और आदेश यह है कि अब हम मिकन्ना के किनारे जंगल पानी के लिए नहीं जायेंगे'

'तब हम कहाँ जायेंगे'? सभी ने मुंडी ऊपर उठा कर पूछा। 'गूजरों के खेतों में जायेंगे हम'। मथुरा ने अपना बम फोड़ते हुए कहां। आश्चर्य से सभी की आँखे फट गई। 'गूजर लाठी बल्लम लेकर खेतों की रखवाली करेंगे' बीसियों मुखों से एक साथ निकला। 'हम भी लाठी बल्लम लेकर जंगल पानी को जायेंगे' 'खून खराबा होगा'।

'हो, अव्यश्य होगा। बिना इसके भी हो चूका है'।

'दरोगा पुलिस आएगी'।

'यही मैं चाहता हूँ, कोर्ट कचहरी भी होगी। यही मैं चाहता हूँ। आइये, यह भी तो देख ले कि इस विषय में कचहरी क्या कहती है? कुओं पर कब्जे में कचहरी ने यह

सोचकर ही तो यह फैसला दिया है कि पानी आदमी की मूलभूत आवश्यकता है।'[1] आखिरकार भू-स्वामियों को भूमिहीनों के प्रतिरोध के सामने झुकना ही पड़ा क्योंकि उनके खेतों में फसल का नुकसान अधिक हो रहा था। मथुरा का चरित्र एक कुशल संगठन कर्ता के रूप में उभरकर सामने आया है। जब वह ललकारता है तो सभी उसकी बात पर मर मिटने को तैयार हो जाते हैं अपनी इज्जत अस्मिता और न्याय की लड़ाई लड़ रहे लोग समाज में फैली अधिकारों रूपी इस आग को दानव का रूप देने के लिए दिन रात एक किये हुए थे। परिणाम स्वरूप उनकी संगठन शक्ति व ओजस्वी नेत्रत्व ने युद्धस्त वंचितों के संघर्ष की नई गाथा लिख डाली। उपन्यासकार देश के सभी हिस्सों में फैली दलित एवं गरीब विरोधी इस प्रतिबंध लगाने की मानसिकता पर मूलभूत अधिकारों की दृष्टि से विचार करते हैं। डॉ. अम्बेडकर के इस कथन ने कि अत्याचार करनेवाले से अत्याचार सहनेवाला अधिक गुनहगार होता है, वंचित समाज में एक क्रान्ति पैदा कर दी है। इस तरह गाँव की संस्कृति को अलग ढंग से देखा जा सकता है।

एक दूसरा उपन्यास अजय नावरिया का 'उधर के लोग' सांस्कृतिक अस्मिता की तलाश करता दिखाई देता है। जाति और समुदाय के आधार पर अपनी अलग-अलग पहचान का चक्र जब चलता है तो प्रायः तभी थमता है जब व्यक्ति अकेला रह जाता है। "पर पन्ना ये अपने वाले खटीक तो नहीं है। इनसे हमारे रीति-रिवाज, गोत, बोल-चाल, रहन-सहन कुछ भी तो नहीं मिलता?" नायक के भाई के रिश्ते की बात चलने पर उसकी दादी खटीकों की भी अलग-अलग फांख दिखाती है। अलग-अलग स्थानों पर रहनेवाले एक ही जाति में लोग रीति-रिवाजों को लेकर जो वर्जनाएँ है उनका क्या किया जाए? वास्तव में पहले यातायात संचार के साधनों के अभाव में लोग प्रायः अपने आस-पास के क्षेत्रों में ही शादी ब्याह करते थे जिन्हें बाद में नियमों के रूप में देखा गया। किन्तु आज ऐसी कोई समस्या नहीं है इसलिए अब इस प्रकार की दूरियों को पाटना पड़ेगा। "अम्मा तू कुछ नहीं जानती। बहुत पहले ये भी

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं.83

राजस्थान से ही निकले थे। जगह के साथ-साथ और जरूरत के हिसाब से धीरे-धीरे इनके रीति-रिवाज बदलते चले गए। पहनावा बदल गया बोली बदल गई”। वरना तो सारे एक हैं।”[1] नायक के पिता जिन पर नायक का मोह तर्कातीत है अपने तीनों बेटो की शादी दलित वर्ग की अलग अलग जातियों में करते हैं। और तो और लेखक ने इस सन्दर्भ में दलित मुस्लिम समाज और दलित इसाई समाज को जोड़ने की बात कही है। नायक अपने दोस्त फिरोज की शादी अपने किसी रिश्तेदार वैशाली से करता है। ‘सीरियसली उनकी फैमिली को कोई दिक्कत नहीं होगी ... वैशाली से बड़ी वाली ने एक इसाई से शादी की ... मैं कौन एक सय्यद पठान हूँ, अंसारी हूँ, तीन चार पीढ़ी हमारे पुरखे चमार ही थे’। उनसे बेहिचक कहा था। “भूखे और कमजोर की क्या जात क्या मजहब”? इस पूरी कार्यवाही के पीछे यह भी कहा जा सकता है कि दलित किसी धर्म में चला जाये रहता वह दलित ही है। इसलिए धर्म बदलकर कुछ नहीं होगा सबसे पहले दलित जातियों को आपस में संगठित होकर आपसी मतभेदों को दूर करना होगा।

डॉ. अम्बेडकर ने अंतर्जातीय विवाह का समर्थन किया था। भारत में जाति व्यवस्था के निपटारे में यह एक कारगर कदम हो सकता है ऐसा वे मानते थे। शायद इसलिए उन्होंने ब्राह्मण कन्या से विवाह किया। हंस में छपी इसी उपन्यास की समीक्षा में दलित चिंतक कँवल भारती ने इस आधार पर (उधर के लोग-अजय नावरिया) उपन्यास की आलोचना भी की है। नायक का ब्राह्मण कन्या से प्रेम और विवाह सफल नहीं होना लेखक ने इसे सांस्कृतिक टकराव के रूप में देखा है जब कि दलित जातियों के भीतर अंतर्जातीय विवाह को उचित ठहराया है। वंदना से शादी से पहले नायक के पिता ऐसा करने से रोकते तो नहीं ... “शादी करना तुम्हारा अधिकार है। कैसे करो, किससे करो, कब करो यह तुम जानो”। यह पूछने पर की क्या इस फैसले में उनके साथ हैं, वे जवाब देते है “इस फैसले में नहीं हूँ मेरे बच्चों बिलोई हुई छांछ में दला हुआ दलीय घुलता नहीं ... वंदना की संस्कृति अलग है। वंदना की उस

[1] उधर के लोग - अजय नावरिया - पृ.सं. 69

परिवार में पटती नहीं। परिवार का कोई भी सदस्य उससे प्रसन्न नहीं है यहाँ तक कि स्वयं नायक भी उससे बचने के लिए घर से बाहर रहने की कोशिश करने लगता है और बकौल लेखक शराब की लत का शिकार भी वह उसी के कारण हो जाता है"। तुम्हारे पापा घोर जातिवादी हैं। वे एक पल के लिए भी नहीं भूलते की ब्राह्मण हूँ। वन्दना ने एक रात झल्ला कर कहा था। तुम्हें उनसे बात करने की जरूरत ही क्या है? वे तो तुम्हारी कोई शिकायत नहीं करते ...मैं उनकी बहू हूँ। उन्हें मुझसे बात करनी चाहिए ...माँ की भी तो बहू हो। उनसे ही तुम्हारी कौनसी बनती है आए दिन तुम दोनों की चिक-चिक होती रहती है। तुम्हारे पापा को पता नहीं है कि तुमसे शादी करने के लिए मैंने अपने मम्मी पापा को कितना मनाया था। मम्मी का तो रो रो कर बुरा हाल था। तुम्हारे प्यार के कारण इतना नीचे तक मैं आ गई"। नायक की दादी जिसे लेखक ने एक आदर्श दादी के रूप में गढ़ा है वह भी वन्दना की तुलना संगीता से करते हुए कहती है। 'वंदना जैसी नहीं है संगीता... संगीता को मैं जानती हूँ। वंदना के साथ मैं नहीं रही, पर जिंदगी का तजुर्बा है मुझे ...वह लड़की, दूसरे को अपने उसूलों पर चलाना जानती थी पर खुद के लिए कोई उसूल नहीं मानती थी। वह चाहती थी कि सारी दुनिया उससे सुख के लिए मरे-कटे ...ऐसी खुदगर्जी किस काम की जिससे इन्सान अकेला रह जाए। संगीता ऐसी नहीं है वह सबके साथ बड़ी होना चाहती है'। ऐसा लगता है वंदना और संगीता की तुलना वास्तव में अंतर्जातीय विवाह का अंतर ही है। इस तरह हम सांस्कृतिक अस्मिता में नए संघर्ष को देख सकते हैं इस नये पड़ाव में अंतर्जातीय विवाह करने के बावजूत भी दोनों की संस्कृति अलग होने से आपसी मन-मुटाव होता है इसलिए दोनों ओर से सांस्कृतिक अस्मिता बचाने की होड़ सी लगी है।

एक दूसरी संस्कृति को भी देखा जा सकता है जो भयानक संस्कृति का रूप लेकर हमारे सामने है, वह है वेश्याओं की संस्कृति। कहाँ कहाँ से किस मज़बूरी से वेश्यालय तक ये बालिकाएं पहुँचती है इसका किसी को अंदाजा नहीं है। कई तरिकों से लडकियाँ यहाँ तक पहुँचती है इसका उदाहरण हम 'आज बाजार बंद है' उपन्यास

में देख सकते हैं। हसीना अनाथालय के रास्ते से चकलाघर पहुँचती है इनका परिचय लेखक इस तरह देते हैं- "यह है हसीना और ये मुमताज। हसीना अनाथालय में पली बड़ी वह अनाथ थी। भाग कर वह यहाँ आ गयी। क्योंकि वहाँ भी यही काम होता था और यहाँ भी। अनाथालय और चकले में हम औरतों की स्थिति एक जैसी रही है फर्क केवल इतना है कि वहाँ सरकारी ग्राहक होते हैं यहाँ प्रायवेट।"[1] अब हम किस संस्कृति पर गर्व करे कई ऐसी महिलाएँ है जो अपनी स्थिति तथा गरीबी के कारण ऐसे भंवर में फसते चले गए। अब किस सांस्कृतिक अस्मिता को बचाने की कोशिश की जाय। आज हमारे समाज को ऐसी संस्कृति को बचाने की होड़ सी लगी है कई महिलाओं का जीवन बर्बाद हो चूका है।

इससे एक अलग वैचारिकता लेकर आया मराठी का उपन्यास 'दुभंग' में सोपान ऐसे लड़की से ब्याह करता है जो मूलतः आदिवासी है और वह मराठा है। भूकंप के चपेट में आये सोपान का पूरा परिवार ध्वस्थ हो जाता है। सोपान कहता है- "भूकंप ने अमीर-गरीब सभी तपके के लोगों को एक ही बिंदु पर लाकर खड़ा कर दिया। जाति, धर्म, पंथ को मिटाते हुए सभी को समानता की रेखा पर इकट्ठा किया।"[2] कहने का तात्पर्य यह है कि सोपान ने सुमन जैसी लड़की से ब्याह कर यह साबित कर दिया है कि सांस्कृतिक अस्मिता के नए पड़ाव को देखा जा सकता है। और यह नया पड़ाव यह है कि प्रकृति के सामने सब बराबर है।

उपरोक्त दोनों भाषाओं के उपन्यासों की तुलना करने के बाद निष्कर्ष यह निकलता है कि हमारे संस्कार ही हैं जो हम अपने बच्चों को देते हैं और उसी का पालन बच्चें करते चलते हैं। प्राकृतिक रूप से देखा जाए तो हम सब एक हैं।

---

[1] आज बाजार बंद है - मोहनदसं नैमिशराय - पृ.सं.-9

[2] दुभंग - लक्ष्मण गायकवाड - पृ.सं. 169

4.3 मंदिर निर्माण की सार्थकता यानि वंचितों की बर्बादी

हिन्दू संस्कृति में मंदिर और पुजारी को विशेष सम्मान प्राप्त है और यही मंदिर किसी न किसी रूप में सत्ता के केंद्र में भी रहे हैं। इसी संस्कृति द्वारा करोड़ों लोंगों को अपवित्र मानकर उनके मंदिर प्रवेश को प्रतिबंदित कर दिया था। इसी अपवित्रता के फार्मूले के खिलाफ तथा इंसानी बराबरी के लिए कई महापुरुषों ने लंबा संघर्ष किया जो आज भी किसी न किसी रूप में जारी है। भारतीय समाज द्वारा पोषित जातीय श्रेष्ठता की मानसिकता ने व्यक्ति-व्यक्ति को बांटा है। इसी कारण वंचित जातीय झूठी शान बनाने हेतु अपनी पहचान छिपाते देखे जा सकते हैं। चमार जाटव बन रहे हैं और चूहड़े वाल्मीकि का संबोधन प्राप्त कर चुके हैं। शूद्र यानी अन्य पिछड़ी जातियाँ बड़े स्तर पर ठाकुर या ब्राह्मण बनने की फिराक में लगी है। कहीं इनमें आपसी टकराव है, कही पहचान का बड़प्पन है तो कही धर्म के प्रति जबर्दस्त अन्धानुकरण। क्या हो रहा है ये सब? और क्यों हो रहा है? होना तो यह चाहिए था कि हमें जातीयता पर शर्मिंदा होने की बजाय इस बात पर गर्व करते हैं कि हम बेहद मुस्किल परिस्थितियों से निकलकर आये हैं और अब समाज का नेतृत्व करेंगे लेकिन हम छिपाते है जातियाँ। अपने आप को छिपाकर रखना अपने स्वाभिमान और ताकत की हत्या करने से कम नहीं है। समाज में जातीय अस्मिता के सवाल पर श्रेष्ठता निम्नता का जबर्दस्त फार्मूला कायम है। किसको किसके घर पर बैठना है, किसके घर पर पानी पीना है या नहीं पीना है, भोजन करना है या नहीं करना है यह सब सामाजिक धारणा और जातिगत रूढियों पर निर्भर करता है। लोक तांत्रिक व्यवस्था ने इन जकड़नों को निश्चित रूप से कम किया है लेकिन इन जकड़नों को भारत के छह लाख गावों में सरेआम देखा जा सकता है।

अक्तूबर 2009 ई.स. में तमिलनाडु के नगरीय क्षेत्रों से यह खबर छपी थी कि वहाँ दलितों को मंदिर प्रवेश के लिए संघर्ष करना पड़ा और उन्होंने पुलिस की मौजूदगी में यह सब किया। इस मामले का दूसरा पहलू यह भी है कि इन प्रतिबंधित

स्थानों में अपमानित होकर जाने से कौनसा पुण्य कमाना चाहते हैं? जहाँ जाने से इन को कुछ मिलता नहीं वहाँ क्यों जाते हैं। शायद इन्हें लगता है कि मंदिरों में जाने से इनका जीवन और भविष्य सुधर जाएगा लेकिन असलियत में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। किसी भी देवता को कभी इनकी स्थिति पर दया नहीं आई तो अब मंदिर में जाने से इनका जीवन सुधर जाएगा। वंचित वर्ग को देवालयों से कुछ हासिल होने वाला नहीं है आज इनकी जरूरत संसाधनों और अवसरों में प्रतिनिधित्व दिए जाने की है। यदि इन्हें कुछ देना ही है तो संविधान प्रत अधिकार दीजिए अन्यथा मंदिर प्रवेश के नाम पर गांधीगिरी का नाटक करके वंचित लोंगो की जातीयता और अस्मिता का मजाक उड़ना बंद कीजिए। इस संदर्भ में रोहिणी अग्रवाल कहती है- “निस्सदेह बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सामाजिक राजनैतिक चेतना के भाव में छुआछूत की भावना एक सामाजिक मूल्य संस्कार के रूप में स्वीकृत थी लेकिन आज उसे जस-का-तस रखने का हट नहीं पाला जा सकता।”[1]

उपर्युक्त ऐसी ही कुछ घटनाएँ ‘थमेंगा नहीं विद्रोह’ उपन्यास में देखी जा सकती है। संविधान लागू होने के बाद, बदले दौर में जहाँ दलित स्वयं मंदिर बनाकर और उसके पुजारी बनकर सामाजिक सम्मान पाना चाहते थे वहाँ जमींदारों द्वारा योजनाबद्ध तरीके से दलितों को जातीय हीनता का बोध करवाने व अपमानित करने के लिए ललकारते हुए कहा कि यदि तुम मंदिर बनाओगे तो हम क्या बनायेंगे। जिसके कारण आपसी संघर्ष हुआ लेकिन वंचितों ने आपसी एकता के बल पर उन्हें खदेड़ दिया। इस प्रकरण पर उनकी एकता देखते ही बनती थी लेकिन वैचारिक दृष्टि से परिपक्व व्यक्तियों की यही राय बनी कि मंदिर निर्माण के मामले में उलझने से बचा जाए। ‘तुलाराम भाई मंदिर बनाओं चाहे मस्जिद, धर्म बचाओं चाहे बुद्ध विहार, मोहल्ले में साथ रहो या अलग हो जाओ, बस एक बात याद रखना कि हम सब जाटव हैं, दुःख-सुख में एक साथ। तुम्हारी एक ललकार की आवश्यकता है बस, सारा जटवाड़ा तुम्हारे साथ खड़ा होगा। बस एक निवेदन है कि जो कुछ भी हम चारों

[1] समकालीन कथा साहित्य: संरहदे व सरोकार – रोहिणी अग्रवाल पृ.सं. 20

मोहल्ले कर रहे हैं, करना चाह रहे हैं उस में अपनी ओर से अड़चन न खड़ी करना।"[1] सपने में दिवंगत पिता की फटकार खाने के बाद उसने मंदिर निर्माण के कार्य को बंद करने का फैसला ले लिया था लेकिन सामाजिक अपमान को सम्मान में बदलने के लिए फिर से उसी रास्ते पर चलने को तत्पर हो उठा। जो आदमी आपने भाईयो द्वारा समझाने के बावजूत तथा खुद ठोकर खाकर भी उनकी न माने जिस राह पर अपमान मिलता हो उस राह को न छोड़ें और अपनी जिद्द को पूरी करने के लिए अपनी कृषि योग्य भूमि को भी बेचने से न चुके, निश्चित रूप से वह व्यक्ति स्वाभिमानी और वैचारिक रूप से परिपक्व नहीं हो सकता।

कई बार गलत राह चलने से अचानक ठोकर लग जाती है और हम उस राह को बदल देते हैं लेकिन फिर कोई हमारे अहं को इस अंदाज में चुनौती देता है कि हम ठोकर खाकर लहू लुहान हो कर भी उसी रास्ते का वरन् करते हैं। बिना परिस्थितियों पर विचार किये निर्धन वर्ग के लोग संपन्न वर्ग की चालों में जाने अनजाने उलझते झपटते जाते है मगर एक बार फिसलते ही उनकी वापसी संभव नहीं होती और वे पूरे समाज, पूरे वर्ग को गुमराह करने में सहयोगी बनते हैं। 'उसने यह भी सोच लिया कि जब भगवान के नाम पर लुट हो रही है, लुटने को ठुल्ले तैयार ही है तब वही क्यों न इस बहती गंगा में जी भर डूबकी लगाए? ... मुरलीवाले ने इस चमार को न चुनकर स्वयं उसी को चुना है अपनी कृपा के प्रसाद के लिए, इसे वह जान गया है अन्यथा तो तुल्ले जैसे बेअकल के सिर मंदिर बनाने का जुनून क्यों चढ़ता मुरलीवाले। जय हो प्रभु, आपकी लीला अपरंपार है, प्रभु कृपा बनाए रखना इसी प्रकार।"[2] पिछड़े समाज को भक्ति के माध्यम से जिस बडप्पन की चाहत है उसे वह कदापि नहीं मिल पाएगी। उसे अन्य क्षेत्रों में अपनी ऊर्जा लगानी चाहिए अगर फिर भी वह जिद्द करता है तो उसका परिणाम होगा बर्बादी, ठीक तुल्ले भक्त की तरह। जिसकी जमींन चली गई,

---

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 253
[2] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं.262

दोनों बेटियाँ भाग गई, उसके बच्चे ने पढ़ना लिखना त्याग दिया और वे बन गए मजदूर।

अंततः व सामाजिक अपमान से बचने के लिए रातोरात गाँव छोड़कर चला गया। समाज में झूठी शान के चक्कर में फंसकर वंचित वर्ग को अपनी बर्बादी का मार्ग प्रशस्त नहीं करना चाहिए क्योंकि उसका लक्ष्य मंदिर निर्माण नहीं बल्कि शिक्षा के माध्यम से समाज में चेतना व सशक्ति करण का विस्तार करना है। उन्हें शुद्धिकरण के लिए हवन की आवश्यकता नहीं है बल्कि वे सफाई के गंधे काम को त्यागकर अपने बच्चों को शिक्षित बनाने की है। हद तो उस समय हो जाती है जब दलितों को सफाई का धंधा छोड़कर बाबासाहब के पथ पर चलने की बात समझाने वाले दलितों का बहिष्कार हो जाता है। यहाँ एक तरफ गाँधीजी का हरिजन खड़ा है तो दूसरी तरफ अम्बेडकर का दलित। यह एक वैचारिक संघर्ष है जो वर्गीय अस्मिता और स्वाभिमान का प्रतीक है। अतः धर्म के नाम पर, भगवान के नाम पर, जन्म-जन्मान्तर सुधारने के नाम पर, अज्ञानी व्यक्ति को संवेदनशील बनाकर उनका मन चाहा शोषण किया जा सकता है। तुल्ले से भगत तुलाराम की रचना हिन्दू व्यवस्था की जालसाजी, अन्धविश्वासी मानसिकता तथा फरेब का प्रतिफल है। जमीन बिकना, कंगाल होना, बिरादरी में बहिष्कार की नौबत सब मुरलीवाले की कृपा है जिसको खुश करने के लिए उसने मंदिर बनवाया था। पिता ने जमीन खरीदी मजदूरी करके, बेटे ने जमीन बेच दी मंदिर बनवाने के लिए, मंदिर से उसका दिवाला निकाल दिया, कर्जदार हो गया, रिश्तेदारों से बचने लगा क्योंकि उनसे पैसा उधार लिया था। अंत में ईट भट्टी पर मजदूरी करने को विवश हुआ। यह सबने देखा, ऐसा नजारा जिसने भक्ति की जिद्द और मंदिर की जिद्द के कारण अपना सब कुछ बर्बाद कर दिया धर्म के घेरे में उलझकर दलित विप्पन्नता की तरफ जाता है। लेकिन संपन्न शोषक वर्ग और संपन्न हो जाता है। मुरलीवाले की कृपा से दलित की संपन्नता नहीं बढ़ती बल्कि उसका विनाश हो जाता है। अज्ञानता और अशिक्षा धर्म की अँधेरी कोठरी में जाकर उपेक्षित, गरीब समाज का भला कदापि नहीं हो सकता। 'थमेंगा नहीं विद्रोह' उपन्यास ग्रामीण

समाज में धर्म द्वारा प्रायोजित श्रेष्ठता हीनता के जन्मजात उत्पादों पर एक बहस की शुरुआत करता है। दलित परिवार अपने सामर्थ्य से पांच बीघे जमीन का मालिक होने के ऐवज में अपने आप को अन्य दलित परिवारों से उच्च मानकर अपनी रोटी की भूक को पूरा होते देख धर्म, कर्म और भक्ति के क्षेत्र में फड़फड़ाता है जिसका परिणाम वह पूरे दलित समाज से टक्कर ले कर उनसे संबंध बिगाड़कर गाव में अपनी जमीन पर एक मंदिर का निर्माण करवाता है। काबिलेगौर है कि उसके पूर्वज मजदूर व शिल्पी थे। लेकिन उनकी मेंहनत से वह भूमालिक बना मगर उस जमींन के टूकडे ने उसे चैन से रहने नहीं दिया। फलतः वह अपनी पैतृक संपत्ति में वृधि करने के बजाय उसी को तहस नहस कर डालता है और फिर बन जाता है वही मजदूर का मजदूर। अपने अहं के चक्कर में वह अपने जातीय भाईयों से भी बुराई मोल लेता है। मगर गाँव के गैर दलित उसे हीन ही समजते हैं। कारण स्पष्ट है कि तुलाराम अपनी औकात भूल गया है और ऐसी जगह जाना चाहता है जो उसे मिल नहीं सकती और इस चक्कर में वह पूरे परिवार को बर्बादी तक पहुँचाता है। इस तरह लेखक ने भारतीय समाज में करोड़ों की संख्या में रहनेवाले इस अभाव ग्रस्त एवं सामाजिक व्यवस्था द्वारा हीन बनाये गए लोगों को परम्परागत जातीय धर्म द्वारा दी गयी प्रताड़ना का एक उदाहरण ही पेश किया है जब कि ऐसे लोग गली-गली चौराहे-चौराहे पर देखे जा सकते हैं जो अपने कार्यों की वजह से कम तथा व्यवस्थागत अपमानों, तिरस्कारों तथा घृणाओं के शिकार अधिक है। लेखक उन्हें रास्ता दिखाते हुए यह बताना चाहता है कि यदि परम्परागत सोच में बदलाव नहीं करोगे तो तुम्हारे प्रति व्यवहारों में बदलाव आना बड़ा मुश्किल है लेकिन यदि तुम शिक्षा, रोजगार के नए क्षेत्रों में पदार्पण करोगे और संघर्ष करने के लिए तत्पर रहोगे तो सभी दकियानूसी विचार, व्यवहार, अत्याचार निश्चित रूप से दफन होंगे। सामाजिक सच्चाईयों का सामना करके ही नए पथ का निर्माण संभव है। साहित्य इसी पथ के लिए संघर्ष कर रहा है और अपने लक्ष्य में कामयाब हुआ है। चाहे उसका प्रतिशत कम ही हो लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि सामाजिक रूपांतरण का सपना एक दिन जरूर पूरा होगा।

मंदिर निर्माण के बारे में जिन बातों का उल्लेख उपर्युक्त हुआ है इस से साफ़ हो जाता है कि मंदिर निर्माण से कुछ होने वाला नहीं है। मंदिर निर्माण के बावजूद भी तुलाराम की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। क्यों? यह सवाल जरूरी है मंदिर निर्माण कर भगवान की शरण में गए तो भी हम हीन ही है अगर हम हीन नहीं होते तो क्या तुलाराम की स्थिति इस तरह की होती। क्या 'आज बाजार बंद है' की पार्वती की स्थिति इस तरह की होती कि पार्वती एक सीधी साधी लड़की भगवान के शरण में जाकर भी वेश्या बनने से नहीं चुकती। इसका कौन जिम्मेदार है, इसके जिम्मेदार हम है हमारा समाज है। अगर हमारा समाज पार्वती को देवदासी नहीं बनाता तो आज पार्वती वेश्या नहीं बनती। पार्वती को वेश्या बनाया हमने हमारे समाज ने। अंधविश्वास के चक्कर में पार्वती को देवदासी बनाया जाता है, देवदासी बनते ही अब सामाजिक रूप से सबका अधिकार हो गया।

इस घटना को लेखक अपने शब्दों में बताते हैं- "बिना शिव की पार्वती, शिव ने पहले इसे मंदिर में बैठाकर देवदासी बनाया। फिर मंदिर से चकले में भेज दिया। पहले मंदिर के पुजारी ने इसके शरीर को भोगा। फिर गाँव के पटेल ने बाजी मारी। दोनों का मन भर गया तो गाँव के सामंत साहूकार की बारी आयी यानी हमारे समाज में जिसका जितना मान-सम्मान, उतना ही देवदासी को भोगने के लिए उनके अधिकार सुरक्षित होते हैं। अब रात में काले चोर के रूप में देवता आते हैं और इस देवी को भोगते है।"[1] निष्कर्ष रूप में दोनों उपन्यासों की तुलना के बाद यह कहा जा सकता है कि मंदिर निर्माण यानी एक ढकोसला है। इस से दलित समाज को कुछ हासिल होने वाला नहीं है। इस से दलित समाज की बर्बादी ही है। यह हमें समझने की जरूरत है। किसी भी अंधविश्वास के चक्कर में आकर मंदिर का निर्माण करना हो या किसी महिला को देवदासी बनाकर मंदिर में छोड़ना दोनों चीजे हमारी अज्ञानता को उजागर करती है। इसे आज के समय में हमें समझने की जरूरत है। तभी हम अम्बेडकरवाद को समज सकते हैं।

---

[1] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं. 10

4.4 धर्म पोषित गुलामी में उलझे लोग और समाधान की तलाश

समाज का गरीब वर्ग धर्म के नाम पर ज्यादा शोर शराबा मचाता है और इस वर्ग को तैयार किया जाता है उन व्यवस्थाओ द्वारा जो धर्म के नाम का खाता है। इनके कई स्तर हैं जिनमें जाति व्यवस्था का अहम् स्थान दिखाई देता है। दरियापुर के दलित परिवारों में धर्मान्तर के कई किस्से हमारे आँखें खोलती है। चावली और उसके पिता द्वारा किये गए धर्मान्तरण से न तो इनका कोई हित हुआ है और न ही समाज का, क्योंकि यह सब किसी मज़बूरी में किया गया था। यदि उसकी असल पड़ताल करके यह सब किया जाता तो संभव है स्थितियाँ विपरीत होती। परम्परागत जकडनों से घिरा हुआ तुल्लेराम नवबौद्ध के तर्कों के आगे निरुत्तर होकर भी उन्हें स्वीकार नहीं करता। उनके इस व्यवहार पर जयचंद उन्हें चेतनशील बनाते हुए कहते हैं- "तुल्ले भाई ध्यान दो यहाँ इस बात पर कि हम लोग इसाई, आर्य समाजी और बौद्ध बन उन धर्मों की शरण में इसलिए नहीं जा रहे हैं कि ये हमारा उद्धार कर देंगे। उन धर्मो में जाकर भी हम उत्पीड़न के शिकार दलित ही रहेंगे इसे हम जानते हैं और यह भी जानते हैं कि अपने हक्क की लढाई स्वयं ही लड़नी होगी। लेकिन क्या उत्पीड़न का विरोध और प्रतिकार की लालसा जो हम में उत्पन्न हुई वह निर्थक है? वे हमें पैरो तले कुचलकर हमारी बहू बेटियों की इज्जत आबरू की बेहरुमती करके पशुओं की श्रेणी से भी नीचे हमें रखकर हमारा मार्गदर्शन करे और मन केवल नम्बरदार नम्बरदार की गुहार लगाकर यह प्रतीक्षा करे कि भक्ति करने से हमारे कष्ट दूर हो जायेंगे, हमारे बहू-बेटियों की तार-तार की गई इज्जत भी वापस आ जाएंगी? जिस मंदिर में तुम्हे पांव धरने की भी अनुमति नहीं है, घर द्वार बेचकर उसकी एक प्रतिकृति में तुम्हारे द्वारा भक्ति करने से प्रसन्न होकर किसने तुम्हें और हम सबको हमारे कष्टों से उबार देगा।"[1] समाज में निम्न स्तर पर जीवन यापन करनेवालों पर उसी धर्म के मठाधीशों, आचार्यों और अनुचरों को तरस आना तो दूर की बात है।

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 235,238

उनकी नजरों में यह धर्म द्वारा दिया गया पवित्र कार्य है, हमें यथा शक्ति उसका पालन कारना चाहिए। यह उद्घोष सुबह शाम चारों तरफ बज रहा है। 'यह भंगियों का जीवन जो जी रहे हो, नरक है कि स्वर्ग? यह हमारी बेटियों पर बल्ताकर हो और कहे कि समाज की इज्जत की बात है इसलिए चुप रह जाओ-यह स्वर्ग है कि नर्क। ... हम लोगों की इज्जत का कोई मोल नहीं है इन लोगों की दृष्टि में। ...तुम भंगियों के साथ भोजन करके दिखा रहे हो कि उनके साथ तुम्हारा सम भाव है, भ्रातृभाव है तो देखो हमने एक भंगी को महाशय बना दिया, इसे कहते है भ्रातृभाव।'[1] वे व्यक्तिगत पीड़ा व सामाजिक पीड़ा की अभिव्यक्ति करते हुए अंततः व्यवस्था को चुनौती देते हैं- 'अरिया समाज की इज्जत की क्या है ...मैं मुसलमान बनूंगा, मैं इसाई बनूंगा तुम देखते रहना हिन्दू और भंगी नहीं रहूँगा।'[2] डॉ. अम्बेडकर ने कहा था मैं आप लोगों को स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि मनुष्य धर्म के लिए नहीं है बल्कि धर्म मनुष्य के लिए है। संसार में मनुष्य से बढ़कर और कोई चीज नहीं है। धर्म एक साधन मात्र है जिसे बदला जा सकता है, फेक दिया जा सकता है।

सवाल यह उठता है कि धर्मांतरण के बाद भी दलित भंगी समाज को सम्मान नहीं मिलता, उनका पेशा नहीं बदलता और संपन्न वर्ग एवं जातियों के लोग उनके प्रति पूर्वनिर्धारित व्यवहार जारी रखते हैं? जरूरत है मानसिकता बदलने की और उन समस्याओं से जूझने की जिन्होंने इन्सान को छोटा बड़ा बनाया। अतः इस व्यवस्था की समीक्षा होनी चाहिए और देश के सभी नागरिकों को समान अधिकार मिलने चाहिए, केवल कागजी अधिकारों से पेट नहीं भरेगा, यह स्थिति है एक ही धर्म के नाम पर पहचाने जाने वाले लोंगो की। एक ही धर्मवाले अपने धर्म की स्त्रियों से बलात्कार करके इठलाते है, एक ही धर्मवाले अपने धर्मवालों का अपमान, हत्या करके सामाजिक सम्मान प्राप्त करते हैं, एक ही धर्मवाले अपने धर्मवालों को पूजा स्थानों में जाने से रोकते हैं, अपने ही धर्मवालों को खेतों में शौच जाने के लिए

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 217,218
[2] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 218

प्रतिबंध कर दिया जाता है, मजदूरी पर प्रतिबंद कर दिया जाता है, जब तिरस्कृत लोग इसका विरोध करते है तो स्थापित सत्ताएँ उन्हें घेरकर फिर उसी जगह ले जाते हैं। शोषित वर्ग में प्रतिकार की चेतना उतनी तीक्ष्ण नहीं हो पाई है जितनी होनी चाहिए। वे आज भी जमींदारों सामंतों और गुंडागर्दी करने वाले अधिकारियों, राजनेताओं से भय खाते हैं लेकिन चेतना का विस्तार निरंतर जारी है। 'अरे जब और बूरे करम करके अपनी पसंद का नरक या सुरग मिलैगौ ही तो भगवान की इस में कहाँ आवश्यकता रह गई। अच्छे करम करो सुरग में जाओ बूरे करम करो नर्क में जाओं। मैं तो कहूँ कि हम जाटव है बस यही हमारा धर्म है। न कोई देवी देवता, न कोई भगवान, न कोई धरम सास्तर। ऐसी की तैसी ... ।"[1]

गरीब बस्तियों में भूखमरी का माहौल है, रोजगार का संकट है, बड़े स्तर पर अन्धविश्वास फैला है, शिक्षा की व्यवस्था नहीं है, जबरन जमीदारों के खेतों में उनका शोषण होता है। अपमान, तिरस्कार, इज्जत पर प्रहार, बलात्कार और हत्याएँ तक को सहन करना उनकी आदत बन चुकी है। इन सामाजिक सत्ताओं द्वारा उनकी जुबान छीन ली गई है, बराबरी का अधिकार धार्मिक सत्ताओं द्वारा रौंदा जा चूका हैं, इनका आर्थिक शोषण व दमन बदस्तूर जारी है, खेत खलिहानों से लेकर मंडियों-फैक्ट्रियों तक। अपनी राजनैतिक हैसियत का अंदाजा इन्हें स्वयं नहीं हो पाया है और इनके राजनीतिक प्रतिनिधि अपने निहीत स्वार्थ के लिए इन्हें बड़े स्तर पर गुमराह करते हैं। फिर भी आज के दिन वे एक ताकत के रूप चिन्हित हो चुके हैं। लेकिन चुनावी मौसम में इन्हें लालच देकर, पव्वे पिला-पिलाकर या किसी अन्य प्रलोभन में इनके पावर रूपी वोट हथिया लिए जाते हैं और इसी पावर से इनका दमन किया जाना एक परम्परा बन गई है। भारतीय राजनीति में यदि मतदाता यदि अपने मत का प्रयोग सच्चे मन से सही व्यक्ति के पक्ष में करे तो राजनीति का स्वरूप निश्चित रूप से बदलेगा। और लोगों को न्याय मिलेगा।

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 239

महात्माओं द्वारा समाज के लिए जो सकारात्मक कार्य होने चाहिए थे वे इसलिए नहीं हुए कि उन्होंने केवल अपना कार्य धर्म तक ही सीमित रखा- "महात्माओं की कमी है क्या इस देश में, इस समाज में? हर सड़क मोहल्ले, बाजार में घुरघुराते फिरते हैं ... रामायण की कथा कहने वाले और कारों में चलनेवाले, चार-चार मंजिले कोठी-बंगलों में वास करने वाले इन तथाकथित संतों से पूरा देश अटा पड़ा है। इनके प्रवचनों में जाकर देखेंगे तो पाएंगे कि पचास फीसदी से भी अधिक श्रोता दलित, भंगी,चमार, धोबी, खटीक, केवट, पासी इत्यादि जातियों से ही है जिनके बारे में तुलसीदास ने कहां- 'ढोल गवार शूद्र पशू नारी - ये सब ताड़न के अधिकारी' और ये तथा कथित शूद्र अवमानित व अपमानित होकर भी इन प्रवचनों में तुलसीदास और उनके भगवानों के नारे लगा-लगा कर अपने आप को धन्य मानते हैं।"[1] धर्म और व्यक्ति की हैसियत पर टिप्पणी करते हुए उपन्यास की सशक्त पात्र चावली कहती है- "बाबा पहले तो हिन्दू रहे, हिन्दू भी क्या रहे भंगी रहे। हिन्दू धर्म में कोई इंसान थोड़े जन्म लेता है, सब बांमन, राजपूत, बनिया, कैस, नाई, धोबी, खाती, चमार, चूहड़े इत्यादि जन्मते हैं। हिन्दूओं में औरत की कोख से जब जीव जन्म लेता है तब वह मनुष्य नहीं होता है, या तो बामन होता है, या चमार होता है या नाई होता है इन्सान कोई पैदा नहीं होता है। ...यदि महात्मा जो जिद्द किये बैठे थे कि अछूतों का उद्धार किये बिना न मरेंगे न जियेंगे, ने एक बात और भी ठानी हुई थी अंग्रेजों को भी भगायेंगे इस देश से। छूत-अछूत की भावना को भगाना उनकी कार्य सूची में दिखावे के लिए था तो सही लेकिन गौण और एक कोने में पड़ा कभी-कभार प्रचारित होने के काम के लिए। अछूतों के साथ एक बर्तन में भोजन करना तो उन्हें स्वीकार्य था लेकिन भंगी अपना धंदा छोड़ और करे यह उन्हें स्वीकार्य नहीं था। भंगी-भंगी ही रहे, चमार-चमार ही रहे, नाई-नाई ही रहे।"[2] शास्त्रों के प्रति आक्रोश समानतावादी सोच की उपज है। लेखक नई पीड़ी को आहवान करता है कि आजादी

---

[1]थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं.187
[2] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव - पृ.सं. 202,203

मिलने के बाद भी करोड़ों लोग आजाद नहीं हुए हैं, इसलिए इन करोड़ों को न्याय दिलवाने के लिए जारी संघर्ष को तेज करना ही होगा। इस संघर्ष का उद्देश्य समता मूलक समाज की रचना करना है।

परम्परागत व्यवस्थाओं के प्रति गरीब दलित समाज विशेष रूप से सफाई का काम करनेवाली जातियों का मोह अभी छूट नहीं पाया है। यहाँ अनपढ समाज में ऐसी मानसिकता कायम है जो इस परम्परागत काम को त्याग कर वैकल्पिक व्यवसाय में जाने से झिझकते हैं और समझती है कि यह तो मेंरा पुश्तैनी धंधा है। चावली की माँ पति द्वारा सफाई के लिए मना करने के बावजूत झाड़ू को तिलांजलि नहीं देती है और कहती है- “यदि मैला नहीं कमाएगी तो अपना, बेटी और इस निकम्मे खसम का पेट कैसे भरेगा। माँ की गालियाँ, जो इसके पश्चात बाबा को देती इतनी अश्लील भद्दी और बेहूदा होती थी ...अबे मुझे घर में बिठा कर रखने का इत्ता ही शौक है तो स्वयं क्यों नहीं कैथों के हिय कमल है। जा कल से टोकरा पंजा उठाकर अस्सल बाप का बीज है तो कल से ही यह काम शुरू कर दे।”[1] अतः धर्म-कर्म की जाल में फंसी सफाई का काम करनेवाली औरत, सफाई का धंधा छुड़वाने वाले स्वाभिमानी पति और अपनी अबोध बेटी को छोड़कर अपने पिता के पास चली जाती है और अन्यत्र विवाह कर लेती है। माँ के अभाव में पिता के निधन के बाद बेटी का संबंध ऐसे परिवार से बनता है जो उसे सफाई के काम से दूर रखता है। फलतः वह एक दक्ष दाई बनकर समाज में फैले अनैतिक व्यभिचार को सार्वजानिक करती है और तथाकथित सभ्यता, संपन्नता और उच्चता का चोला ओढ़े समाज की परते उतारती है। सफाई के धंधे में उलझा समाज इसे ही अपना सब कुछ मान बैठा हैं। इस धंधे को लात मारे बिना इस समाज का सशक्तिकरण संभव नहीं है। इन पर होने वाले अत्याचारों को रोकने कही दूसरी जगह से कोई भगवान आज तक नहीं आया तो इसकी संभावना भी शून्य ही है कि आगे कोई आएगा। अतः इन्हें अपने भीतर से ही ताकत अर्जित करनी होगी। रचनाकार कहना चाहता है कि लोगों के आपसी संघर्ष-

[1] थमेगा नहीं विद्रोह - उमराव सिंह जाटव पृ.सं. 195

महारों के आपसी संघर्ष और अन्य पिछड़ी जातियों के आपसी संघर्षो के मध्य एक विचारधारा है। डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक नवनिर्माण व न्याय की विचारधारा है तो दूसरी तरफ शास्त्र आधारित महात्माजी की विचारधारा है। शिक्षा और ज्ञान से वंचित जातियाँ बाबासाहब के निकट आने के बजाय महात्माजी की विचारधारा की रक्षा में आ खड़ी हुई है। इसी वजह से अछूतोद्धार, समजोद्धार मात्र एक ढकोसला बन कर रह गया। एक रस्म बन गई है जिसे शासन निभा रही है। लेखक संकेत करता है कि वंचित वर्ग को परम्परागत व्यवसायों को त्यागकर साफ़-सुथरे व्यवसाय अपनाने तथा तर्क की जड़ताओं के विरुद्ध जाकर समता मूलक बुद्ध धम्म की तरफ अग्रसर होना चाहिए। सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना हेतु हमारे प्रयास तभी सफल होंगे।

इसी तर्ज पर हंसा का परिवार भादों के महीने में जाहवीर गोगा जी की जात लगाने में व्यस्त है। इस कार्य के लिए इसने चौधारी देविपाल से ऋण लेकर पांच हजार रुपये के लगभग खर्च करने के बाद भी वह प्रसन्न है। उसकी प्रसन्नता का कारण है उसने मंगल गीतों के बीच पीले वस्त्र धारण करके देवस्थान की यात्रा की और भगत हरसन्ना के बताए रास्ते पर चलने से उसके परिवार पर आया देव-कोप टल गया। वह अपने आप को संपन्न जातियों के व्यक्तियों के बराबर मानने लगा लेकिन उसका यह झूटा सम्मान न तो ओढ़ने और न बिछाने के काम आया और न इसके किसी बिमारी का इलाज संभव हुआ लेकिन फिर भी वह इठलाता हुआ अपने आप पर गर्व करता हुआ हजारों का कर्जवान होकर दुखी नहीं था क्योंकि अज्ञानता, अशिक्षा व विवेक हीनता के कारण उसकी आँखों पर पट्टी चढ़ी हुई थी। भाई द्वारा नेक सलाह दिए जाने पर वह उसको आड़े हाथ लेता है और इसे अपनी यात्रा, सम्मान और देवता का अपमान समझाता है- “कह तो ऐसे रहे हो जैसे गाँठ से कुछ निकाल कर दे दिया हो। अब तुम्हें रोटी पेट भराऊ लगने लगी है तो देवताओं का भी अपमान करने लगे। अपनी औकात में रहो सरवन और तुम्हें मुझ पर कर्ज हो जाने का दुःख है तो दे दो न गाठ से निकालकर। क्यों कर्ज मंद छोड़ते हो अपने भाई को? ...कभी बिरादरी के पांच भाईयों को बुलाकर खिलाओं तो जाने। खैर यह तुम्हारा अपना

मामला है। पर आइन्दा मुझसे फिजूल की बातें मत करना। मेंरे पास इन सबके लिए समय नहीं है। रही कर्ज की बात, तो कर्ज किस पर नहीं है। टाटा, बिड़ला, अंबानी-रंबानी तक कर्ज में फसे पड़ें हैं। अरे भाई दुनिया के आधे से जादा देश अमेंरिका, जापान और रूस के कर्जमंद है। तुम्हारे घर कर्ज मांगने आए तो लात मारके दौड़ा देना।"[1] अविवेकी अबौधिक मानसिकता के कारण जात-बरात के नाम पर फिजूल खर्ची एवं पाखंड करनेवाले लोग आवश्यकता पड़ने पर दूसरों के तलवें चाटते हैं। इस वक्त हंसा रूपी अज्ञानी को देवता और भगत के शिवाय किसी का ख्याल नहीं है। बच्चों की शिक्षा पर खर्च करने टूटे-फूटे घर की मरम्मत करने की बजाय यह ऋण लेकर ऐसे कार्यों पर धन की बर्बादी कर रहे हैं जिनका कोई लाभ होना तो दूर बल्कि दूरगामी दुष्परिणाम निकलेंगे।

हरसन्ना भगत के कर्मकांडी पूजा-पाठ, झाड-फूंक और देवता से बातचीत करने के पाखंडों ने गरीब अविवेकी जनता को गहरे तक प्रभावित किया हुआ है। यही कारण है कि वे बच्चे के बीमार होने, भैंस के बीमार होने और खेत में गिर पड़ने का कारण देवता की नाराजी बताकर लोंगों को मूर्ख बनाकर स्वयं मौज करता है। लोग समझते हैं कि भगत के पास सब बीमारियों का इलाज है लेकिन वह जात लगाने का सूत्र बताकर उनका दोहरा शोषण करते थे। प्रथम तो मानसिक और द्वितीय आर्थिक। हंसा द्वारा हजारों रुपये खर्च करने के बावजूद जब जात लगाने का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ तो इसका दोष वे इन्हें ही देते हुए कहते हैं- "हंसा भाई मानोगे तो तुम बूरा पर सच्ची बात यह है कि तुमने जो जात लगाई देवता जाहवीर ने उसे कबूल नहीं किया है। अब या तो तुम्हारा मन सच्चा नहीं था या तो तुम्हारे परिवारजन की नियत में खोट थी। ...चिंता करने की कोई बात नहीं हैं। मैं सब संभाल लूँगा। आखिर तो गलती इंसान से होती है।"[2] भगत द्वारा इस बारे में शक का इशारा परिवार की तरफ किये जाने पर दोनों भाइयों में लड़ाई हुई। सरवन का सर फूटा, हंसा की टांग टूटी,

[1] जस तस भई सवेर - सत्यप्रकाश पृ.सं. 10
[2] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 18

दोनों में बोलचाल बंद हो गई। लेकिन क्यों? उनके मध्य कोई लेन-देन नहीं मगर फिर भी एक शक की दीवार पैदा कर दी गई। एक पाखंडी कर्मकांडी द्वारा जिसका मकसद दोनों को आपस में लढाकर उनका मन चाहा शोषण करना था। हंसा कूपमंडूकता के कारण ढोंगी पाखंडी के चक्कर में पड़कर अपने परिवार को गर्त में धकेलता है।

दूसरी बार जात लगाने के अवसर पर हवन पर बैठे भगत ने लोंगों को गोगापीर की कहानी सुनाई। उसने लोगों को प्रभावित करने के लिए गर्दन हिलाकर ऊँची-ऊँची आवाज लगाई- "सावधान सब लोग रास्ता छोड़कर एक तरफ हट जाओ। इष्टदेव जाहवीर की सवारी आ रही है देवता महाजन नीले घोडे पर सवार है। कोई भूले से भी आगे मत आ जाना क्योंकि साथ में भुज्जू कोतवाल काले भैंस पर सवार होकर हाथ में मोठी लाठी लिए चले आया रहें। उनका घुस्सा संभाले नहीं संभलता है भैया। हा सभी सावधान हो जाओ। नर सिंह पांडे भी साथ में है। ...सब कान खोलकर सुन लो भैय्या।"[1] इसी बीच सुनहरी की पीठ पर चिमटों की धडाधड मार से वह तड़प उठी। उसने मार से बचने के लिए भगत की इच्छानुसार शरीर को हिलाना डुलाना शुरू किया। कल्लन कुरैशी कसाई द्वारा दो बकरों की बलि दी गई, लोगो ने दावत खाई। हंसा का शोषण बढ़ता गया, वह मूर्ख बनता गया और इन सारे कार्यों पर हाय खींचते-खींचते दस हजार रुपये खर्च हो गए। साथ ही चौधरी द्वारा फसल में उसका हिस्सा मार लिया गया और ऋण के बदले उसे बेगारी करने को मजबूर होना पड़ा। सामाजिक रूप से पिछड़े लेकिन धार्मिक कार्यों में अग्रणी रहने वाले वंचित कामकाजी लोगों को कोई न कोई देवता, जिंद, भूत, प्रेत सपने में दिखाई देते ही रहते हैं। और इसका कारण है गरीबी, चिंता, मानसिक भय, शोषण की मार, अनिद्रा, बढती बेचैनी, पारिवारिक चिंताएँ। लेकिन दुखी एवं भोला समाज इसका इलाज अर्थशास्त्र के जरिये करने की बजाय साधु-संतों, भगतों से गंदे ताबीज प्राप्त करने में लगा रहता है। कमाल है गरीबी का भी कि वे उनके आगे मुक्ति निवेदन करते है जिन्होंने उन्हें शोषण किया हैं, उपन्यास इसी अज्ञानता को चेतना में बदलना चाहता

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 35

है। घोर दरिद्रता और शोषण में घिरा हंसा अपने इकलौते बीमार बेटे के इलाज के लिए तीसरी बार भगत की शरण में जाता है। उसके विचार से भगत से बड़ा वैध, डॉक्टर कोई नहीं है। भगत उसके कान में एक बात कहता है और उसी रात उनके घर चोरी हो गई। हालांकि किसी ने चोर को नहीं पकड़ा, उसे घर में घुसते या भागते किसी ने नहीं देखा लेकिन एक उद्देश के तहत सरवन को ही निशाना बनाया गया। क्योंकि सरवन का परिवार शोषण की दादागिरी नहीं मानता उनके खेतों में नहीं जाता, उनके ऋण नहीं लेता और न ही उनके द्वारा प्रायोजित पूजा पाठ जात बरात में हिस्सा नहीं लेता। इस से भी आगे सरवन के बेटे शिवदास को सरकारी नौकरी मिलने से उसकी समृद्धि से ईर्ष्यालु हो गए थे। इसलिए उन्होंने योजनाबद्ध तरीके से भाई ही भाई पर आरोप लगवाकर अपनी खुन्नस निकाली चौधरी और भगत द्वारा कर रहे कुकर्म का सरवन पर्दाफास करता है- “भगत जी, भगत होकर इतना अनर्थ क्यों कर रहे हो, क्या तुम्हारा देवता भी तुम्हे नहीं समझा पाया? वह सब कोप करता है, तुम्हारे दुष्कर्म के लिए तुम पर कोप नहीं करेगा? इसका मतलब तुम जानते हो कि देवता-वेवता सब ढोंगबाजी है भोली-भाली जनता को लूटकर मौज कर रहे हो। हम दोनों भाईयों के बीच मन-मुठाव व झगड़ें का खूब फायदा उठा रहे हो, कही इस काण्ड के सूत्रधार आप ही तो नहीं। लोग सब जानते हैं, इतने बेवखूब नहीं है। ...अरे चौधरी कुछ तो इंसानियत बचाकर रखी होती। बिल्कुल इज्जत बेच खाई।”[1] सच्चाई का सामना करने की हिम्मत बहुत कम लोगो में होती है, शोषकों में तो होती ही नहीं इसलिए वे सच्ची बातों से तिलमिला उठे। चौधरी ने सरवन पर प्रहार करते हुए कहा- “चोरी और सीना जोरी, साले हरामजादे कमीने इस गाँव में मेंरे रहते हुए यह चाल नहीं चल पाएगी। मैं भुगतुंगा तुझे बद्जात। मारो रे साले को।”[2] बात यही पर समाप्त नहीं हुई बल्कि शोषकों द्वारा पुलिस बुलाकर सरवन को उनके हवाले करवा दिया गया। पुलिस ने चौधरी के निर्देशानुसार निरापराध होने के बावजूद

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश पृ.सं. 75
[2] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश पृ.सं. 76

उसकी पिटाई की। अंततः हरदेई ने गहने बेचकर पैसों का प्रबंध किया तब जाकर उसकी जमानत हुई। इस दौरान हंसा के खाते में चौधरी ने पुलिस रिश्वत व अन्य खर्चो के रूप में दो हजार रुपए चढ़ा दिए।

रोग का इलाज दवा से होता है, झाड़ फूंक से नहीं इसलिए जब हंसा-सुनहरी के रोगी बालक को झाड़-फूक से कोई लाभ नहीं हुआ तब वह भगत के निमन्त्रण पर पूजा-पाठ के लिए उसके घर गई। जहाँ पर भगत ने प्रसाद में नशीला पदार्थ खिलाकर उसे बेसुध करके पहले चौधरी के हवाले कर दिया और बाद में भगत ने उसका यौन शोषण किया। हंसा पत्नी को ढूढ़ते हुए भगत के पास पंहुचा तो वहा चल रहे वार्तालाप को सुनकर उसके पैरो के नीचे से जमींन खिसकने लगी। भगत कह रहा था- "बंधू ये शैतानी ताकतें, भूत-प्रेत बाधा, गढ़ों की अशुभ चाल आदि का छलावा ही है जिसका भय दिखाकर हम लोगों को धर्म के मार्ग पर चलने, देवता की जात लगाने, कल्याण के लिए तंत्र-मन्त्र टोटके करना और धार्मिक अंधविश्वास में लेकर भांति-भांति के आयोजन करवाते हैं अगर शैतानी ताकते सचमुच दुनिया में समाप्त हो गयी तो वह हमारा भी अंतिम दिन होगा। क्योंकि फिर रूठे देवता को मनाने मनवाने, बुझा दिखाने, ग्रहों की शांति कराने, जात बारात लगवाने और होनी को टलवाने का उपाय कराने कौन आएगा? कोई भी यज्ञ हवन नहीं कराएगा। हम भूखों मर जायेंगे। फिर हम शैतानों का भय न दिखाई तो हम लोगों को धार्मिक अंधविश्वासों से कौन पूछेगा? फिर कोई चिड़िया जाल में नहीं फसेगी। शैतानी ताकतों का डर ही तो हमारा जाल है भाई। असल बात तो तुम ही जानते हो कि ये देवता वगैरहा कुछ नहीं है भैया, सब खाली पड़े बिना कमाए मौज करने का तरीका है। शैतान बैतान को मैं नहीं जानता किसी भूत प्रेत को मै नहीं जानता। न मैं यह जानता हूँ कि यह है भी अथवा नहीं है। ...अब देखों सारे गांव के हाथ-पांव जोड़ों में ईख छोलते-छोलते फट जाते है। मेंरे हाथ-पांव हमेंशा चिकने मिलेंगे। मैं काम करता ही नहीं। हवन करते समय ही घी हाथ पांवों में ठीक से मल लेता हूँ। लोग साले खाने को तरसते है, यहाँ

असली घी देवता के प्रसाद में आ जाता है मेंरा पेट हमेंशा नाक तक भरा मिलेगा। सारा गाँव मुझे पूजता है अलग।"[1]

धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, जात-बरात की असलियत स्वयं भगत से सुनकर हंसा की अन्धविश्वासी मानसिकता टूट गयी। पत्नी की व्यथा सुनकर उसके तन में आग लग गई। इस घटना की बातचीत करने जब हंसा उसकी बैठक में पहुंचा तो वहाँ इन्तजार में बैठे लोगों ने उसे अधमरा कर दिया। मंगल पहलवान जब जात लगाने का निमन्त्रण देकर अगले दिन वापस पहुंचे तो वृत्तान्त सुनकर उनका खून खौल उठा और उन्होंने अपनी पट्टा खेलनेवाली लाठी उठाकर चौधरी को घेर लिया। चौधरी ने भागने का प्रयास किया मंगल ने पहले उसकी धुनाई की और बाद में उसे घर उठवा लाए। जहाँ चौधरी ने सभी के सामने अपनी नाक रगड़ी, तीन बार थूक कर चाटा और अपने प्राणों की भीख मांगी। जब मंगल पहलवान भगतजी के घर पहुंचे, उस समय भगत भगताई कर रहे थे। पहलवान ने भगत से कहां- "आजा भगत, आज तेरी भी भगताई निकाल दूँ। बुला साले, कौनसा देवता है तेरा। आज तेरा देवता भी सामने आ गया तो उसकी भी खैर नहीं। ...यह कहकर पहलवान भगतजी के कमरे में घुस गए। देवताओं की तस्वीरे पूजा का सामान निकालकर बाहर फेंक दिया और भगतजी को घसीटकर बाहर निकाल लाये। भगतजी हाथ जोड़कर गिडगिडाते हुए पहलवान के पावों में गिर पड़े।"[2] आज सामाजिक एवं वर्षों से स्थापित अत्यचारों, जुल्मों, भाग्यवादिता, अंधविश्वासों और अडंबरों के साम्राज्य के ढहने से बचाने व अपमान का बदला लेने के लिए चौधरी व भगत ने एक योजना बनाई। गरीब लोगों को आर्थिक, शारीरिक, मानसिक रूप से लूटनेवाले, भय-भूत निकालनेवाले, भय-भूत का व्यापार करनेवाले इतनी जल्दी सुधर जायेंगे इसकी संभावना कम ही थी। अर्ध-रात्री बीत जाने पर चौधरी और भगत ने दलित बस्ती में आग लगवा दी। सारे गाँव में चौधरी और भगत के खिलाफ माहौल बन गया था। इस बार पुलिस भी तुरंत आ गई।

---

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश पृ.सं. 114,115

[2] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 120,121

थाना प्रबंधक चौधरी और भगत की ऐसी दुर्दशा देखकर दंग रह गए। गाँव में बदले रूप को भांपकर उन्होंने कहा- "पहलवान तुम्हें जिस पर शक हो रिपोर्ट करों। कानून अपना काम करेगा किसी को भी माफ़ी नहीं मिलेगी। कोई भी कानून से बड़ा नहीं हो सकता।"[1] यह वही पुलिस है जो कामकाजी लोगों के खिलाफ हुए जुल्मों व उनकी हत्याओं के मामले में न्याय देना तो दूर उन्हें माँ बहन की भद्दी गाली देते हुए डरा धमकाकर थाणे से भगा देती थी, मगर अब कानून को लागू करने की बाते कर रहे हैं। आज क्या करिश्मा हो गया कि वे रिपोर्ट करवाने को पूछ रहे है। असलियत में वे अपने आप को निष्पक्ष व शोषकों की सुरक्षा हेतु गाँव पहुँचे हैं। इस घटनाक्रम में ख़ास बात यह है कि यदि पुलिस अपने कार्य को नियमानुसार करें तो समाज में गरीब कामकाजी लोंगो के खिलाफ निरंतर बढ़ रहे अपराधोंपर अंकुश लगाया जा सकता है। अतः समतामूलक व न्याय परक समाज बनाने के लिए पुलिस तंत्र को लोकतान्त्रिक व सभ्य बनाएं जाने की बेहद जरूरत हैं। शोषकों पर बलात्कार और आगजनी का मामला दर्ज किया गया। शिवदास को मैनेजर से मिलकर पचास हजार रुपये के गबन के मामले में फ़ंसाना भी चौधरी ने स्वीकार कर लिया। यह कार्यवाही चल ही रही थी कि वहा अचानक मनसुख हाजिर हो गया। उसने थाना प्रभारी से चिल्लाकर कहा- "ठहर जाओ दरोगाजी अभी मेंरा काम अधुरा है'। यह कहते कहते उसने गोली चलाकर हरसन्ना भगत की खोपड़ी के परखछे उडा दिए। दूसरी गोली चौधरी की जांग में लगी, तीसरी गोली चलाते-चलाते पुलिस ने मनसुख को काबू कर लिया। बदला लेने को आतुर मनसुख ने कहा- 'इन पापियों ने मेंरी पत्नी की हत्या की है। मेंरे बच्चों को बेघर कर दिया है, मैं इन्हें नहीं छोडूंगा।"[2] धर्म के व्यापारी हरसन्ना भगत द्वारा विशेष रूप से गाँव की गरीब महिलाओं को चौधरी के इशारे पर घर बुलाकर उनके साथ व्यभिचार किया जाना व्यवस्था जन्य अपराधों का एक उदहारण मात्र है। लाखों महिलाएँ अन्धविश्वास पूजा-पाठ, झाड़-फूक, कर्मकाण्ड में उलझकर अपने

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 126
[2] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 127

परिवारों को ठीक उसी तरह तबाह कर लेती है जैसे सुनहरी का परिवार तबाह हो गया। गरीब व अज्ञानता के दलदल में पड़े लोग निरंतर जात पर जात लगाते रहे मगर इससे इनको लाभ होना तो दूर रहा बल्कि आर्थिक रूप से निरंतर कमजोर होते चले गए। उपन्यासकार चाहता है कि गाँव में धर्म के नाम पर कायम अंधविश्वासों का अंत हो नहीं तो फिर हरसन्नाओं को समाप्त करने के लिए मनसुखों को आना होगा। मनसुख तथाकथित सामन्ती व दैवीय व्यवस्था द्वारा पैदा किये गए उत्पीड़न में प्रतिशोध का प्रतीक है।

सामाजिक कार्यकर्ता रूपलाल ने चौधरी और भगत को वटवृक्षीय व्यवस्था के तने, देवता से मिलन, जात-बरात, ग्रहों की शांति के उपाय, तंत्र-मन्त्र और कल्याण के टोटको को इसकी शीतल छाया बताकर सांस्कृतिक व्यवस्था के रूपांतरण पर जोर दिया। भगत जहाँ धार्मिक आडंबरों के लिए प्रेरित करते हैं तो चौधरी इसके लिए कर्ज देकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी बेगार करवाते हैं। और औरतों का यौन शोषण करते हैं। दोनों अपनी बुद्धि व देवता की आड़ में और धन के बल पर इन गरीबों का सवेरा छिनकर मौज करते हैं। "धर्म को सिर पर ढोए फिरना तो मूर्खता व जड़ता का ही लक्षण है। ...हमें समाज में व्याप्त मिथकों को तोड़ना होगा। कोरे बुद्धिवाद से निपटना होगा। संकीर्णताओं एवं कलुषभाव को त्यागना होगा। ...अपनी प्रज्ञा और शक्ति को पहचानना, अपनों की परिभाषा को बदलना होगा। तभी हम सबका समस्त समाज का कल्याण संभव है।"[1] अतः उपन्यासकार ने ग्रामीण जीवन में धर्म के शोषणकारी रूप को चित्रित करके पाठको को सावधान करते हुए आग्रह किया है कि सदियों से धार्मिक जड़ताओं में फसे गरीब समाज को चिन्तनशील बनाकर उन्हें बर्बाद होने से बचाए। निष्कर्ष रूप में इन दोनों उपन्यासों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धर्म पोषित गुलामी में उलझे लोग अब धार्मिक आडम्बरों को त्यागकर समाधान की तलाश कर रहे हैं।

---

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 128

पंचम अध्याय

5. हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में अभिव्यक्ति के विविध स्वर

5.1 दलित साहित्य : विचार और भाषा

5.2 भाषिक सैद्धान्तिकी

5.3 दलित साहित्य की भाषिक सैद्धान्तिकी

5.4 शिल्पगत प्रयोग

5.4.1 आत्मकथात्मक शैली

5.4.2 वर्णनात्मक शैली

5.4.3 मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

5.4.4 दलित साहित्य में बिम्ब, प्रतीक और मिथक

5. हिंदी और मराठी के प्रतिनिधि दलित उपन्यासों में अभिव्यक्ति के विविध स्वर

दलित साहित्य की भाषा सहज, सरल तथा आम बोलचाल की भाषा है क्योंकि किसी वर्ग विशेष से कोई रचनात्मक व्यक्ति साहित्य में प्रवेश करता है तो वह अकेला ही प्रवेश नहीं करता, बल्कि उसके साथ उसका पूरा परिवेश, संस्कार और समाज भी साहित्य में प्रवेश करता है। इसलिए दलित साहित्यकारों ने जब साहित्य में प्रवेश किया तब उनके साथ दलित बस्तियों की सारी भड़ास और गालियों ने भी साहित्य में प्रवेश किया। जिस प्रकार के दग्ध अनुभव दलित साहित्यकारों को हुए उनकी अभिव्यक्ति के लिए वैसी ही दग्ध भाषा का प्रयोग दलित साहित्यकारों ने किया। चूँकि अभिजात्य समीक्षकों एवं साहित्यकारों के लिए दलित संस्कार, गन्दी बस्तियों की स्थिति, गलियों में घूमते नंग धडंग बच्चे ये सब अनजाने थे इसलिए उन्हें यह भाषा अश्लील लगी। इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव कहते हैं- "हाशिए के लोग अपनी जमीन और जीवन स्थितियों से जितने जुड़े हैं, उतने मुख्यधारावाले हिंदी लेखक नहीं।"[1] इस वक्तव्य से जो अर्थ निकलता है वही दलित साहित्य को जीवंत बनाता है। नामवर सिंह का भी यही मत है पर वे द्विविधा में अपनी बात रखते हैं- "दलित होना व्यक्ति की ऐसी हकीकत है जन्मना दलित होने के कारण अनुभव के जिस आसंगो से एक आदमी को गुजरना पड़ता है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव एक दलित के जैसा है, अपनी पूरी अनुभूति एवं कल्पना का विस्तार करने के बावजूद मैं जो एक गैर दलित हूँ उस अनुभव को उसी तीव्रता और तनाव से आपको अनुभव नहीं करा सकता।" लेकिन अगले ही क्षण उनका अन्तर्विरोध दिखाई देता है "कोई व्यक्ति दलित कुल में जन्म लेने से दलित चेतना का संवाहक नहीं हो जाता है... जन्मना दलित ही चेतना का प्रतिनिधि होगा दूसरा कोई नहीं, गलत है।"[2] गैर दलित परम्परावादी समीक्षक दलित साहित्य पर कई प्रकार के आरोप लगाते हैं; कभी भाषा को लेकर अश्लीलता

---

[1] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - ओम प्रकाश वाल्मीकि - पृ.सं. 36

[2] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - ओम प्रकाश वाल्मीकि - पृ.सं. 38

और अरुचिकर तो कभी रचना के शिल्प और सौन्दर्य को लेकर अनगड़ता और कच्चे पण का आरोप लगाते हैं। ये आरोप पूर्वग्रहों की प्रतिक्रिया से उत्त्पन्न होते हैं ऐसे में अरुण प्रभा मुखर्जी लिखती हैं- "जब लेखक और पाठक जातीय, वर्गीय, वंश एवं लिंग के आधारपर विभक्त हो, तब सौन्दर्यपरक गुणवत्ता से कोई फरक नहीं पड़ता... मैं यह अनुभव करती हूँ कि यह लेखक (दलित) मुझे उस दुनिया के सच के बारे में बता रहा है, जिसमें मैं रहती हूँ। जहाँ तक अनगड़ता का संबंध हैं यह सच नहीं है कि इन रचनाओं में भाषिक एवं संरचनात्मक जटिलता नहीं हैं, वे दक्षता पूर्वक कई प्रकार के स्वर भावाभिव्यक्तियाँ, उपहास परकता, व्यंग्य एवं विडम्बना प्रस्तुत करते हैं। साथ ही उच्च वर्गीय साहित्य एवं पुराणों से संकेत लेकर उन्हें परिवर्तित करके प्रयोग करते हैं।"[1] जिस तरह से दलित साहित्य पर आरोप लगाया जता हैं उसका पूर्णतः अरुण प्रभाजी यहाँ खंडन करती हैं।

इसलिए गैर दलित लेखकों और आलोचकों पर टिप्पणी करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं- "हिंदी के स्थापित आलोचकों समालोचकों विद्वानों की यही स्थिति है वे दोहरे मापदंडों में जीते हैं। पल-पल उनके विरोधाभास उजागर होते हैं, फिर भी वे एक साथ मार्क्सवादी, प्रगतिशील, सामन्ती, परम्परावादी, गांधीवादी व्यवस्था के पोषक सनातनी बने रहते हैं। चाहे नामवर हो या रामविलास शर्मा या परमानंद श्रीवास्तव या फिर विष्णुचन्द्र शर्मा उनकी दृष्टि में निराला तुलसीदास ही छाहे हुए है। निराला प्रगतिशील चेतना के कवि हैं लेकिन वे यह नहीं जानते हैं कि 'राम की शक्ति पूजा' कविताओं के केन्द्रीय भाव क्या है? प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है। या फिर ऐसा शब्दजाल जो किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व ही आँय-बाँय हो जाता है, बदलाव की स्थितियों को यथास्थिति में परिवर्तित कर उसे और अधिक सुदृढ कर देता है। इन तथ्यों पर ध्यान दिए बगैर दलित साहित्य की अभिव्यंजना को समझना कठिन हैं। ऐसा ही प्रश्न है कि महादेवी वर्मा की 'नीर भरी दुःख की बदरी'

[1] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - ओम प्रकाश वाल्मीकि - पृ.सं. 40

की पीड़ा का श्रोत क्या है? कवयित्री उस श्रोत से टकराती भी है या नहीं।"[1] संभवता यह कहा जा सकता है कि उन्हें पता नहीं था कि जब पेट भरा हो और व्यक्ति के पास पुर्सत हो, तभी भाषा को कलात्मक बनाया जा सकता है। ऐसी भाषा में प्रायः ज्वलंद मुद्दों को नहीं उठाया जा सकता। चूँकि कबीर के पास मुद्दे थे इसलिए उसकी भाषा में कोई महीन कारीगरी नहीं है लेकिन अपनी संपूर्ण अनगड़ता के बावजूद उसने शताब्दियों से जनजीवन को प्रभावित किया है, जब कि आलोचकों ने उसकी पूर्ण उपेक्षा की और उसे सधुक्कड़ी भाषा कहाँ। कबीर की कविता को समाज में जिन्दा रहने के लिए अखंड पाठों की आवश्यकता नहीं पड़ी। लगभग यही स्थिति दलित साहित्य की भाषा के संबंध में है। दलित साहित्य की अकृतिम भाषा को इसकी कमजोरी बताकर इसे नकारने के प्रयास होते रहे हैं। इस संबंध में रामदरश मिश्र का यह कथन दृष्टव्य है। वे लिखते हैं कि- "वे (हिंदी दलित लेखक) जो लिख रहे हैं उसकी कमजोरी को भी साहित्य एक नई उपलब्धि मानकर उसके मूल्यांकन का नया आधार खोजा जाए यह वांछित नहीं हैं।"[2] दलित साहित्य की भाषा चाहे वह किसी भी भाषा का दलित साहित्य हो अपनी अनगड़ता के बावजूद अनेक विषयों को छुता है, तथा उनके विषय के अनुरूप भाषा का चयन करता हैं।

5.1 दलित साहित्य : विचार और भाषा

बुद्ध का दर्शन और विचार दलित साहित्य तथा विमर्श का आधार है। बाद में सिद्धों नाथों तथा संत कवियों ने इसे रचनात्मक धरातल से आगे बढाया। जाति के विरोध में यह बड़ा आन्दोलन था जिसे भक्ति साधना के रूप में परिभाषित किया गया। डॉ. अम्बेडकर के संघर्षों ने इसे वैचारिक तथा कानूनी रीढ़ दी। बाद में यह एक राजनैतिक सामाजिक आवश्यकता के रूप में जाना गया। जहाँ तक भाषा का सवाल है यह सदैव जनभाषा (लोकभाषा) में रहा है। आलोचकों ने 'लोक' को 'शास्त्र' के बरक्स खड़ा किया। जाहिर है कि सदियों तक समाज के हाशिए पर रहने के कारण

[1] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - ओम प्रकाश वाल्मीकि - पृ.सं. 38
[2] दलित साहित्य का सीमांत ठीक (लेख) रामदरश मिश्र - राष्ट्रीय संहारा, दैनिक, दिल्ली- 20 फरवरी 2002, पृ.सं.14

शिक्षा, सम्मान, संसाधनों से वे सदैव वंचित रहे हैं। इसका असर उनके भाव-बोध और उनकी अभिव्यक्ति पर पड़ना ही था। किसी के रोने को यह तो नहीं कह सकते कि सुर में रोए। रुदन तो रुदन है क्रोध को भी संयमित नहीं किया जा सकता। इसी तरह विरोध प्रतिरोध होगा तो भी व्यवस्थित नहीं होगा उनके भाव-बोध में जो संकल्पनाए नहीं अटेगी उसका विरोध करेगा ही। इसलिए दलित लेखन हो या स्त्रीवादी स्वर सबसे पहले ब्राह्मणवादी वैचारिकी और पितृसत्ता का विरोध यहाँ प्राथमिक स्तर पर मिलता है। इस विरोध की अभिव्यक्ति साहित्य में मिलती है।

5.2 भाषिक सैद्धान्तिकी क्या है?

भाषा को भावों की अभिव्यक्ति से आगे प्रयोगकर्ता के बोध व अनुभव का सूचक कहा गया है। अनुभव के विस्तार से भाषा का विस्तार संबंध है। इस विषय में नामवर सिंह का कथन है- "...परिवेश का बोध भाषा की क्षमता पर निर्भर है। किसी की भाषा शक्ति उसकी बोध शक्ति का प्रमाण है। व्यक्ति का अपना भाषा संसार ही अनुभव का संसार है; इसलिए अनुभव संसार के विस्तार के लिए भाषा संसार का प्रसार अनिवार्य शर्त है।"[1] हालांकि यह काव्य भाषा के संदर्भ में कहा गया है लेकिन यहां दो बातें उभरकर आती है, एक भाषा से व्यक्ति के बोध का ज्ञान होना, दूसरी अनुभव के विस्तार के लिए भाषा के प्रसार की अनिवार्यता। पहली बात अनुभूति से संबंध है दूसरी अभिव्यक्ति से। समाज भाषा विज्ञान यह स्पष्ट कर चूका है कि भाषा व्यक्ति और समाज से निरपेक्ष नहीं हो सकती और व्यक्ति और समाज में स्तर भेद है तो क्या उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में अंतर नहीं होगा? भाषा और समाज की भूमिका में रामविलास शर्मा लिखते हैं- "यदि भाषा का संबध समाज से है उसका विकास सामाजिक संपर्क के एक साधन रूप में होता है तो यह स्पष्ट है कि समाज का अध्ययन किए बिना सामाजिक संपर्क स्थापित करने के साधन का अध्ययन भी नहीं हो सकता। समाज एक गतिशील प्रक्रिया है। उसमें वर्ग है, वर्ग संघर्ष है, व्यक्तिगत

[1] कविता के नए प्रतिमान - नामवर सिंह - पृ.सं. 111

संपत्ति है, शोषण है और शोषण के विरुद्ध जनता का संघर्ष है"।[1] जब कि भाषा का संबंध समाज से है समाज एक गतिशील प्रक्रिया है, तब उसकी भाषा भी गतिशीलता को व्यक्त करेगी। समाज में वर्ग और वर्ग संघर्ष है तो भाषा उस से कैसे अछूती रह सकती है? भाषा में वह स्तर भेद नजर आना चाहिए जो समाज में है।

भाषा सामाजिक परिवर्तन को उसकी ऐतिहासिकता में व्यक्त करती है। किसी भी वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषा उसके वर्ग, भौगोलिक क्षेत्र, व्यवसाय, जातीयता और लिंग इत्यादि से प्रभावित होकर विशिष्ट रूप धारण कर ही लेती है। मनुष्य अपने आस-पास के परिवेश और समाज से, वातावरण से भाषा सीखता है, इसलिए उसकी भाषा में उसका समाज प्रतिबिम्बित होता ही है। लोगों के भाषा व्यवहार में जितने भेद दिखाई देते हैं वे वास्तव में समाज में व्याप्त भेद और विविधताएँ होती है जिन्हें भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति भी मिलती है। इस सन्दर्भ में उपन्यासकार अरुण साधू अपने उपन्यास 'झिपय्या' की भाषा का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि- "पचासों स्थानों से आए भिन्न-भिन्न धर्मों के लोग एक साथ रहकर जब एक दूसरे से मेंल जोड़ बढाने की कोशिश करते हैं तब भाषा का एक विचित्र रसायन बन जाता है जो सिर्फ मुंबई में सुनने को मिलता है। ऐसे माहौल में पले-बढे, शिक्षा के अनुशासन से अस्पर्श दस-बारह साल के ये बच्चे जिन्हें इतनी छोटी-सी उम्र में परिस्थिति की माँग के कारण काम करना पड़ता है- आपस में किस प्रकार बातचीत करते होंगे? इनकी कोई भी निश्चित भाषा नहीं है। जिन शब्दों के माध्यम से अपनी भावनाओं को ठीक से अभिव्यक्त कर सकते हैं, उन्हीं शब्दों का प्रयोग बिना किसी हिचकिचाहट के साथ कर देते हैं। उनकी बातचीत किसी एक भाषा के व्याकरण के नियमों पर आधारित नहीं होती।"[2] इसलिए समाज भाषा वैज्ञानिक विषमरूपी भाषा व्यवहार को भाषा का विस्तार रूप मानकर उसके अध्ययन पर बल देते हैं। जब हम भारतीय भाषा को

---

[1] भाष और समाज - रामविलास शर्मा - पृ.सं. 16
[2] झिपय्या - अरुण साधू - भूमिका

नजदीक से देखते हैं तो समाज में व्याप्त विषमता तथा स्तर भेद भाषा में दिखाई पड़ जाता है। इस दृष्टि से दलित साहित्य का अध्ययन उपयोगी होगा।

5.3 दलित साहित्य की भाषिक सैद्धान्तिकी

दलित साहित्य की जब भी चर्चा होती है उसे हिंदी साहित्य से काटकर देखने की मांग होती है। खासकर अनेक दलित साहित्यकार मानते हैं कि हिंदी में लिखित दलित साहित्य एक स्वतंत्र साहित्य है। यह हिंदी से अलग किया जाना चाहिए। अगर हम ऐसा करते हैं तो यहाँ दूसरी दिक्कत खड़ी होगी कि साहित्य भाषा का होता है अथवा जातियों का? अगर 'साहित्य' जातियों का होता है तो जरूर दलित साहित्य की चर्चा अलग सी होनी चाहिए। परन्तु साहित्य का यदि पहला संबंध किसी भी रूप से भाषा से होता है तो वह भाषा का साहित्य अथवा जिस भाषा में रचा जाएगा उसे उस भाषा का साहित्य माना जाएगा। चाहे वह हिंदी हो या उर्दू तमिल हो या तेलुगू। फिर बाद में प्रवृत्ति के अनुसार विशेषताओं को देखते हुए उसका नामकरण किया जाएगा। क्योंकि हर भाषा का अपना एक ख़ास समाज होता है और उसी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, भौगोलिक परिस्थितियों में उस भाषा की निर्मिती होती है। दूसरे शब्दों में कहे तो भाषा कोई स्वतंत्र अवधारणा नहीं है, बल्कि प्रत्येक भाषा की एक सामाजिक अस्मिता होती है और उस सामाजिक अस्मिता से ही भाषा की अस्मिता भी तय होती है। इन समाजों की अस्मिताओं की निर्मिति उनकी भाषा से अलग करके देखी नहीं जा सकती।

हिंदी में रामविलास शर्मा जिस 'हिंदी जाति' की बात करते हैं, उसकी सामाजिक अस्मिता इसी 'जातीय भाषा' से निर्मित होती है। उनकी दृष्टि में भाषा का यह जातीय स्वरूप ही 'हिंदी समाज' की निर्मिति करता है। इस हालत में हम 'दलित साहित्य पर बात करते हैं और इस प्रसंग में भाषा और समाज की अलग-अलग अस्मिता तय करते हैं तो सबसे बड़ी दिक्कत दलित समाज की अलग-अलग अस्मिता की निर्मिती में ही होगी। दलित समाज इसी भारतीय (हिन्दू) समाज का एक हिस्सा

है अथवा यों कहे कि भारतीय वर्ण व्यवस्था या जाति व्यवस्था में इस समाज का अस्तित्व हिन्दू धर्म की धार्मिक और नैतिक मान्यताओं से निर्धारित होता रहा है और इसी समाज में सवर्ण हिन्दुओं द्वारा 'अस्पृश्य' समझा जाने के कारण दलित समाज उसका (ब्राह्मणवाद) का विरोध करता है। इसलिए सवर्ण समाज में तमाम भिन्नताओं के बावजूद यदि दलित समाज का रचनात्मक लेखन हिंदी भाषा में आता है तो जाहिर है उसे हिंदी साहित्य की मुख्यधारा के समानांतर हिंदी में लिखित हिंदी का नया साहित्य माना जाना चाहिए। इसलिए जरूरी है अनुभव के स्तर पर इस साहित्य के मूल्यांकन की पद्धति भी कुछ अलग सी विकसित की जानी चाहिए। कारण अब तक की रचना के मूल्यांकन का इतिहास मुख्यधारा के समाज द्वारा निर्मित साहित्य के आकलन की प्रक्रिया में ही विकसित होता रहा। इसलिए मूल्यांकन के प्रतिमान भिन्न है। परन्तु जिसे हम दलित साहित्य मानकर चल रहे हैं, वह रचना के कलात्मक रूप की तुलना में उसमें अभिव्यक्त समाज को महत्त्वपूर्ण मानकर चलता है। इसलिए दलित साहित्य में अभिव्यक्त समाज ही भिन्न नहीं हैं। बल्कि उसकी संस्कृति (क्रियाशीलता) भी भिन्न है। अभिव्यक्ति की भाषा का रूप भी भिन्न है। उसकी संरचना भिन्न है और साथ ही दूसरे समाज (सवर्ण) के साथ उसके रिश्ते भी भिन्न है।

यहां उदाहरण स्वरूप कुछ हिंदी और मराठी के दलित उपन्यासों को लिया जा सकता हैं। प्रथमतः जय प्रकाश कर्दम के छप्पर उपन्यास की हम चर्चा करेंगे। इस उपन्यास की औपन्यासिक संरचना भी आत्मकथात्मक ही है। यद्यपि कथाकार ने संरचना के स्तर पर एक हद तक छप्पर में गाँव और शहर की कथा उठाते हुए दलित समाज की भूख जैसी वास्तविक समस्या और उससे मुक्ति के लिए किए जा रहे प्रयासों का मार्मिक चित्रण है, इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है दलित समाज की वास्तविक समस्याओं की पहचान और उनके समाधान के लिए किए जा रहे सही प्रयास। जाहिर है भारतीय समाज में दलितों की वास्तविक समस्या है जमीन का न

होना, इस जमीन के अभाव में ही वे दूसरों (सवर्णों सामंतों) के यहाँ काम करने को विवश होते हैं। वे जमीन के अभाव में ही वे स्वयं अन्न जल और आवास की कृमशः उपज निर्माण नहीं कर पाते हैं। परिणामतः इनकी प्राप्ति के लिए उन्हें जिंदगी भर भटकते रहना पड़ता है। यह जमीन ही है जो उन्हें खाने के लिए अन्न दे सकती है, पिने के लिए पानी का स्रोत मुहैया करा सकती है, रहने के लिए घर दे सकती है और उस 'स्वाधीनता का बोध' जिसका सर्वाधिक अनुभव उन्मुक्त गगन में उड़ते पक्षियों को होता है। बहती हुई नदी की धारा को होता है, खेतों में लहलहाते फसलों को होता और होता है जंगलों में रहनेवाले उन मूल प्रजातियों को। इस जमीन के आभाव में मुख्यधारा के लोग भी असहाय महसूस करते हैं, हाशिए के लोगों की तो बात ही और है। मातापुर गाँव से निकाले जाने के बाद कथा नायक चंदर के बूढ़े माता-पिता रमिया और सुक्खा जिस अभाव और उत्पीड़न के दौर से गुजरते हैं, वह इस बात का प्रमाण है कि अपनी पारम्पारिक अस्मिता खोने के बाद दलित समाज किस प्रकार की मानसिक और शारीरिक पीड़ा के बोध से गुजरता है उदाहरण के लिए छप्पर की निम्नलिखित पंक्ति में दलित समाज की पीड़ा को देखा जा सकता हैं-

"यहाँ आकर कितने अलग-थलग से पड़ गए हैं हमें न किसी से ख़ास मेंल-जोल है न बातचीत, मदत मांगे भी तो किस से मांगे?...गाँव में होते तो दो चार टैम का पास पडौस से मांग लेते लेकिन यहाँ कौन देगा"।

'तु ठीक कहती है रमिया! हम बिल्कुल अकेले हैं यहाँ और यही हमारी सबसे बड़ी समस्या है। गाँव में पूरी बिरादरी में चाहे कोई कितना भी मजबूर और परेशान रहा हो, लेकिन भूख से मरते नहीं देखा कभी किसी को। गाँव में तो बिना मांगे ही मदत करते हैं लोग एक दूसरे की। हम भी गाँव में होते यदि तो और चाहे जो होता हमारा लेकिन कम से कम भूखे तो नहीं मरते हम।"[1] स्पष्टतः रमिया और सुक्खा जिस ग्रामीण संस्कृति और सामाजिकता की बात कर रहे हैं, यह वही अस्मिता है जो

[1] छप्पर - जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं. 89.90

दलित समाज के अन्दर भी एक ख़ास प्रकार की 'जातीय अस्मिता' का बोध कराती है। कहना न होगा कि उनकी यह जातीय अस्मिता पारम्पारिक ग्रामीण समाज में सामाजिक परिवर्तन और विकास के तहत सामाजिक अस्मिता का रूप अख्तियार कर लेती है। यद्यपि दलित आन्दोलन के प्रसंग में यह सामाजिक अस्मिता एक खास प्रकार की राजनीतिक प्रक्रिया के तहत निर्मित हो रही है, पर सच यह भी हैं कि इस निर्मिति में राजनीति से अधिक भारत की जाति-व्यवस्था और उस व्यवस्था में दलितों की बदतर सामाजिक स्थिति की सर्वाधिक भूमिका रही है।

जी. डब्लू. ब्रिग्गस ने वाडेन पावेल कृत 'दि ओरिजनल एंड ग्रोथ आफ विलेज कम्युनिटीज इन इण्डिया' का सन्दर्भ देते हुए 'दी चमार्स' (1920) में लिखा है कि- "संभवता आर्यों के आगमन के समय से ही भारत में आज की तरह ही, लोग गाँवों में रहते थे जिनमें खेती करनेवाले लोग गाँव के अन्दर तथा निम्न श्रेणी के लोग गाँव के बाहर रहते थे। इन लोगों में श्रमिक तथा वे लोग थे जो अपने घृणित पेशों के कार्य एवं जीवन के कारण अस्वच्छ एवं अस्पृश्य माने जाते थे। आर्य लोग विजेता के रूप में आए थे और उन्होंने आराम परस्त वर्ग के विशेष अधिकारों के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था के धार्मिक तथा नैतिक कार्यों के अधिकार अपने पास रखे। अतः जैसे-जैसे समय गुजरता गया पुरोहित (पुजारी) वर्ग के लोग अभिजात (महान कुलीन), बड़े भू-स्वामी (जमींदार) तथा पशुपालक बनते गए। इन विजेता लोगों के जीवन के सर्वाधिक सरल अथवा हल्के-फुल्के कार्यों पर अपना अधिकार रखा तथा वे ही कार्य उन्होंने किए।"[1] बिग्गस अंतिम पक्तियों में जिन बातों की ओर संकेत करते हैं, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय सामाजिक परम्परा और व्यवस्था में दो ऐसे कार्य रहे हैं जिनसे दलितों को अलग रखा गया- धार्मिक और नैतिक कार्य। ज्ञान का संबंध भी प्राचीन समाज में धर्म और नैतिकता से ही रहा है। उनसे वंचित कर ही भारतीय समाज में दलित समाज को श्रमिक बनाए रखने की साजिशें होती रही हैं। यदि छप्पर

[1] दी चमार्स - जी.डब्ल्यू. बिग्गसं - अनुवाद - जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं. 10

का नायक दलितों में ज्ञान की परम्परा का विकास करना चाहता है तो उसका सबसे बड़ा कारण यही हैं कि पढ़-लिखकर दलित समाज अपनी वास्तविक स्थिति के साथ ही सवर्ण समाज की सजिशों को भी समझे और अपने समाज के उत्थान के लिए कार्य करे। 'जस तस भय सवेर' उपन्यास की भूमिका में कुसुम वियोगी लिखते हैं- "यह देश अशिक्षा के कारण मिथ्या आडंबरों में फसा हुआ हैं, जिसके कारण आए दिन नर बलि, पशु बलि, पुजारी या तांत्रिक ओझाओं द्वारा उत्पीड़न नर-नारी आए दिन आत्महत्या कर लेते हैं।"[1] जाहिर है सत्य प्रकाश का उपन्यास 'जस तस भय सवेर' की चर्चा करते हुए डॉ. कुसुम वियोगी भी मानती है कि अशिक्षा अर्थात् ज्ञान की परम्परा से वंचित होने के कारण ही दलित समाज उपेक्षा, शोषण और दमन का शिकार होता रहा है। उपन्यास में आया रूपलाल जैसा पात्र भी मंगल पहलवान के साथ बातचीत की प्रक्रिया में इस सत्य का उद्घाटन करता है कि व्यवस्था के दोष, खासकर अज्ञानता के कारण दलित श्रमिक (वर्ग) चौधरी जैसे सामन्त और भगत जैसे पुरोहित के जाल में फंसता है और जिंदगी भर उनकी गुलामी सहने को विवश होता है। वास्तव में औपनिवेशिक भारत और उससे मुक्ति आन्दोलन के दौरान डॉ. अम्बेडकर के जीवन दर्शन और विचारधारा ने जिस अज्ञानता, अशिक्षा को दलित समाज के शोषण, दमन और उपेक्षा का वास्तविक कारण घोषित किया था, उसे हिंदी और मराठी में प्रकाशित दलित उपन्यासों ने कथा का मुख्य आधार बनाया। उनका मानना है कि ज्ञान की परम्परा से वंचित रहने के कारण ही दलित समाज भारतीय सामाजिक व्यवस्था में निम्नतर जिन्दगी व्यथित करने को विवश रहा है। यह अशिक्षा ही है जो उन्हें गुलामी की यातना भोगने को विवश कराती है। जयप्रकाश कर्दम इसी अज्ञानता को दलित समाज के पिछड़ेपन का कारण मानते हैं। इसलिए नायक चंदन अपने परिवार और समाज की आकांक्षा और यथार्थ से टकराते हुए दलितों के बीच 'ज्ञान-विज्ञान' के प्रसार-प्रचार को अपनी जिंदगी का सबसे बड़ा और पहला लक्ष घोषित करता है।

[1] जस तस भय सवेर - सत्यप्रकाश - पृ.सं. 07

हिंदी में प्रकाशित दलित उपन्यास दलित समाज के यथार्थ की इस भूमि से टकराने की कोशिश करते हैं और महाभारत के एकलव्य जैसे पात्रों की परम्परा, प्रतिबद्धता और संघर्ष को कथा का मुख्य लक्ष घोषित करते हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि एकलव्य की तरह दलित आन्दोलन से उभरे ये कथा पात्र अपनी 'उंगली' नहीं गवाते, बल्कि परम्परा और आधुनिकता से टकराते हैं, संवाद करते हैं तथा संघर्ष करते हुए आगे बढना चाहते हैं। इतना ही नहीं वे अपनी तथा समाज की जिंदगी को नए सिरे से संयोजित करते हुए भारतीय समाज में एक मुक्कमल जगह चाहते हैं जिससे की उनकी एक सामाजिक अस्मिता बन सके। इसलिए यहाँ आदर्शवाद नहीं बल्कि यथार्थवाद उनके विचारों को मजबूती प्रदान करता है और उस यथार्थवाद से निकला सत्य पारम्पारिक समाज की धार्मिक और नैतिक मान्यताओं को जड़ से ख़त्म करना चाहता है। जाहिर है यह 'यथार्थ' वह प्रचलित यथार्थ नहीं है जो प्रेमचंद के 'गोदान' अथवा फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' में समाजवादी यथार्थ से प्रभावित दिखलाई पड़ता है। बल्कि अब तक के दलित उपन्यासों में वर्णित यथार्थ में उस नई परम्परा और इतिहास की सृष्टि दिखलाई पड़ती है जहाँ जिंदगी के वास्तविक सच्चाई का बयान ही 'यथार्थ' हैं, न कम न अधिक; और यह सत्य है कि 'कोरा यथार्थ' का मूल्यांकन प्रचलित साहित्यिक मूल्यों के आधार पर संभव नहीं हैं। उसके लिए उस पाठ के सही अर्थ की खोज के लिए, उस धार्मिक और नैतिक मान्यताओं से मुक्त मानदंड की खोज आवश्यक है। जिसके आधार पर अब तक साहित्य के मूल्यांकन के प्रतिमान विकसित होते रहे हैं।

दलित उपन्यास आलोचना के सामने एक बड़ी चुनौती है। यदि यह उपन्यास अपने को हिंदी उपन्यास की परम्परा से नहीं जुड़ते है तो यह और भी बड़ी चुनौती है, इसके अर्थ की खोज आप किस प्रकार करेंगे? भाषा एक आम सवाल है। प्रसिद्ध इतालवी विचारक अंतोनियो ग्राम्शी का सन्दर्भ देते हुए मैनेजर पाण्डेय भाषा को जब एक ही साथ एक जीवित वस्तु और जीवन तथा सभ्यता का अजायबघर मानते

हैं तो कुछ गलत नहीं करते। इतना ही नहीं वे तो लेखक के सामने इस चुनौती को भी प्रकट करते हैं- यथार्थवादी लेखक के सामने भाषा के इन दोनों रूपों में से एक के चुनाव की समस्या होती है तथा इसी चुनाव पर यथार्थवाद की सफलता निर्भर होती है।"[1]

ग्राम्शी का सन्दर्भ और मैनेजर पाण्डेय के उपर्युक्त कथन के अभिप्राय पर ध्यान देते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रचना अथवा किसी कथा कृति की भाषा केवल भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का साधन ही नहीं है बल्कि भावों और बोध के विचारों का माध्यम भी है। सुधीश पचौरी का भी मानना है कि- "क्योंकि हमारे जीवन का जो यथार्थ है, वह अनेक भाषाओं के द्वारा पैदा किए गए अपने भीतर के साम्य और वैषम्य से बनता है।"[2] जाहिर है किसी भी रचना में भाषा का यह रूप इस बात की ओर संकेत करता है कि भाषा एक सक्रीय, गतिशील और जिवंत रूप होती है जो किसी भी मनुष्य अथवा समाज के अन्तः और बाह्य संरचना को हमारे सामने लाकर उपस्थित कर देती है। तथा वह संरचना एक ओर जहाँ उस व्यक्ति और समाज के जीवन की वास्तविकता से हमारा परिचय कराती है। वही दूसरी ओर उसकी सोच और उस में आ रहे परिवर्तन की ओर भी संकेत करती है। इसलिए भाषा का सवाल सिर्फ दलित उपन्यासों के साथ ही नहीं, बल्कि यह सभी दलित विधाओं के लिए भी अहम् सवाल है। पर इतना तय है कि अब तक का दलित लेखन चाहे वह उपन्यास हो या अन्य विधात्मक लेखन उसकी अंतरिक और बाह्य संरचना स्पष्ट कर देती है कि संरचना के स्तर पर ये हिंदी साहित्य के ही नए रूप हैं। इसलिए उनके मूल्यांकन के प्रतिमान प्रचलित प्रतिमानों के सहारे ही विकसित होंगे। परन्तु इतना जरूरी है उनमें धार्मिक और नैतिक मान्यताओं की भूमिका नकारात्मक होगी। उनका विकास जरूर भारतीय सामाजिक व्यवस्था और मिथकीय इतिहास के साथ होगा परन्तु मूल्यांकन के मानदंड पाठ की आन्तरिक संरचना में ही निकलेंगे। हो सकता है, उसमें उत्तर

---

[1] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - मैनेजर पाण्डेय - पृ.सं. 244
[2] संरचना और उत्तर संरचनावाद - सुधीश पचौरी - पृ.सं. 113

आधुनिकता, खासकर जाँक देरिदा के विखंडन जैसे सिद्धांत की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो और मुख्यधारा एवं हाशिए का संघर्ष रचना के मूल्यांकन के वास्तविक प्रतिमानों को तय करे अथवा ज्ञान और सत्ता का आपसी संबंध समाज की मुख्यधारा को प्रभावित करे, जैसा कि 'छप्पर' में तथा अन्य दलित उपन्यासों में होता है। पर यह सब तभी संभव है जब दलित उपन्यास दलित समाज की वास्तविक समस्याओं की खोज और उसकी पहचान करें तथा फिर उन्हें सामाजिक परिवर्तन एवं विकास के साथ जोडकर उन्हें मुख्यधारा में लाने की कोशिश करें।

जिस दलित साहित्य की भाषिक सैद्धान्तिकी की बात हम कर रहे हैं उसकी जड़ें हमें इतिहास में भी खोजनी होगी क्योंकि शब्दों का प्रकार्य मात्र अभिव्यक्ति न होकर एक भाव संसार का निर्माण है। यह भाव संसार आज रचा जा रहा है लेकिन इसकी जड़े अतीत में है। एक ऐसा अतीत जो दुःख तकलीफों एवं यातणाओं से भरा है। ऐसे में दलित रचनाकारों द्वारा प्रयुक्त शब्द महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। एक-एक शब्द, एक-एक स्थिति अवधारणा तक जाना होगा। शब्दों के इतिहास के लिए शब्दकोश तक न जाकर उनके इतिहास तक जाना होगा। शब्दों के इतिहास, शब्दों से अभिव्यक्त होनेवाले समाजशास्त्र, उनकी राजनैतिक भूमिका को देखना होगा। रमणिका गुप्ता लिखती हैं- "दलित साहित्य ने नए बिम्ब गढ़े पौराणिक मिथकों की परिभाषा बदल डाली। नए मिथक बनाए, गौरान्वित झूठ और आस्था पर चोट की और चमत्कार को तोड़ा। अनुभव की प्रमाणिकता से दलित साहित्य में नया तेवर उभरा जो मन को छूता हैं। विश्वसनीय है। यह वर्तमान साहित्य के लिजलिजेपन और बासीपन तथा एक रूपी, रसवादी प्रणाली से भिन्न है और चमत्कारी कल्पनाओं से बिलकुल अलग होता है। इसके दायरे में अंधविश्वास, भाग्य, पूर्वजन्म के कर्म, धर्म या भगवान नहीं आते। यह प्रत्यक्ष यथार्थ से मुक्त है, जीवंत है। जुल्मों से जुझते हुए, मरते हुए और जीते हुए के बीच के, इर्द-गिर्द के स्त्री-पुरुषों को सामने लाता है।"[1]

[1] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - ओम प्रकाश वाल्मीकि - पृ.सं. 90

इसी प्रकार दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की व्याख्या करते हुए शरणकुमार लिम्बाले मुख्यधारा की 'आनंदवादी' अवधारणा को नकार देते हैं- "मराठी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र आनंद पर आधारित है तो दलित साहित्य का 'व्यथा या वेदना' पर दलित साहित्य में व्यक्त हुई वेदना और विद्रोह पढ़कर पाठक बेचैन होगा या आनंदित? दलित साहित्य पाठक को बेचैन करनेवाला साहित्य है। ...दलित चेतना क्रांतिकारी मानसिकता है। यह चेतना आनंद पर निर्भर न होकर समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुभाव पर आधारित है। इसलिए दलित समीक्षकों को सौन्दर्य की कल्पना बदलना महत्त्वपूर्ण लगता है। सौन्दर्य की कल्पना हर युग में होनेवाले विचारों से संबंधित होती है। एक समय में राजा-महाराजा साहित्य के विषय रहते थे। पर आज गाँव के बाहर जुग्गी झोपड़ी में जिया जानेवाला जीवन साहित्य का विषय बन गया है। सौन्दर्य की कल्पना बदलना इसलिए भी जरूरी हो गया है चूँकि पारम्पारिक सौन्दर्यशास्त्रीय कल्पना स्वीकार करके दलित साहित्य का सृजन एवं दलित साहित्य में विद्रोह और नकार का अन्वेषण करना संभव नहीं हैं।"[1] स्पष्ट है कि जब दलित साहित्य ही पारम्पारिक साहित्य से अलग है, तब उसके सौन्दर्य मूलक मापदंड इस पर कैसे खरे उतरेंगे? वैसे भी हिंदी साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्र की व्याख्याओं से लिया गया है। ऊपर से तब और आज की परिस्थितियों में भी शताब्दियों का अंतर आ चूका है; जब जीवन मूल्य दिन-प्रतिदिन बदल रहे हैं तब क्या सौन्दर्यमूल्य नहीं बदलेंगे। अपेक्षा पत्रिका के संपादकीय में डॉ. तेज सिंह ने विस्तार से लिखा है और इसे 'शब्द और अर्थ' का 'व्याख्याशास्त्र' करार दिया है। उन्होंने लिखा है कि- "संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य आदि सिद्धांतो के आधार पर काव्य लक्षण (स्वरूप), काव्य की आत्मा, काव्य-हेतु (प्रेरणा) काव्य प्रयोजन काव्य के अधिकार और काव्य भेद आदि पर विचार करते हुए रचना के शब्द अर्थ की व्याख्या पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है। काव्य रचना को सामाजिक संदर्भों से पूरी तरह काटकर शब्द अर्थ

[1] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - शरणकुमार लिम्बाले - पृ.सं. 115,116

तक ही सीमित कर दिया है और इस तरह काव्य रचना का सारा सौन्दर्य शब्द अर्थ की व्याख्या में सिमटकर रह गया हैं।"[1] अपने अध्ययन में तेज सिंह काव्यशास्त्रीय ग्रथों में बताए गए काव्य हेतु- प्रतिभा, उत्त्पति और अभ्यास पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। क्योंकि प्रतिभा हाशिये के समाज में मानी ही नहीं गई है। यदि कोई प्रतिभाशाली हो भी गया तो उसे ब्राह्मण सिद्ध करने का प्रयास किया गया, जैसे कबीर। प्रतिभा को ब्राह्मणों की बपौती मान लिया गया। प्रतिभा के अभाव में उत्त्पति यानि निपुणता कहाँ से आएगी? और अभ्यास कोई कैसे कर लेगा? यदि वह ब्राह्मणवादी समाज में ऐसा कर लेता है तो उसका हश्र शम्बूक और एकलव्य जैसा कर दिया जाएगा।

उपर्युक्त विचारों के केंद्र में एक प्रतिरोध का स्वर मुखर है शरणकुमार लिम्बाले आनंद को खारिज कर रहे हैं तो ओम प्रकाश वाल्मीकि शब्दों, प्रतीकों, बिम्बों को और तेज सिंह काव्यशास्त्र को? स्पष्ट है कि दलित वैचारिकी एक ऐसे सौन्दर्यशास्त्र की मांग करती है, जिसका आधार जन साधारण हो, जिसमें हाशिए पर का सारा समाज समा सके। अगर ऐसा नहीं होगा तो दलित वर्ग मुख्यधारा के मानदंडों में उलझ कर रह जाएगा। इसके उदाहरण स्वरूप अपेक्षा पत्रिका के जनवरी-मार्च 2013 के अंक में कृष्णदत्त पालीवाल का लेख लिया जा सकता है। प्रस्तुत लेख में पालीवालजी ने बात तो दलित विचारधारा की कही है लेकिन उनकी भाषा एकदम हिन्दुत्ववादी शब्दों, प्रतीकों, से भरी हुई है। उदहारण स्वरूप कुछ शब्दों का उल्लेख किया जा सकता है। जैसे पृ.सं. 54 पर 'अखंड अंगद शक्ति' पृ.सं. 55 पर प्रभु वर्ग, छल प्रपंची, अभागा, अज्ञान, तांत्रिक, साधना, भूमि, मणि मन्त्र, महामंत्र, निष्ठा, वृजांग शक्ति, मठ ध्वंस इत्यादि।"[2] इनमें के अधिकांस शब्द ब्राह्मणवादी वैचारिकी से लिए गए हैं। ऐसे में विमर्श तो पीछे छूट जाएगा और पाठक शब्दों के माध्यम से आयी ब्राह्मणवादी वैचारिकी से चिपक जाएगा, जब कि दलितों की बात इस भाषा में कही जा रही हैं। ऐसे में सावधानी से अपनी भाषा का चुनाव

---

[1] अपेक्षा - 30,31 - जनवरी-जून - 2010

[2] अपेक्षा - सं.तेज सिंह - जनवरी-मार्च 2013, पृ.सं. 54,55

करना चाहिए। चूँकि आज भी जन साधारण में ब्राह्मणवादी वैचारिकी के शब्द व्याप्त है; लोग शब्दों के द्वारा लक्षित अर्थ तक पहुँचते हैं, और जब उन्हें शब्द ही अपने लक्ष से भटका दे तो? हम जानते हैं कि एक प्रबुद्ध भाषा और शब्दों का प्रयोग अनायास नहीं करता, भाषा समाज के सभी वर्गों के प्रति तटस्थ होती है। लेकिन विभिन्न सामाजिक वर्ग भाषा के प्रति तटस्था का रुख नहीं अपनाते। वे भाषा का अपने हक्क में इस्तेमाल करने के उद्देश्य से उस पर अपनी विशेष शब्दावली और अभिव्यक्तियाँ आरोपित करते हैं।

स्त्री व दलित से इतर वर्ग जब उनकी बात करता है तो वह 'सहानुभूति' की श्रेणी में आ ही जाती है। 'स्वानुभूति' इसी कारण जरूरी हो जाती है क्योंकि अपने मूल चरित्र में शब्द संबंध परम्परा का निर्वाह करते हैं। शाब्दिक संबंध एक अवस्थिति के साथ, अपने ठोस संयोजन में अपने साथ हमेंशा ही एक गैर शाब्दिक चरित्र की सामाजिक कार्यवाहियाँ जैसे श्रम का संपादन, कोई धार्मिक अनुष्ठान, समारोह आदि। 'सहानुभूति', स्वानुभूति के साथ 'शाब्दिक' संप्रेषण की यह बात 'दलित व गैर दलित' साहित्य दोनों पर लागू होती है।

शाब्दिक संप्रेषण का उदाहरण देने के लिए मोहनदास नैमिशराय का उपन्यास 'मुक्तिपर्व' के नायक वाले प्रसंग को लिया जा सकता है। बंसी के पुत्र जन्म पर जब पुरोहित आता है तो लोग उसे खाली हाथ लौटा देते हैं। 'कालू', 'चेतु', 'बुद्धू', 'रगडू' आदि नाम देकर दक्षिणा वसूल करनेवाले पंडित पर लोग व्यंग कर लौटा देते हैं और बच्चे का नाम स्वयं रखते हैं 'सुमित'। यह न केवल 'पौरोहित्य' के खिलाफ विद्रोह है बल्कि थोपी जानेवाली भाषा के खिलाफ भी विद्रोह है और शब्दों पर सवार होकर आती हीनता बोध वाली विचारधारा के खिलाफ भी विद्रोह है। दलित साहित्य मुख्यधारा के साहित्य का पुनर्लेखन है। दलित साहित्य मुख्यधारा के सौन्दर्य बोध से अलग सौन्दर्य बोध का निर्माण करता है। यहाँ आनंद के बजाय यथार्थ पर जोर दिया जाता है। दलित साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन या आनंद का नहीं है, बल्कि बहूजन

समाज के दुःख-दर्द, पीड़ा, अन्याय व शोषण को जों का त्यों पाठक वर्ग तक पहुँचा देना है। दलित साहित्य की भाषा सीधी, सपाट, मारक अभिव्यक्ति से बनी है। चूँकि दलित साहित्य के अनुभव उबड-खाबड़, अंतस की छिल-छाल करनेवाले, अन्याय और शोषण से भरे हैं, अतः उनकी भाषा में किसी तरह का लालित्य, सौन्दर्य, लक्षणा खोजना ठीक नहीं होगा। दलित साहित्य के शब्द अवधारणात्मक है। दलित साहित्य की भाषा श्रम संपादन तथा उत्पादन प्रक्रिया से उपजी है। अतः उसके शब्द श्रमशील, संघर्षशील चेतना को सामने लाते हैं। दलित साहित्य हिंदूवादी, ब्राह्मणवादी वैचारिकी, मिथकों, प्रतीकों का विरोध करता है, अतः उनके शब्द, प्रतीक व मुहावरे प्रतिरोधक तेवर लिए होते हैं। दलित साहित्यकार भाषिक रूप से सजग व सचेत है। वह जानता है कि विचार भाषा और शब्दों पर सवार होकर आते हैं। इसलिए दलित साहित्य की भाषिक सैद्धान्तिकी परम्परागत भाषिक अनुशासन के प्रतिरोध की सैद्धान्तिकी है।

5.4 शिल्पगत प्रयोग

5.4.1 आत्मकथात्मक शैली

जब कोई कथा सृजन 'मैं' को केंद्र में रखकर होता है, जब उसकी शैली को आत्मकथात्मक शैली का नाम दिया जाता है। इस शैली का प्रयोग करते समय कथाकार समाज सापेक्ष समस्याओं को 'आत्म' स्वयं से जोड़कर देखता है। वह स्वयं को कथा के केंद्र में रखता है। कभी नायक और कभी सहनायक अथवा दोनों रूपों में घटनाकृम प्रस्तुत करता है। इस शैली में लिखे दलित उपन्यासों का अध्ययन करते हुए संस्मरण तथा आत्मकथांशो का भी आभास होता है। पाठकों के मानस पटल पर लेखक के साथ घटित घटनाओं के सजीव स्वभाविक तथा वास्तविक चित्र उभरने लगते हैं वास्तव में यही दलित रचनाओं की सफलता और विशेषता होती है। हिंदी के दलित कथाकारों ने आत्मकथात्मक शैली में दो प्रयोग किए हैं एक में स्वयं कथाकार

नायक की भूमिका में रहता है, तो दूसरे में अन्य की कथा या कहानी कहता है। उदाहरण के लिए पहले में- 'छप्पर', 'मुक्तिपर्व', 'मिस रमिया', 'सुबह के लिए', 'उधर के लोग', को लिया जा सकता है दूसरे में 'करुणा', मराठी उपन्यास 'झिपय्या', 'नर वानर', 'हिन्दू', 'दुभंग' आदि।

5.4.2 वर्णनात्मक शैली

उपन्यास में पात्रों के चरित्र-चित्रण, रुचियाँ, अरुचियाँ, संस्कार अथवा घटनाओं के वर्णन पर कथा का पूरा प्रभाव टिका होता है। स्पष्टता, सहजता, स्वाभिविकता के साथ-साथ यथार्थ वर्णन से उपन्यास में सजीवता उत्त्पन्न होती है। रचना पाठक पर उतना ही अधिक प्रभाव छोड़ती है, जितनी उसमें वर्णनात्मकता, मार्मिकता, स्पष्टता और सहजता होती है। अधिसंख्य दलित उपन्यासों का वर्णन अधिक हो रहा है। उपन्यासों में जय प्रकाश कर्दम का 'छप्पर', प्रेम कपाडिया का 'मिटटी की सौगंध' तथा मराठी के कुछ उपन्यासों में वर्णनात्मक शैली देखी जा सकती है, जैसे नामदेव ढसाल का 'हाडकी हाडवला', केशव मेंश्राम का 'हकीकत और जटायु' में देखी जा सकती है। कर्दम जी के छप्पर उपन्यास के घटनाक्रम से पात्रों के विकास की गति के वर्णन में तिव्रता आयी। लेकिन पात्र चित्रण वातावरण परिस्थितियों के वर्णन में सहजता और स्वाभाविकता है।

'मिटठी की सौगंध' के पात्र विजेंद्र के चरित्र को अपवाद स्वरूप मानकर पूरे उपन्यास में देशकाल, विषय वस्तु, घटना, परिवेश का सामान्य वर्णन हुआ है। कुछ उपन्यासों के उदाहरण देखे जा सकते हैं। जैसे छप्पर में देखिए- "जो लोग दरिद्र है उनके पास रहने-सहने तथा एखाद पशु जो वह पालते हैं। उन सबके लिए कुल जमा मिट्ठी की दीवारों पर घांस-फूंस के छप्पर या झोपड़ियाँ हैं। इकछत्ती, दूछत्ती अधिक हुआ तो किसी के कच्चे कोठे पर बांस की खपच्ची या खपरैल की छत होती है या पशुओं के लिए छान झोपड़ी अलग। यही तक सीमित है। इसकी साधन संपन्नता। घर के नाम पर सुक्खा के पास भी सिर छिपाने के लिए सिर्फ ऐसा ही एक छप्पर है और इसी

छप्पर के नीचे वह सपत्नी रहता है।"[1] उपन्यासकार ने सहज सरल भाषा में ग्रामीण संपन्नता का वर्णन किया है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो संपन्नता और विपन्नता दोनों ही इस उपन्यास में वर्णित है। मिट्टी की सौगंध का भी उदाहरण दृष्टव्य है- "मदन सिंह जहाँ बैठा था। उसके दोनों ओर दो बंदूकधारी भी सिर पर पगड़ी बांधे खड़े थे। ठाकुर के सामने ही छोटे से स्टूल पर कमर में धोती बांधे एक नौकर ठाकुर के पैर दबा रहा था। बैठक का पूरा फर्श शानदार कालीन से सजा हुआ था। उसके साथ-साथ मेंज के एक कोने में पान की गिलौरियों से सजी तश्तरी भी रखी थी।"[2] प्रस्तुत अवतरण में जमींदार की हवेली का वैभव प्रस्तुत हुआ है, किन्तु निम्न अवतरण में वाक्य विन्यास की त्रुटियों को भी एक नजर देख ले- 'ठाकुर के सामने एक छोटे से स्टूल पर कमर में धोती बांधे एक नौकर ठाकुर के पैर दबा रहा था'। इस वाक्य में ठाकुर शब्द की पुनरावृत्ति व वाक्य में भाषा के गठन का अभाव दृष्टिगोचर है। यह वर्णन की सहजता और स्पष्टता में विघ्न डालता है। उपन्यास में इस तरह की खामियाँ पाठक का ध्यान भंग करती है। इन सबके बावजूद इस उपन्यास ने दलित साहित्य में अपनी विशेष पहचान बनाई है। इस उपन्यास पर हरिनारायण ठाकुर टिप्पणी करते हुए कहते हैं- "उपन्यास लेखक की पौढ़तम कृति है। इस में किस्सागोई, रोचकता, प्रवाह, जीवन यथार्थ आदि कथा साहित्य के सभी गुण मौजूद हैं।"[3] एक अन्य उदाहरण 'सुबह के लिए' उपन्यास का भी देख सकते हैं- "गाँव के लोग डाक्टरों पर कम, टोने टोटकों, साधू-महात्माओं पर अधिक विश्वास करते हैं, किसी ने कहा कि हंसपुर के पास एक गाँव में पीर की मजार है, वहाँ मन्नत माँगने से मांगी मुराद मिल जाती है। किसी ने अजमेंर का रास्ता दिखाया तो किसी ने वैष्णों देवी भेज दिया। गंडे ताबीज भी बंद गए, व्रत भी रख लिए। कई साधू-महात्माओं के यहां भी घूम आए,

---

[1] छप्पर - जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं. 09
[2] मिट्टी की सौगंध - प्रेम कपाडिया - पृ.सं. 11
[3] दलित साहित्य का समाजशास्त्र - हरिनारायण ठाकुर - पृ.सं. 496

लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ।"[1] इस तरह दलित उपन्यासों में वर्णनात्मक शैली का भी प्रयोग दिखाई देता हैं।

5.4.3 मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

दलित साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से पहले मनोविज्ञान क्या है इसको समझने का प्रयास करेंगे। सामान्य रूप से मन की अंतरिक मनः स्थिति, उसके मन में उठा द्वन्द किस रूप का है और उसके प्रश्न तथा समस्याएँ क्या है, इस मन संबंधी स्थितियों का अध्ययन करना ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। यहाँ हम मनोवैज्ञानिक विचारकों के मतों से इसे समझने का प्रयास करेंगे। सर्वप्रथम जेम्स डेबर के अनुसार "मनोविज्ञान वह शुद्ध विज्ञान है जो मानव तथा पशु के उस व्यवहार का अध्ययन करता है जिसे हम मस्तिष्क कहते हैं।"[2] सी उडवर्थ के अनुसार- "मनोविज्ञान वातावरण के अनुसार व्यक्ति के कार्यों का अध्ययन करनेवाला विज्ञान है।"[3]

डॉ. देवराज उपाध्याय के मत से- "पात्रों के भावों के उत्थान और पतन को तथा उसकी मानसिक प्रक्रिया को विस्तृत रूप से पाठकों के सामने रखना ही उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता कहलाती है।"[4] फ्रायड मन के तीन भाग करते हैं चेतन, अवचेतन तथा अर्धचेतन। जन्म से ही इसकी उपस्थिति मानते हैं। मन को मानव के समस्त क्रिया-कलापों मूल प्रेरक मानकर उसके समस्त व्यवहारों के कारण मन में निहित मानते हैं।दलित साहित्य विशेषज्ञों द्वारा दलित कथा साहित्य मनोवैज्ञानिकता के बारे में किसी तरह के सैद्धांतिक आधार के अभाव में स्थापित मनोवैज्ञानिकों की राय को आधार बनायेंगे।

यहाँ मनोवैज्ञानिकों के विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि व्यक्ति की मनोदशा तथा उसके वातावरण को देखते हुए आतंरिक व्यक्तित्व का अध्ययन करना

---

[1] सुबह के लिए - कैलासचंद चौहान - पृ.सं. 19
[2] यशपाल के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण - मधु जैन - पृ.सं. 18
[3] यशपाल के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण - मधु जैन - पृ.सं. 18
[4] आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान - डॉ. देवराज उपाध्याय - पृ.सं. 20

ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। निष्कर्षतः मनोवैज्ञानिकता का सीधा संबंध मस्तिष्क का अध्ययन है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिकता कथा साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। इस पक्ष में कथाकार अपने पात्रों की मनस्थिति की जितनी गहराई में उतरकर उपन्यास आदि कथा कृति में दर्ज करता है तथा पात्रों के मस्तिष्क में उठे द्वन्द्वों, क्रियाओं तथा समस्याओं को समझकर जितनी गंभीरता से चित्रण करता है, वह उतनी ही सार्थक रचना दे पाता है तथा यह द्वंद्व स्वयं पात्रों द्वारा कथाकारों के कथन से भी चित्रित होता है। इस प्रकार उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जिस रचना में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं होता है या फिर हलका-फुलका सतई रूप से चित्रित होता है तो उस रचना का पाठक और आलोचकों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। साथ ही इससे कथाकार के रचना कौशल और चिंतन की क्षमता के अभाव का भी पता चलता है। यहाँ कुछ दलित उपन्यासों को उदाहरण के रूप में देख सकते हैं। दलित उपन्यासों के गैर दलित खलनायकों की सामन्ती मानसिकता चित्रित हुई है। वे किसी भी तरह सामन्ती तंत्र और सामन्ती रौब कायम रखना चाहते हैं। 'मिट्ठी की सौगंध' उपन्यास का मदन सिंह अपने मन की बात अपने कारिंदों से इस प्रकार करता हैं- "मैं उस कमीनी चमारिन को ख़त्म कर देना चाहता हूँ। बात ख़त्म करते ही उसने अपनी जेब से रुपयों की गड्डी निकालकर उनकी ओर बढ़ा दी।"[1] इस कथन से मदन सिंह की मानसिकता को आसानी से समजा जा सकता है। इसी प्रकार जयप्रकाश कर्दम के छप्पर में काणा पण्डित अपनी व्यवस्था को और दलितों को यथास्थिति में रखने की मानसिकता तथा व्यवहार उभरकर सामने आया है। उदाहरण के लिए एक स्थान पर काणा पण्डित की यह चिंता इस प्रकार प्रकट हुई है- "सुन लिया ठाकुर साहब। यह आलम है इस लोगों के। एक तो अनर्थ करता है ऊपर से मुंह लड़ाने से बाज नहीं आता। अछूतोद्धार का नतीजा यह सब। और करों हरिजनों का उद्धार, और सिर चढ़ा लो इनको। अभी तो देखना हम सब के सिर पर मूतेंगे ये।"[2]

[1] मिट्ठी की सौगंध - प्रेम कपाडिया - पृ.सं. 101
[2] छप्पर - जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं. 38

इनके नायक तथा नायिकाएँ फ्रायड के मनोविज्ञान के अनुसार स्वाभाविक रूप से विषम लिंगियों के तरफ आकर्षित होते हैं। मिट्टी के सौगंध के विजेंद्र को छोड़कर छप्पर की रजनी सवर्ण समाज के नैतिक मूल्यों एवं मर्यादाओं और सिद्धांतों को तोड़कर अपने पिता की सामन्ती मानसिकता को बदलने का सफल प्रयास करती है। ये अंतरजातीय विवाह के बन्धनों में भी बनते हैं। इस तरह की मनोवैज्ञानिकता दलित उपन्यासों में दिखाई देती है।

5.4.4 दलित साहित्य में बिम्ब प्रतीक और मिथक

भाषा के आतंरिक कुछ ऐसे सौन्दर्यशास्त्रीय तत्व होते हैं जो संसार के सभी साहित्य में सामान रूप से पाए जाते हैं। ऐसे ही तत्वों में बिम्ब प्रतीक और मिथक है। ये लोककथा और जीवन के रोजमर्रे की भाषा में अनायास ही मिल जाते हैं। आम जीवन की भाषा भी इन सौन्दर्यशास्त्रीय तत्वों से उसी प्रकार आप्त-व्याप्त है, जिस प्रकार कोई अभिजात्य साहित्य। दलित साहित्य भी प्रतीक, बिम्ब और मिथक से अछूता नहीं है इसमें भी समाज की पीड़ा, बेबसी, उत्पीड़न और शोषण-दमन को चित्रित करने के लिए प्रतीकों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। किन्तु ध्यान देने की बात है कि दलित साहित्य के यहाँ अभिजन साहित्य के बिम्ब, प्रतीक और मिथक बिलकुल बदल जाते हैं। यहाँ एक दृश्य बिम्ब का उदाहरण 'मिटटी की सौगंध' उपन्यास में हम देख सकते हैं- 'कमरे में प्रवेश करते हुए उन सभी ने देखा था। एक बड़ा कमरा। जिसमें करीने से गृहस्थी की चीजें रखी हुई थी। फर्श पर चांदनी बिछी थी। दीवार के पास दो-तीन गाव तकिये रखे थे। अधिक उम्र की एक औरत के पास जवान वेश्या बैठी थी। अधिक उम्र की महिला के मुँह में पान था। जबकि कम उम्र की वेश्या शीशे के सामने बैठी हुई कंघी से अपने बाल काढ़ रही थी। नजदीक ही मटमैली चांदनी पर एक महिला लेटी हुई थी। उसके पास एक बच्चा लेटा हुआ था। दोनों ने उन सभी को देखा। साथ एक जवान लड़की भी थी। यह देख उनकी आखों में आश्चर्य के

भाव उभर आए थे।'[1] एक दूसरा उपन्यास 'झिपय्या' का भी देख सकते हैं- 'सुबह-सुबह अपने फटे पुराने बिस्तर पर जब झिपय्या की नींद खुली तब आसमान साफ़ था। झोपड़पट्टी के बीचोबीचवाली खाली जगह तो बिलकुल सुख गई थी। बारिश का कोई नामोनिशान तक नहीं था। झोपड़ी के निवासियों के प्रातःकालीन नित्यकर्म तो बहुत पहले से ही आरंभ हो गए थे। झिपय्या की माँ बड़े तडके उठकर चेंबूर लाइन पर पानी का लोटा लेकर गई होगी लेकिन लीला तो अभी भी कंबल पर चित्त लेटकर खुले मुंह मजे से खर्राटे ले रही थी।'[2] इस तरह हम दोनों उपन्यासों के दृश्य बिम्ब की तुलना करने के बाद, दूसरे उपन्यास का दृश्य बिम्ब बिल्कुल अभिजन साहित्य से अलग है। यहाँ दलित साहित्य में बिम्ब दलित जीवन की त्रासदी और उसके यथार्थ को व्यक्त करते हैं। आस-पास के परिवेश की गन्दगी सीलन भरे तंग मकानों में सिसकती जिंदगी दलित जीवन का यथार्थ है जो उनके जीवन का अविभाज्य घटक बन गए है। उन सभी को दृश्य बिम्ब के स्थान पर रखकर दलित साहित्यकार आपने जीवन के प्रतिबिम्ब ढूंढता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दलित साहित्य में पारम्पारिक बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में आयी दलित चेतना परिवर्तन की चिंता से भी चिंतित दिखाई देती हैं। दलित साहित्य में मिथकों में भी पर्याप्त नवीनता देखी जा सकती है। दलित साहित्य या तो बिल्कुल नए मिथकों को गढ़ा है या पुराने मिथकों को ही नई परिभाषा दे रहा है। अभिजात्य साहित्य के पुराने मिथक जहाँ परम्परावादी, आदर्शवादी और अतिशोक्तिपूर्ण है। वही दलित साहित्य में आकर वही मिथक यथार्थवादी और तर्क पूर्ण हो गए हैं। यद्यपि अभिजन साहित्य के नायकत्व को मार्क्सवादी साहित्य ने तोड़ दिया था, सर्वहारा का नायकत्व वहाँ प्रतिष्ठित हो चुका था किन्तु दलित और अछूतों का नायकत्व उससे भी छूट गया है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता लिखती है- "दलित साहित्य ने नए बिम्ब गढ़े पौराणिक मिथकों की परिभाषा बदल डाली। नए मिथक

[1] आज बाजार बंद है - मोहनदास नैमिशराय - पृ.सं.33

[2] झिपय्या - अरुण साधू - पृ.सं. 13

बनाए, गौरवान्वित झूठ और आस्था पर चोट की और चमत्कार को तोड़ा। अनुभवों की प्रामाणिकता से दलित साहित्य में नया तेवर उभरा जो सीधे मन को छूता है। विश्वसनीय हैं। यह वर्तमान साहित्य के लिजलिजेपन और बासीपन तथा एकरूपी, रसवादी प्रणाली से भिन्न है और चमत्कारी कल्पनाओं से बिलकुल अलग होता है। इसके दायरे में अंधविश्वास भाग्य पूर्वजन्म के कर्म, धर्म या भगवान नहीं आते। यह प्रत्यक्ष यथार्थ से मुक्त है जीवंत है। जुल्मों से झुझते हुए, मरते हुए और जीते हुए के बीच के, इर्द-गिर्द के स्त्री-पुरुषों को सामने लाता है।"[1]

दलित साहित्य में अछूत या समाज बहिष्कृत समझे जानीवाली मानव जातियाँ नायक बनकर आ रही हैं। यह नायकत्व अन्यथा नहीं है। यह समय और समाज के बदले मिजाज के अनुरूप है। दलित साहित्य में आकर तमाम पुराने मिथक घिसे-पिटे बनकर रह गए हैं। अभिजात्य साहित्य के मिथक, सामंती व्यवस्था या ब्राह्मण तंत्र की झूठी मर्यादा का ढोल पीटकर उसके आतंक और अत्याचार को ढंकने या महिमामंडित करने का प्रयास करते हैं, जब कि दलित साहित्य में आकर वही मिथक उलट जाते हैं। उसके ढकोसलो और झूठी मर्यादाओं का पर्दाफास करते हैं।

दलित साहित्य में प्रतीक किस रूप में आया यह देखना होगा इसके पहले प्रतीक क्या है यह देखेंगे। किसी वस्तु के संकेत चिन्ह या किसी अप्रस्तुत वस्तु की स्थापना करनेवाली वस्तु या व्यक्ति को प्रतीक कहते हैं। किसी वस्तु पात्र की मूर्त पहचान कराने की बजाय उसका प्रतिनिधित्व करानेवाली वस्तु प्रतीक है। जैसे डॉ.आम्बेडकर की प्रतिमा दलितों को उनके कार्यों के प्रति कृतज्ञता की प्रतीक है। अशोक की लाट में तीन सिंहों की आकृतियाँ भारत का राष्ट्रीय चिन्ह माना जाता हैं, जो भारत की शांति और शक्ति का प्रतीक है। प्रो. नित्यानंद तिवारी के शब्दों में- "प्रतीक प्रस्तुत वस्तु से अधिक और भिन्न किसी और बात का संकेत करता है।"[2]

[1] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - ओमप्रकाश वाल्मीकि - पृ.सं. 90
[2] साहित्य का स्वरूप - नित्यानंद तिवारी - पृ.सं.70

प्रतीकों के सही प्रयोग से उपन्यास की भाषा में प्रभाव उत्त्पन्न होता है। 'छप्पर' उपन्यास का शीर्षक अभावों का प्रतीक है। छप्पर दलितों की सामाजिक अवनती और अभावों का प्रतीक है। अन्य उपन्यास के शीर्षक प्रतीकात्मक तो नहीं हैं किन्तु भाषा प्रतीकात्मक अवश्य है। 'छप्पर' का ठाकुर हरनाम सिंह, 'मिट्टी की सौगंध' का मदन सिंह इत्यादि पात्र सामन्तवाद के प्रतीक है और सामन्त स्वयं क्रूरता, दमन और शोषण के प्रतीक रहे हैं। 'थमेंगा नहीं विद्रोह' का गाँव दरियापुर भी पूरे देश की उस सत्ता का प्रतीक है जिसमें वंचित लोगों को न्याय देने में रुचि नहीं ली और इनके राजनैतिक अधिकारों का प्रयोग बेरोकटोक खुद ही करते रहें। 'उधर के लोग' उपन्यास की पूरी की पूरी कहानी अभी अपरिचय के आगोश में ही है कि 'एक मक्खी न जाने कहाँ से बिना किसी पूर्व सूचना के वहाँ आ धमकती है' नायक बराबर उस मक्खी को भगाने और उससे ध्यान हटाने की कोशिश करता है पर वह जाने का नाम ही नहीं लेती और बराबर वही मंडराती हुई अंततः आयशा (कालगर्ल) द्वारा नायक से पूछे गए इस प्रश्न के साथ चाय के कप में गिर जाती है। "तुम कौन जात हो मास्टरजी"? यह अब तक का अपरिचित परन्तु ठेठ देशी स्वर था। कप के किनारे बैठी मक्खी एकाएक कप में गिर जाती है। इसके पश्चात यह मक्खियाँ उपन्यास में जब तक बिना किसी पूर्व सूचना के यूँ ही आती जाती रहती है। और उपन्यास के बहुत बड़े कलेवर पर कब्जा कर लेती है। यहाँ उपन्यासकार मक्खी को चाय में गिरना प्रतिकात्म रूप में प्रस्तुत करता है। प्रतीकों की तरह दलित साहित्य के बिम्ब भी दलित जीवन की त्रासदी और उसके जीवन यथार्थ को ही व्यंजित करते हैं। दलित बस्ती का अँधेरा परिवेश की गंधगी और सीलन भरे बंद कमरे तथा तंग मकानों में सिसकती जिंदगी दलित जीवन के यथार्थ है। इन्हीं दृश्य बिम्बों के माध्यम से दलित लेखक अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है। इसी प्रकार सूर्य प्रकाश, रोशनी, रात-दिन, ज्वालामुखी, समुद्र, तूफ़ान आदि दलित जीवन में आवेगपूर्व अनुभवों के बिम्ब हैं। दलितों की मुक्ति चेतना उनके साहित्य में राजनैतिक सामाजिक प्रपंचो को तार-तार कर दलितों की दूसरी आजादी के सपने बुनती हुई एक से बढ़कर एक बिम्बों का

सृजन करती है। अपने विद्रोही और आग के अनुभवों में लिपटते हुए बिम्ब उस आजादी के लिए हैं जिसमें करोड़ों दलित आज भी गुलाम हैं। मिथक प्रतीकों की मान्यता और आदर्शों से भिन्न एक नई भाषा का निर्माण हो रहा है जो अधिक मानवीय, अधिक उपयोगी और अधिक यथार्थपूर्ण है। दलित साहित्य की भाषा वेदना और विद्रोह की भाषा है। दलित साहित्यकारों ने वेदना, विद्रोह और आक्रोश के साथ-साथ मुक्ति और परिवर्तन की चेतना को भी अपनी रचनात्मक भाषा में उतारा है, जिसमें वैचारिक प्रतिबद्धता है, बदलाव की चेतना है। कुल मिलकर भाषाओं में विचारधाराओं का सृजन रचा बसा है।

उपसंहार

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के महापरिनिर्वाण के बाद मुख्यतः छटवें-सातवें दशक में मराठी दलित साहित्य का उदय हुआ। इसी समय 'दलित पैंथर' की भी स्थापना हुई। इस समय में उभरा दलित आन्दोलन तथा डॉ. अम्बेडकरी विचारधारा ने सबको प्रभावित किया, इसी की उत्प्रेरणा का नतीजा आज का दलित साहित्य है। हिंदी का दलित साहित्य अपना व्यापक स्वरूप ग्रहण कर रहा है, इतिहास में दलित साहित्य बीज रूप में विद्यमान था। उस बीज को दलित लेखकों, विचारकों और समाजसुधारकों ने अंकुरित किया। अब वह पल्लवित, पुष्पित रूप में हमारे सामने है। आज दलित साहित्य लिखा जा रहा है मराठी की तुलना में हिंदी में इसकी परम्परा काफी पुरानी है पर इसका स्वर कुछ दबा हुआ ही है।

हमने जिन दलित उपन्यासों को लेकर शोध कार्य किया उसके आधार पर यह कह सकते हैं कि आज के दलित साहित्य का लक्ष्य सामाजिक विसंगतियों, विषमताओं को जड़ से उखाड़ना है। आज वह संवेदनात्मक रचनाओं के द्वारा शोषित, उत्पीड़ित, अपमानित, तिरस्कृत, बेजुबान इंसान की जुबान बन गया है। ऐसे समाज को भयमुक्त, घुटन से दूर रखने का प्रयास कर रहा है। उसे स्वतंत्रतापूर्ण जिंदगी, जीने की प्रेरणा देने की कोशिश में जुटा है। उनके लोकतांत्रिक और मौलिक अधिकारों की रक्षा करना चाहता है। यह साहित्य दलित संस्कृति की पहचान कराता है। यह सच है साहित्य किसी पूर्वाग्रह, दुराग्रह से ऊपर होता है। अतः दलित साहित्य भी इससे अलग नहीं, वह भी अपने समाज में समानता शोषण का खात्मा तथा मानवता की रक्षा करना चाहता है। इसलिए यह विचारधारा महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक बनी है। दलित साहित्य सामाजिक क्रान्ति का साहित्य है, उसमें जोश, उन्माद नहीं बल्कि शोषण से मुक्ति की अपेक्षा है। हमें दलित साहित्य को कला की अपेक्षा अभिव्यक्ति, अनुभूति की दृष्टि से नापना होगा। श्रमजीवी लोगों की आंसू भरी कहानी दलित साहित्य है जो सामान्य आदमी की कहानी है। झुग्गी, झोपड़ी, गन्दी बस्ती, गाँव से

दूर, जीवन यापन करनेवालों की यह कहानी होने के कारण महत्त्वपूर्ण है, जिन्हें सदियों से बोलने नहीं दिया, गुलाम जैसा रहने के लिए मजबूर किया, आज वह मानव आपनी वेदना शब्दबद्ध कर रहा है।

हिंदी एवं मराठी दोनों भाषाओं के इन उपन्यासों का तुलनात्मक अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हुई है कि गरीबी और जातिवाद इन रचनाओं का केंद्रबिंदु रहा है और इन्हीं से मुक्ति इनका प्रमुख उद्देश्य रहा है। दलित समाज की अन्य समस्याएँ गरीबी और जातिवाद के कारण पैदा हुई हैं। इसलिए वह इसी के इर्द-गिर्द घूमती है। दलित नारियों का शोषण, दलितों के मान-सम्मान की हानि, शिक्षा की समस्या, परिवार की समस्या, बेगारी प्रथा, दलितों का शोषण आदि इन्हीं से जुडी हुई समस्याएँ हैं। इनके पास भूमि नहीं है इसलिए दूसरों के यहाँ कृषि मजदूरी करते हैं और यही उनका आर्थिक शोषण होता है। इनके पास शिक्षा नहीं है इसलिए वह रूढियों और अंधविश्वासों से जुड़े हुए हैं। कुछ शिक्षित हैं लेकिन वह बेरोजगार हैं क्योंकि उनके पास उन्नत गुणवत्तायुक्त और तकनीकी शिक्षा नहीं है। कहीं-कहीं जीविकोपार्जन की निर्भरता इनके शोषण की जड़ बन जाती है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो दोनों भाषाओं के उपन्यासों में दलितों का हर तरह का शोषण जातिवाद के नाम पर होता है। जाति के चलते शिक्षण संस्थाओं में इन्हें हतोउत्साहित किया जाता है। जाति के ही नाम पर उनका सामाजिक अपमान तथा इन्हें परम्पारगत पेशे में धकेला जाता है। ढेर सारी बुराईयों की जड़ जातिवाद ही है। इसलिए आरम्भ में जातिवाद का निर्माण गरीबी की कोख से ही हुआ होगा। आज गरीबी और जातिवाद एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिए आज इन दोनों को तुलनात्मक दृष्टि से देखना समय की जरूरत है।

भारत में जातिवाद एक ऐतिहासिक सच है, इससे इन्कार का मतलब है कि हम इस पर आधारित विकसित समाज और संस्कृति की प्रक्रिया को नकार रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप आज सम्पूर्ण भारतीय समाज जातियों में विभक्त है। एक

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं परम्परावादी समाज जाति के साथ-साथ वर्गीय आधार पर भी अपनी ब्राह्मणवादी चेतना का प्रचार-प्रसार करता रहा। परन्तु समाज को विभिन्न जातियों में बांटकर उनकी वर्गीय एकता को तोड़ता रहा है। आज की स्थिति में जब तक दलित-पिछड़े और अल्पसंख्यांक वर्ग की एकता कायम नहीं होगी तब तक ब्राह्मणवादी सामन्तवाद को ध्वस्त करना आसान नहीं होगा। यह तभी संभव हो सकता है, जब इसमें एकता की प्रक्रिया अपने सही मुकाम पर पहुँचेगी।

इस प्रकार हम दलित उपन्यासों में इन सारे तमाम प्रश्नों को देख सकते हैं जिसमें भूमि प्रश्न, मकान का प्रश्न, बेरोजगारी का प्रश्न, शिक्षा का प्रश्न, जातिवाद के चलते सामाजिक अपमान का प्रश्न आदि मुख्यतः उभरकर आए हैं और इन्हीं समस्याओं से मुक्त होने की चेतना दलित उपन्यासों का उद्देश्य है। ये ही वे भौतिक प्रश्न हैं जिनसे आज का दलित समाज जूझ रहा है। दलित समाज वर्तमान भौतिक परिस्थिति से मुक्ति चाहता है। दलित साहित्य और खास तौर से दलित उपन्यास इन्हीं प्रश्नों के हल के लिए लिखे गए हैं।

प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दलित साहित्य आन्दोलन आज के समय की जरूरत है क्योंकि असमानता हर क्षेत्र में व्याप्त है और आज समानता की जरूरत है अर्थात् जो विषमता गैर दलितों में व्याप्त है उनके हर क्षेत्र में समानता आनी ही चाहिए। कारवाँ मंजिल की ओर आगे बढ़ता रहा है, नए-नए लोग शामिल हो रहे हैं, अब मंजिल दूर नहीं है। आज दलित समाज का शिक्षित युवा चेतनशील बनकर सभी क्षेत्रों में स्थान प्राप्त कर रहा है। उसका समाज के प्रति दायित्व भी रहना अनिवार्य है। आज कई रचनाओं में अपनी जाति से हटा दलित युवा दिखाई दे रहा है। आरक्षण से लाभान्वित बने नेता बिरादरी को भूले हैं ऐसा भी चरित्र दिखाई दे रहा है। यह भी सच्चाई है कि कई उपन्यास ऐसे हैं जिसमें सिर्फ विद्रोह का नारा नहीं है बल्कि दलित समाज के बदलती मनोवृत्ति को भी उजागर किया गया है। यही यथार्थता और वास्तविकता है। बदलती समाज मनोवृत्ति को चित्रित करना साहित्यकारों का धर्म है

इसको निभाना बहुत जरूरी है। इस पर भी सोचना होगा, बदला परिवर्तित दलित-जीवन साहित्य में चित्रित हो रहा है यह नया है परन्तु महत्त्वपूर्ण आयाम लगता है। आलोचकों एवं समीक्षकों को भी इसकी ओर ध्यान देना बहुत जरूरी है। इस दृष्टि से इनकी अनिवार्यता है। नए दलित साहित्य पर विचार होना जरूरी है।

इन रचनाओं में कुछ विषय ऐसे हैं जिनको नकारवादी साहित्य, विद्रोही साहित्य, सौन्दर्यहीन साहित्य, उकसानेवाला साहित्य मानकर आलोचना करनेवालों की कमी नहीं। परन्तु यह सच है कि हर एक की अपनी-अपनी धारणा, सोच, मान्यता होती है, उसके अनुसार बातें होती हैं। ऐसी टिप्पणियों का भी होना आवश्यक है क्योंकि वह इतना तो स्वीकार कर रहे हैं कि जिसे व्यवस्था ने नकारा था, वह लिख रहा है- यह भी कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं। गलत सोच भी कुछ संकेत देती है ऐसा मैं मानता हूँ। आज दलित लेखकों ने कलम उठाई है, अम्बेडकर से प्रेरणा लेकर सक्रीय बने है, उनका सपना साकार करने का बीड़ा उठाया है जिसका प्रमाण दलित साहित्य है।

अध्ययन किए गए दलित उपन्यासों पर दृष्टिपात करें तो अभी उनमें कला की कमी तो है लेकिन उसमें भावनाओं की जो सच्चाई एवं अनुभव रूपी अंगारों की जो उष्णता है उसकी उपेक्षा करना एक बहुत बड़े समुदाय के आवाज की उपेक्षा करना है। एक बात स्पष्ट रूप से मैं यहाँ जोड़ना चाहता हूँ कि इस साहित्य को जाति विहीन दृष्टि से देखना होगा। किसी भी साहित्य को सौन्दर्यशास्त्र के आधार पर परखना उचित नहीं होगा। परम्परागत सौन्दर्यतत्व, शिल्प सौन्दर्य, भाव बोध, भाषा को प्रमाण न मानकर मानवता के लिए जो मानदंड हैं उसके आधार पर सोचना होगा तथा इसी दृष्टि से देखना होगा। भोगा हुआ यथार्थ, जिया हुआ जीवन, आत्म पीड़ा की दास्तान, मानवता की चीत्कार, विद्रोह की धार यह दलित साहित्य है। इसी कारण यह और भी महत्त्वपूर्ण बन रहा है और बनेगा।

तुलनात्मक विवेचन से यह बात स्पष्ट हुई है कि इन उपन्यासों में जातिभेद, अस्पृश्यता, अंधविश्वास और दलितों के पिछड़ेपन को चित्रित किया गया है। कुछ उपन्यासों की कथा कथित उच्च वर्गीय लोगों के हृदय परिवर्तन की कथा है। इस कथा का सार तत्त्व भी गैर दलित स्त्री का दलित युवक से प्रेम करना, अंत में विवाह कर लेने का समाधान दिया है। नायिका दलितों के हक्क में अपने सामंत पिता से रियायते दिलाने में सफल होती है। इस तरह कुछ दलित उपन्यासों में अंतरजातीय विवाह को दिखाया गया है। कुछ उपन्यासों के नायक दलित हैं और नायिकाएँ गैर दलित। उपन्यासकारों का यह दृष्टिकोण सामाजिक वस्तुस्थिति के अनुकूल है या नहीं इस पर पाठक को सोचना पड़ता है। इसके विपरीत कुछ नायिकाएँ दलित हैं तो नायक गैर दलित, जैसे 'मिट्ठी की सौगंध' तथा 'दुभंग' उपन्यास। इन संबंधों के घटित होने में जो नाटकीयता और संघर्ष उभरकर सामने आया है वह इन उपन्यासों को औपन्यासिकता के तत्वों की जीवन्तता प्रदान करता है। तिलस्मी, कलावादी और काल्पनिक उपन्यासों से अलग इन दलित उपन्यासों में समाज बहुत ही करीब से देखने को मिलता है। दलित निर्धन है इसलिए इन्हें गाँव के सामंतों पर निर्भर रहना पड़ता है। रात दिन उनकी बेगारी करनी पड़ती है। आज भी दलित गाँव के छोटे-बड़े सामंतों पर अपने जीवन निर्वाह के लिए निर्भर हैं। साथ ही कुछ दलित लोग शहरों में जाकर मजदूरी से अपना जीवन निर्वाह करते हैं। बेगारी करते समय रात-दिन सतत रूप से जूझते रहना उनके जीवन का हिस्सा बन गया है, संपत्ति हीनता, साधन हीनता ने जीवन में सदैव आर्थिक विवेचना को भर दिया है। गाँव की रखवाली करना या पहरा देना, सवर्णों के घरों में गाय-भैसों का गोबर साफ़ करना, उनकी फसलों को पानी देना, खेतों में बंधुआ मजदूरी के रूप में काम करना, गाँव-गाँव जाकर सवर्णों के घरों में होनेवाले विवाह और मौत की खबर पहुंचाना, इसे येस्कर (बेगारी) का काम माना जाता है, काम के बदले में रात के समय बची बांसी रोटी के टुकड़े उसे घर लाकर सभी में बांटकर खाना आदि काम करने पड़ते है। इस तरह हम मराठी तथा हिंदी दलित उपन्यासों में मिली जुली परिस्थितियों को देख सकते हैं।

उपन्यास में पात्रों के चरित्र चित्रण, रुचियाँ, अरुचियाँ, संस्कार अथवा घटनाओं के वर्णन पर कथा का पूरा प्रभाव टिका होता है। स्पष्टता, सहजता, स्वाभाविकता के साथ-साथ पाठक पर उतना ही अधिक प्रभाव छोड़ती है, जितनी उसमें वर्णनात्मकता, मार्मिकता, स्पष्टता और सहजता होती है। अधिसंख्य दलित उपन्यासों में वर्णन अधिक है। उपन्यासों में जयप्रकाश कर्दम का 'छप्पर', प्रेम कपाडिया का 'मिटटी की सौगंध' तथा मराठी के कुछ उपन्यासों में वर्णनात्मक शैली देखी जा सकती है, जैसे नामदेव ढसाल का 'हाडकी हाडवला', केशव मेंश्राम का 'हकीकत और जटायु' में आदि हैं। कर्दम जी के 'छप्पर' उपन्यास के घटनाक्रम से पात्रों के विकास की गति के वर्णन में तीव्रता आई। लेकिन पात्रों का चरित्र-चित्रण, वातावरण, परिस्थितियों के वर्णन में सहजता और स्वाभाविकता है।

'मिटठी की सौगंध' के पात्र विजेंद्र के चरित्र को अपवाद स्वरूप मानकर पूरे उपन्यास में देशकाल, विषय वस्तु, घटना, परिवेश का सामान्य वर्णन हुआ है। कुछ उपन्यासों के उदाहरण देखे जा सकते हैं; जैसे छप्पर में देखिए- "जो लोग दरिद्र हैं उनके पास रहने-सहने तथा एखाद पशु जो वह पालते हैं। उन सबके लिए कूल जमा मिट्ठी की दीवारों पर घांस-फुंस के छप्पर या झोपड़ियां हैं। इकछत्ती, दूछत्ती अधिक हुआ तो किसी के कच्चे कोठे पर बांस की खपच्ची या खपरैल की छत होती है या पशुओं के लिए झोपड़ी अलग। यही तक सीमित है। इसकी साधन संपन्नता। घर के नाम पर सुक्खा के पास भी सिर छिपाने के लिए सिर्फ ऐसा ही एक छप्पर है और इसी छप्पर के नीचे वह सपत्नी रहता है।" उपन्यासकार ने सहज सरल भाषा में ग्रामीण संपन्नता का वर्णन किया है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो संपन्नता और विपन्नता दोनों ही इस उपन्यास में वर्णित है।

'मिट्टी की सौगंध' का भी उदहारण दृष्टव्य है- "मदन सिंह जहाँ बैठा था। उसके दोनों ओर दो बंदूकधारी भी सिर पर पगड़ी बांधे खड़े थे। ठाकुर के सामने ही छोटे से स्टूल पर कमर में धोती बांधे एक नौकर ठाकुर के पैर दबा रहा था। बैठक का पूरा फर्श शानदार कालीन से सजा हुआ था। उसके साथ-साथ मेज के एक कोने में पान की गिलौरियों से सजी तश्तरी भी रखी थी।" प्रस्तुत अवतरण में जमींदार की हवेली का वैभव प्रस्तुत हुआ है, किन्तु निम्न अवतरण में वाक्य विन्यास की त्रुटियों को भी एक नजर देख ले- 'ठाकुर के सामने एक छोटे से स्टूल पर कमर में धोती बांधे एक नौकर ठाकुर के पैर दबा रहा था'। इस वाक्य में ठाकुर शब्द की पुनरावृत्ति व वाक्य में भाषा के गठन का अभाव दृष्टिगोचर है। यह वर्णन की सहजता और स्पष्टता में बाधा डालता है। उपन्यास में इस तरह की खामियाँ पाठक का ध्यान भंग करती है। इन सबके बावजूद इस उपन्यास ने दलित साहित्य में अपनी विशेष पहचान बनाई है। इस उपन्यास पर हरिनारायण ठाकुर टिप्पणी करते हुए कहते हैं- "उपन्यास लेखक की पौढ़तम कृति है। इस में किस्सागोई, रोचकता, प्रवाह, जीवन यथार्थ आदि कथा साहित्य के सभी गुण मौजूद है।" एक अन्य उदाहरण 'सुबह के लिए' उपन्यास का भी देख सकते हैं- "गाँव के लोग डाक्टरों पर कम टोने-टोटकों, साधू-महात्माओं पर अधिक विश्वास करते हैं, किसी ने कहा कि हंसपुर के पास एक गाँव में पीर की मजार है, वहां मन्नत माँगने से मांगी मुराद मिल जाती है। किसी ने अजमेर का रास्ता दिखाया तो किसी ने वैष्णों देवी भेज दिया। गंडे तबीज भी बंद गए, वृत भी रख लिए। कई साधू-महात्माओं के यहां भी घूम आए, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ"। इस तरह दलित उपन्यासों में वर्णनात्मक शैली का भी प्रयोग दिखाई देता है।

मनोवैज्ञानिकता कथा साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। इस पक्ष में कथाकार अपने पात्रों की मनस्थिति की जितनी गहराई में उतरकर उपन्यास आदि कथा कृति में दर्ज करता है तथा पात्रों के मस्तिष्क में उठे द्वन्द्वों, क्रियाओं तथा समस्याओं को समझकर जितनी गंभीरता से चित्रण करता है, वह उतनी ही सार्थक रचना दे पाता है तथा यह द्वंद्व स्वयं पात्रों द्वारा कथाकारों के कथन से भी चित्रित होता है। इस प्रकार उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जिस रचना में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं होता है या फिर हलका-फुलका सतई रूप से चित्रित होता है तो उस रचना का पाठक और आलोचकों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। साथ ही इससे कथाकार के रचना कौशल और चिंतन की क्षमता के अभाव का भी पता चलता है। यहाँ कुछ दलित उपन्यासों को उदाहरण के रूप में देख सकते हैं, जिसमें गैर दलित खलनायकों की सामन्ती मानसिकता चित्रित हुई है। वे किसी भी तरह सामन्ती तंत्र और सामन्ती रौब कायम रखना चाहते हैं। 'मिट्टी की सौगंध' उपन्यास का मदन सिंह अपने मन की बात कारिंदों से इस प्रकार करता है- "मैं उस कमीनी चमारिन को ख़त्म कर देना चाहता हूँ। बात ख़त्म करते ही उसने अपनी जेब से रुपयों की गड्डी निकालकर उनकी ओर बढ़ा दी"। इस कथन से मदन सिंह की मानसिकता को आसानी से समझा जा सकता है। इसी प्रकार जयप्रकाश कर्दम के छप्पर में काणा पण्डित अपनी व्यवस्था को और दलितों को यथास्थिति में रखने की मानसिकता तथा व्यवहार उभरकर सामने आया है। उदहारण के लिए एक स्थान पर काणा पण्डित की यह चिंता इस प्रकार प्रकट हुई है- "सुन लिया ठाकुर साहब। यह आलम है इन लोगों के। एक तो अनर्थ करता है ऊपर से मुंह लड़ाने से बाज नहीं आता। अछूतोद्धार का नतीजा यह सब। और करों हरिजनों का उद्धार, और सिर चढ़ा लो इनको। अभी तो देखना हम सब के सिर पर मूतेंगे ये"। इनके नायक तथा नायिकाएँ फ्रायड के मनोविज्ञान के अनुसार स्वाभाविक रूप से विषम लिंगियों के तरफ आकर्षित होते हैं। 'मिट्टी के सौगंध' के विजेंद्र को छोड़कर 'छप्पर' की रजनी सवर्ण समाज के नैतिक मूल्यों, मर्यादा और सिद्धांतों को तोड़कर अपने पिता की सामन्ती मानसिकता को

बदलने का सफल प्रयास करती है। ये अंतरजातीय विवाह के बन्धनों में भी बनती है। इस तरह मनोवैज्ञानिकता दलित उपन्यासों में दिखाई देती है।

दलित साहित्य के मिथकों में भी पर्याप्त नवीनता देखी जा सकती है। दलित साहित्य या तो बिल्कुल नए मिथकों को गढ़ता है या पुराने मिथकों को ही नई परिभाषा दे रहा है। अभिजात्य साहित्य के पुराने मिथक जहाँ परम्परावादी, आदर्शवादी और अतिशोक्तिपूर्ण है। वही दलित साहित्य में आकर वही मिथक यथार्थवादी और तर्क पूर्ण हो गए हैं। यद्यपि अभिजन साहित्य के नायकत्व को मार्क्सवादी साहित्य ने तोड़ दिया था, सर्वहारा का नायकत्व वहाँ प्रतिष्ठित हो चुका था किन्तु दलित और अछूतों का नायकत्व उससे भी छूट गया है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता लिखती हैं- “दलित साहित्य ने नए बिम्ब गढ़े पौराणिक मिथकों की परिभाषा बदल डाली। नए मिथक बनाए, गौरवान्वित झूठ और आस्था पर चोट की और चमत्कार को तोड़ा। अनुभवों की प्रामाणिकता से दलित साहित्य में नया तेवर उभरा जो सीधे मन को छूता है। विश्वसनीय है। यह वर्तमान साहित्य के लिजलिजेपन और बासीपन तथा एकरूपी, रसवादी प्रणाली से भिन्न है और चमत्कारी कल्पनाओं से बिलकुल अलग होता है। इसके दायरे में अंधविश्वास भाग्य पूर्वजन्म के कर्म, धर्म या भगवान नहीं आते। यह प्रत्यक्ष यथार्थ से मुक्त है जीवंत है। जुल्मों से झूझते हुए, मरते हुए और जीते हुए के बीच के, इर्द-गिर्द के स्त्री-पुरुषों को सामने लाता है।”

दलित साहित्य में अछूत या समाज बहिष्कृत समझे जानीवाली मानव जातियाँ नायक बनकर आ रही हैं। यह नायकत्व अन्यथा नहीं है। यह समय और समाज के बदले मिजाज के अनुरूप है। दलित साहित्य में आकर तमाम पुराने मिथक घिसे-पिटे बनकर रह गए हैं। अभिजात्य साहित्य के मिथक, सामंती व्यवस्था या ब्राह्मण तंत्र की झूठी मर्यादा का ढोल पीटकर उसके आतंक और अत्याचार को ढंकने या महिमामंडित करने का प्रयास करते हैं, जब कि दलित साहित्य में आकर वही मिथक उलट जाते हैं। उसके ढकोसलों और झूठी मर्यादाओं का पर्दाफास करते हैं।

दोनों भाषाओं के उपन्यासों में जिन समस्याओं को हमने उजागर किया है उनमें ज्यादातर समानता ही दिखाई देती है विषमता के पुट कहीं-कहीं मिलते हैं इनको सविस्तर रूप से हमने अपने अध्याय में प्रस्तुत किया है। अन्तता हम इतना ही कह सकते हैं कि यहाँ पर हिंदी और मराठी दलित उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास मात्र किया गया।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

(अ)आधार ग्रंथ

1 हिंदी उपन्यास

क्र.	पुस्तक	लेखक /संपादक	प्रकाशन	वर्ष
1	आज बाजार बंद है	मोहनदास नैमिशराय	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2004
2	उधर के लोग	अजय नावरिया	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2008
3	करुणा	जयप्रकाश कर्दम	कंचन प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2009
4	छप्पर	जयप्रकाश कर्दम	राहुल प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2007
5	जस तस भय सवेर	सत्य प्रकाश	सागर प्रकाशन, दिल्ली	द्वि.सं. 2010
6	थमेगा नहीं विद्रोह	उमराव सिंह जाटव	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2008
7	मिट्टी की सौगंध	प्रेम कपाडिया	भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली	प्र.सं. 1995
8	मिस रमिया	कावेरी	आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद	प्र.सं. 2007
9	मुक्ति पर्व	मोहनदास नैमिशराय	अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2011
10	सुबह के लिए	कैलाश चंद चौहान	आरोही प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2011

2 . मराठी उपन्यास

1	झिपय्या	अरुण साधू	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 1998
2	दुभंग	लक्ष्मण गायकवाड	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2005

3	नरवानर	शरणकुमार लिम्बाले	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2005
4	फकीरा	अन्नाभाऊ साठे	गुलाबराव मारोतिराव सुरेश एजेन्सी, पुणे	तिसावा स.2011
5	हकीकत और जटायु	केशव मेश्राम	प्रकाश विश्वासराव लोकवाड्.मय गृह, मुंबई	तृतीय सं. 2002
6	हाडकी हाडवला	नामदेव ढसाल	शब्द पब्लिकेशन, मुंबई	तृतीय सं. 2010
7	हिन्दू	शरणकुमार लिम्बाले	वाणी प्रकाशन नई दिल्ली	प्र.सं. 2004

(आ) सहायक ग्रंथ

1	आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान	डॉ. देवराज उपाध्याय	साहित्य भवन, इलाहाबाद	प्र.सं. 1956
2	आधुनिकता के आयने में दलित	सं. अभय कुमार दुबे	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	दू.सं. 2005
3	आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श	देवेंद्र चौबे	ओरियंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली	प्र.सं. 2009
4	इक्कीसवीं सदी का दलित आन्दोलन साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार	सं. वीरेंद्र सिंह यादव	राधाकृष्ण पब्लिकेशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2010
5	औरत अस्मिता और अपराध	डॉ. निशांत सिंह	सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2002
6	और बाबासाहब अंबेडकर ने कहा	एल. जी. मेश्राम, विमलकीर्ति	राधाकृष्ण पब्लिकेशन, दिल्ली	प्र.सं. 2008
7	अंबेडकरवादी विचारधारा और समाज	डॉ. सं. तेज सिंह	स्वराज प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2008
8	कम्यूनिष्ट घोषणापत्र	कार्ल मार्क्स	पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, प्रा. लि.	प्र.सं. 2008

			दिल्ली	
9	कविता के नए प्रतिमान	नामवर सिंह	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	सातवी आ. 2007
10	ग्रामीण दलित साहित्य: चळवळ आणि समीक्षा	प्रा. डॉ. मधुकर गणेश मोकाशी	स्नेहवर्धन प्रकाशन पुणे	प्र.सं. 2005
11	छत्रपति शाहूजी महाराज- सामाजिक लोकतंत्र के भीमस्तंम्भ	डॉ. विजय कुमार त्रिशरण	गौतम बुक सेंटर, दिल्ली	प्र.सं. 2009
12	दलित दृष्टि	गेल ओमवेट अनु. रमणिका गुप्ता एवं अकील कैस	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2011
13	दलित साहित्य में प्रमुख विधाएँ	संकलन- माता प्रसाद	आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद	प्र.सं. 2009
14	दलितों का इतिहास	डॉ. मुकेश भूषण	राधा कृष्ण पब्लिकेशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2010
15	दलित राजनीति की समस्याएँ	सं. राजकिशोर	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2012
16	दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र	शरणकुमार लिम्बाले अनु.रमणिका गुप्ता	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	द्वि.सं. 2005
17	दलित अभिव्यक्ति संवाद और प्रतिवाद-डॉ. जयप्रकाश कर्दम	सं. रूप चंद गौतम	श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली	प्र.स. 2007
18	दलित लेखन के अन्तर्विरोध	सं. डॉ. रामकली सर्राफ	शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2009
19	दलित पत्रकारिता भाग-1	मोहनदास नैमिशराय	श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2008
20	दलित साहित्य : विचार अणि वैभव	डॉ. अनिल गजभिये	श्री अहिल्या प्रकाशन, इंदौर	प्र.सं. 1991

21	दलित साहित्य : उगम आणि विकास	डॉ. अविनाश सांगोलेकर	अरुण पारगावकर प्रतिमा प्रकाशन, पुणे	प्र.सं. 2010
22	दलित साहित्य स्वरूप और संवेदना	सूर्यनारायण रणसुभे	अमित प्रकाशन, गाजियाबाद	प्र.सं. 2009
23	दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र	ओमप्रकाश वाल्मीकि	राधाकृष्ण पब्लिकेशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2001
24	दलित दखल	डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन डॉ.रजत रानी मीनू	आकाश प्रकाशन, गाजियाबाद	प्र.सं. 2011
25	दलित दर्शन	सं.रमणिका गुप्ता, ज्ञान सिंह बल	नेहा प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2009
26	दलित विमर्श के विविध आयाम	डॉ. वीरेंद्र सिंह यादव	राधाकृष्ण, पब्लिकेशन, नई दिल्ली	प्र.सं. 2010
27	दी चमार्स	जी. डब्लू. ब्रिग्गस अनु.जयप्रकाश कर्दम	समता प्रकाशन, दिल्ली	हिंदी सं. 1998
28	मराठी ग्रामीण कादंबरी	रविन्द्र नारायण ठाकुर	मेहता पब्लिशिंग हाउस, पुणे	प्र.सं. 1993
29	मेरा दलित चिंतन	एन. सिंह	कंचन प्रकाशन, दिल्ली	प्र.स. 2002
30	प्रतिरोध की बहुजन संस्कृति	डॉ. तेज सिंह	बुक्स इंडिया, दिल्ली	प्र.सं. 2011
31	बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर संपूर्ण वाड्.मय	डॉ. भीमराव रामजी अंबेडकर	सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली	सातवा सं. 2013
32	भाषा और समाज	रामविलास शर्मा	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2002
33	समाजवादी अंबेडकर	कँवल भारती	स्वराज प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2009
34	समकालीन कथा साहित्य : सरहदे व सरोकार	रोहिणी अग्रवाल	आधार प्रकाशन, पंचकूला	प्र.सं. 2007

35	समकालीन कहानी का समाजशास्त्र	देवेन्द्र चौबे	प्रकाशन संस्थान दिल्ली	प्र.सं. 2001
36	सामाजिक परिवर्तन की दिशाएँ	जनार्दन वाघमारे अनु.सूर्यनारायण रणसुभे	विनायक प्रकाशन, कानपुर	प्र.सं. 1999
37	सामाजिक समस्याएँ और उसके समाधान	डॉ. महेंद्र कुमार मिश्रा	न्यू कैंसैप्ट्स पब्लिशर्स, दिल्ली	प्र.सं. 2012
38	साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका	मैनेजर पाण्डेय	हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़ पंचकूला	प्र.सं. 1989
39	साहित्य का स्वरूप	नित्यानंद तिवारी	राष्ट्रीय अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, दिल्ली	प्र.सं. 1998
40	संरचना और उत्तर संरचनावाद	सुधीश पचौरी	हिमालय पुस्तक भण्डार, दिल्ली	प्र.सं. 1994
41	स्त्रियों की पराधीनता	जार्ज स्टुअर्ट मिल	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	ती.आ. 2013
42	हिन्दी दलित साहित्य	मोहनदास नैमिशराय	साहित्य अकादेमी, दिल्ली	प्र.सं. 2011
43	हिंदी दलित साहित्य और चिंतन	डॉ. ललिता कौशल	साहित्य संस्थान, गाजियाबाद	प्र.सं. 2011

(इ) पत्र-पत्रिकाएँ

क्र.	पत्रिका	संपादक	प्रकाशन	वर्ष
1	अपेक्षा- अंक जनवरी-जून 2010, जुलाई- दिसंबर 2012, जनवरी-मार्च 2013	तेज सिंह	फ़ाईन आफसेट प्रेस, दिल्ली	2010 2012 2013
2	आस्मितादर्श - वर्ष 46, अंक -3	डॉ. गंगाधर पानतावणे	श्रावस्ती प्रकाशन, औरंगाबाद	2013
3	कथादेश- वर्ष 25 अंक1	हरिनारायण	सहयात्रा प्रकाशन, दिल्ली	मार्च 2005
4	दलित अस्मिता-वर्ष-3, अंक -11	विमल थोरात	इंडियन इंस्टीटयूट आफ दलित	अप्रेल,जून 2013

			स्ट्डीज, नई दिल्ली	
5	हंस - वर्ष 19, अंक-1	राजेन्द्र यादव	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली	अगस्त 2004